



उपदेश प्रासाद

संपादक : आचार्य श्री जयानंदसूरीश्वरजी म.सा.



॥ श्री महावीर स्वामिने नमः ॥

॥ प्रभु श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ॥

उपदेश प्रज्ञाद

भाग - १

दिव्याशीष

आचार्यदेव श्री विद्याचंद्रसूरीश्वरजी
मुनिराज श्री रामचंद्रविजयजी

संपादक

आचार्य श्री जयानन्दसूरीश्वरजी म.सा.

प्रकाशक

गुरुश्री रामचंद्र प्रकाशन समिति - भीनमाल

मुख्य संरक्षक

(१) श्री संभवनाथ राजेन्द्रसूरिश्वरे. ट्रस्ट कंदुलावारी
स्ट्रीट, विजयवाडा.

(२) मुनिराज श्री जयानंद विजयजी आदि ठाणा की निश्रा में
वि. २०६५में शत्रुंजय तीर्थे चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते

लेहट कुंदन गूप्

मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा,

श्रीमती गेरीदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार मेंगलवा.

(३) एक सद्गृहस्थ - भीनमाल

(४) संघवी उत्तमकुमार, सन्तोषदेवी, कुणाल, मेघा बेटा-पोता
रीखबचंदजी ताराजी नागोत्रा सोलंकी परिवार, बाकरा-राजस्थान.

R.T. SHAH & Co.

१, सांबयार स्ट्रीट, जार्ज टाऊन-चेन्नई-६०० ००१

प्राप्तिस्थान :

श्री गुरु रामचंद्र प्रकाशन समिति

C/o. शा. देवीचंद छगनलालजी

सुमति दर्शन, नहेरु पार्क के सामने,
माघ कोलोनी, भीनमाल-३४३ ०२९ (राज.).

फोन : (०२९६९) २३० ३८७

श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढ़ी

साँथु-३४३ ०२६, जिला : जालोर (राज.)

फोन : (०२९७३) २५४ २२१

श्री विमलनाथ जैन पेढ़ी

बाकरा गाम-३४३ ०२५ (राज.)

फोन : (०२९७३) २५१ १२२,

मो. ९४१३४६५०६८

महाविदेह भीनमाल धाम

तलेटी हस्तगिरि लिंक रोड,

पालिताणा-३६४ २७०.

फोन : (०२८४८) २४३ ०१८

श्री तीर्थेन्द्रसूरि स्मारक संघ ट्रस्ट

तीर्थेन्द्रनगर, बाकरा रोड-३४३ ०२५.

जिला : जालोर (राज.)

फोन : (०२९७३) २५१ १४४.

श्री सीमंधर जिन राजेन्द्रसूरि

गुरु मंदिर

शंखेश्वर तीर्थ मंदिर के पास, शंखेश्वर.

जि. महेसाणा

मुद्रक : भरत ग्राफिक्स, न्युमार्केट, पांजरापोळ, रिलीफ रोड, अमदावाद-१.

फोन : 079-22134176, मो.9925020106

E-mail : bharatgraphics1@gmail.com

● संरक्षक ●

- (१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
के. एस. नाहर, २०१ सुमेर टॉवर, लव लेन, मझगांव, मुंबई-१०.
- (२) मीलियन ग्रुप, सूरणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.
- (३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन : २३८०१०८६.
- (४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना-३६४२७०.
- (५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरु ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.
- (६) अति आदरणीय वडील श्री नाथालाल तथा पू. पिताजी चीमनलाल, गगलदास, शांतिलाल तथा मोघीबेन अमृतलाल के आत्मश्रेयार्थे चि. निलांग के वरसीतप, प्रपौत्री भव्या के अड्डाई वरसीतप अनुमोदनार्थ दोशी वीजुबेन चीमनलाल डायलाल परिवार, अमृतलाल चीमनलाल दोशी पांचशो दोरा परिवार, थराद-मुंबई.
- (७) शत्रुंजय तीर्थ नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेश बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मंगलवा, फर्म -अरिहन्त नोवेल्हटी, GF-3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुर टंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद अेन्ड कं., तिरुचिरापली.
- (८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलखभाई परिवार.
- (९) शा कांतिलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते.
- (१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा जेठमलजी कुंदनमलजी मंगलवा (जालोर)
- (११) २०६३ में गुडा में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश, केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र त्वर परिवार गुडाबालोतान् जयचिंतामणि १०-५४३ संतापेट नेल्लूर-५२४००१ (आ.प्र.)
- (१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थ पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी

गुडाबालोतान् 'नाकोडा गोल्ड' ७०, कंसारा चाल, बीजामाले, रूम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई-२

- (१३) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेरामलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के. वी. एस. कोम्प्लेक्स, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्दूर (आ.प्र.)
- (१४) एक सदगृहस्थ, धाणसा.
- (१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार, निखीलकुमार, बेटा पोता परपोता शा छगनराजजी पेमाजी कोठारी, आहोर, अमेरिका : ४३४१, स्कैलेण्ड ड्रीव अटलान्टा जॉर्जिया U.S.A.-३०३४२. फोन : ४०४-४३२-३०८६/६७८-५२१-११५०
- (१६) शांतिरूपचंद रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता जालोर, बेंगलोर.
- (१७) वि.सं.२०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मितुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी.
- (१८) बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोडा स्टेट, न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई-३.
- (१९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता भूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्रा मार्केटींग, विजयवाडा.
- (२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४-रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.
- (२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी आहोर, जे. जी. इम्पेक्स प्रा.लि. - ५५ नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९.
- (२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)
- (२३) मुनिश्री जयानंद विजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थ २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आरधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से सवंत २०६५.

- (२४) मातुश्री मोहनीदेवी, पिताश्री सांवलचंदजी की पुण्यस्मृति में शा पारसमल सुरेशकुमार, दिनेशकुमार, कैलाशकुमार, जयंतकुमार, बिलेश, श्रीकेष, दीक्षित, प्रीष कबीर, बेटा पोता सोवलचंदजी कुंदनमलजी मेंगलवा, फर्म : Fyros Kundan Group ३५ पेरुमल मुदली स्ट्रीट, साहुकार पेट, चेन्नई-१. Mengalwa, Chennai, Delhi, Mumbai.
- (२५) शा सुमेरमलजी नरसाजी -मेंगलवा, चेन्नई.
- (२६) शा दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२
- (२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्राबाद.
- (२८) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रीकेश, यश, मीत, बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेट, गुन्दूर-२.
- (२९) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्दूर.
- (३०) एक सदगृहस्थ (खाचरौद)
- (३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, 11-X-2-Kashi, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-७९.
- (३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंडरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा. पी.टी. जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सीवींग, गोरेगांव (वे.), मुंबई-६२.
- (३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाडा, दिल्ली. जुगराज ओटमलजी, ए ३०१/३०२, वास्तुपार्क, मलाड (वेस्ट), मुंबई-६४
- (३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्ट्स लिमिटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुंबई, मोघरा निवासी.
- (३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में

चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, हितिक, आहोर. कोठारी मार्केटींग, १०/११ चितुरी कॉम्पलेक्ष, विजयवाडा.

- (३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटापोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी धाणसा. अलका स्टील ८५७ भवानी पेठ, पूना-२.
- (३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में संवत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे-बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेरारामलजी रतनपुरा वोहरा परिवार-मोघरा (राजस्थान)
- (३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में संवत २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते शांतीलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार, विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परीवार-आहोर.
- (३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल गणपतराज राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण. संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-६०० ०७९.
- (४०) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन. राजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली-६२७ ००१.
- (४१) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दासपा, मुंबई.
- (४२) शा भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेशकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला भीनमाल, एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स-२०, सम्बीयार स्ट्रीट, चेन्नई-६०००७९.
- (४३) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्डूर-२.
- (४४) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेश, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.) - फूलचंद भंवरलाल, १८० गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई-१
- (४५) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर-५३.

- (४६) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार, थराद.
- (४७) श्रीमती मंजुलादेवी भोगीलाल वेलचन्द संघवी धानेरा निवासी. फेन्सी डायमण्ड, ११ श्रीजी आर्केड, प्रसाद चेम्बर्स के पीछे, टाटा रोड नं. १-२, ऑपेरा हाऊस, मुंबई-४.
- (४८) शा शांतिलाल उजमचंद देसाई परिवार, थराद, मुंबई. विनोदभाई, धीरजभाई, सेवन्तीभाई.
- (४९) बंदा मुथा शांतिलाल, ललितकुमार, धर्मेश, मितेश, बेटा पोता मेघराजजी फुसाजी ४३, आइदाप्पा नायकन स्ट्रीट, साहुकार पेट, धाणसा हाल चेन्नई-७९.
- (५०) श्रीमती बदामीदेवी दीपचंदजी गेनाजी मांडवला चेन्नई निवासी के प्रथम उपधान तप निमित्ते. हस्ते परिवार.
- (५१) श्री आहोर से आबू-देलवाडा तीर्थ का छरि पालित संघ निमित्ते एवं सुपुत्र महेन्द्रकुमार की स्मृति में संघवी मुथा मेघराज, कैलाशकुमार, राजेशकुमार, प्रकाशकुमार, दिनेशकुमार, कुमारपाल, करण, शुभम, मिलन, मेहुल, मानव, बेटा पोता सुगलचंदजी लालचंदजी लूंकड परिवार आहोर. मैसुर पेपर सप्लायर्स, ५, श्रीनाथ बिल्डींग, सुल्तान पेट सर्कल, बेग्लोर-५३.
- (५२) एक सदगृहस्थ बाकरा (राज.)
- (५३) माइनोक्स मेटल प्रा. लि., (सायला), नं. ७, पी. सी. लेन, एस. पी. रोड क्रॉस, बेग्लोर-२, मुंबई, चेन्नई, अहमदाबाद.
- (५४) श्रीमती प्यारीबाई भेरमलजी जेठाजी श्रीश्रीश्रीमाल अग्नि गौत्र, गांव-सरत.
- (५५) स्व. पिताश्री हिराचंदजी, स्व. मातुश्री कुसुमबाई, स्व. जेष्ठ भ्राताश्री पृथ्वीराजजी, श्री तेजराजजी आत्मश्रेयार्थ मुथा चुन्निलाल, चन्द्रकुमार, किशोरकुमार, पारसमल, प्रकाशकुमार, जितेन्द्रकुमार, दिनेशकुमार, विकाशकुमार, कमलेश, राकेश, सन्नि, आशिष, नीलेश, अंकुश, पुनीत, अभिषेक, मोन्दु, नितिन, आतिश, निल, महावीर, जैनम, परम, तनमै, प्रनै, बेटा पोता, प्रपोता लडपोता हिराचंदजी, चमनाजी, दांतेवाडिया परिवार, मरुधर में आहोर (राज.). फर्म : हीरा नोवेल्टीस, फ्लॉवर स्ट्रीट, बल्लारी.
- (५६) मुमुक्षु दिनेशभाई हालचंद अदानी की दीक्षा के समय आई हुई राशी में से हस्ते हालचंदभाई वीरचंदभाई परिवार थराद, सुरत.
- (५७) श्रीमती सुआबाई ताराचंदजी वाणी गोता बागोड़ा. बी. ताराचंद अण्ड कंपनी, ए-१८, भारतनगर, ग्रान्ट रोड, मुंबई-४०० ००७.
- (५८) २०६९ में मु. जयानंद वि. की निश्रा में श्री बदामीबाई तेजराजजी आहोर, इन्द्रादेवी रमेशकुमारजी गुडा बालोतान एवं मूलीबाई पूनमचंदजी साँधू तीनों ने

पृथक्-पृथक् नव्याणु यात्रा करवायी, उस समय आयोजक एवं आराधकों की और से उद्यापन की राशी में से पालीताना.

- (५९) शा जुगराज फूलचंदजी एवं सौ. कमलादेवी जुगराजजी श्रीश्रीश्रीमाल चन्द्रावण गोता के जीवित महोत्सव पद्मावती सुनाने के प्रसंग पर - कीर्तिकुमार, महेन्द्रकुमार, निरंजनकुमार, विनोदकुमार, अमीत, कल्पेश, परेश, मेहुल वेश आहोर. महावीर पेपर अण्ड जनरल स्टोर्स, २२-२-६, क्लोथ बाजार, गुन्दुर.
- (६०) शा जुगराज, छानलाल, भंवरलाल, दसगचंद, धेवरचंद, धाणसा. मातुश्री सुखीबाई मिश्रीमलजी सालेचा. फर्म : श्री राजेन्द्रा होजीयरी सेन्टर, मामुल पेट, बेंगलोर-५३.
- (६१) श्री तीर्थेन्द्रनगर तीर्थे २०७० वर्षे श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध उपधान तप आराधना निमित्ते संघवी श्रीमती पातीदेवी भारतमलजी भगाजी वेद मुथा सुपुत्र मांगीलाल, गणपतचंद, रमेशकुमार, कैलाशकुमार, सुपौत्र ललित, मुकेश, निर्मळ, दिनेश, प्रवीण, राजेश, संजय, अरविंद, विक्रम, युवराज, जितेश, परिवार रेवतडा- बेंगलोर, फर्म : शा. सुमेरमल मांगीलाल, मामुलपेट, बेंगलोर-५६० ०५३.
- (६२) स्व. सुमटीबाई धेवरचंदजी शेषमलजी श्रीश्रीश्रीमाल चन्द्रावण गौत्र के स्व द्रव्य से पारणा मन्दिर की प्रतिष्ठा निमित्ते आहोर (कल्याण) ।
- (६३) श्रीमती भवरीबाई एवं कान्तिलालजी शेषमलजी श्रीश्रीश्रीमाल चन्द्रावण गोत्र के जीवित महोत्सव निमित्ते (आहोर) । कान्ति ज्वैलर्स एवं आर. फन. सिटी, धेलादेवजी चौक, कल्याण, जि. थाना, (महा०)
- (६४) श्री सम्प्रेतशिखरजी पंचतीर्थी यात्रा प्रवास प्रसंगे श्रीमती कमलाबाई भूरमलजी महेन्द्रकुमार, शैलेशकुमार, निलेशकुमार, अश्विनकुमार, रीकेश, यश, मित, कृत बेटा पोता भूरमलजी खीमराजजी कटारीया संघवी परिवार आहोर. कावेरी ज्वैलर्स, गुन्दुर-५२२००२ (ए.पी.)
- (६५) एक सदगृहस्थ-जालोर (राज.)
- (६६) गटमल के उपधान निमित्त शा गटमल कपूरचन्दजी छत्रीया वोरा, बाकरा "रूपमिलन साडी" एम.पी लेन, चिकपेट क्रोस, बेंगलोर - ५३.
- (६७) श्रीमति सुबरीबाई छगनराजजी कंकु चोपडा, जालोर पुत्र-पौत्र : शान्तिलाल, रायचन्द, कानराज, उच्छवराज, मुकेश कुमार, रविन्द्र चन्दन, मनीष, दीपक, सुमित, मयंक, पीयूष एवं यश. फर्म : मरुधर अपेरल, लाल बिल्डिंग, चिकपेट, बेंगलोर - ५३, मदुराई, कोयम्बतुर, जालोर.
- (६८) स्व. विक्रमकुमार नेणचंदजी धेवरचंदजी छत्रीया वोरा, सूरणा-मदुराई

● सह संरक्षक ●

- (१) शा तीलोकचंद मयाचन्द एण्ड कं. १९६, गुलालवाडी, मुंबई-४
- (२) शा ताराचंद भोनाजी आहोर मेहता नरेन्द्रकुमार एण्ड कुं. पहला भोईवाडा लेन, मुंबई-२.
- (३) स्व. मातृश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर. प्रविण एण्ड कं. १५-८-१९०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२.
- (४) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अड्डाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थ नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयंतिलाल, प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकुश, रितेश नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज, सुन्दर फर्नीचर, ७९४, सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड, पूना-४११ ०३० (सियाणा)
- (५) सुबोधभाई उत्तमलाल महेता धानेरा निवासी, कलकत्ता.
- (६) पू. पिताजी ओटमलजी मातृश्री अतीयाबाई प. पवनीदेवी के आत्मश्रेयार्थ किशोरमल, प्रवीणकुमार (राजु) अनिल, विकास, राहुल, संयम, ऋषभ, दोशी चौपडा परिवार आहोर, राजेन्द्र स्टील हाउस, ब्राडी पेठ, गुन्दुर (आ.प्र.)
- (७) पू. पिताजी शा प्रेमचंदजी छोगाजी की पुण्यस्मृति में मातृश्री पुष्पादेवी. सुपुत्र दिलीप, सुरेश, अशोक, संजय वेदमुथा रेवतडा, (राज.) चेन्नई. श्री राजेन्द्र टॉवर नं.१३, समुद्र मुद्दाली स्ट्रीट, चेन्नई.
- (८) पू. पिताजी मनोहरमलजी के आत्मश्रेयार्थ मातृश्री पानीदेवी के उपधान आदि तपश्चर्या निमित्ते सुरेशकुमार, दिलीपकुमार, मुकेशकुमार, ललितकुमार, श्रीश्रीश्रीमाल, गुडाल गोत्र नेथीजी परिवार आलासण. फर्म : M. K. Lights, ८९७, अविनाशी रोड, कोडम्बटूर-६४१ ०१८.
- (९) गांधि मुथा, स्व. पिताजी पुखराजजी मातृश्री पानीबाई के स्मरणार्थ हस्ते गोरमल, भागचन्द, नीलेश, महावीर, वीकेश, मीथुन, रीषभ, योनिक बेटा पोता पुखराजजी समनाजी गेनाजी सायला, वैभव ए टु झेड डोलार शोप वासवी महल रोड, चित्रदुर्गा.
- (१०) श्रीमती शांतिदेवी मोहनलालजी सोलंकी के द्वितीय वरसीतप के उपलक्ष में हस्ते मोहनलाल विकास, राकेश, धन्या बेटा पोता गणपतचंदजी सोलंकी जालोर, महेन्द्र गुप, विजयवाडा (आ.प्र.)
- (११) पू. पिताजी श्री मानमलजी भीमाजी छत्रिया वीरा की पुण्य स्मृति में हस्ते

मातुश्री सुआदेवी. पुत्र मदनलाल, महेन्द्रकुमार, भरतकुमार. पौत्र नितिन, संयम, श्लोक, दर्शन सूरणा निवासी कोडम्बदूर.

- (१२) स्व. पू. पिताजी श्री पीरचंदजी एवं स्व. भाई श्री कांतिलालजी की स्मृति में माताजी पातीदेवी पीरचंदजी, पुत्र : हस्तीमल, महावीरकुमार, संदीप, प्रदीप, विक्रम, नीलेष, अभीषेक, अमीत, हार्दिक, मानू, तनीश, यश, पक्षाल, नीरव बेटा पोता परपोता पीरचंदजी केवलजी भंडारी-बागरा. पीरचंद महावीरकुमार-मैन बाजार, गुन्टुर.
- (१३) श्री सियाणा से बसद्वारा शत्रुंजय-शंखेश्वर छ रि पालित यात्रा संघ २०६५ हस्ते संघवी प्रतापचंद, मूलचन्द, दिनेशकुमार, हितेशकुमार, निखिल, पक्षाल, बेटा पोता पुखराजजी बाल गोता सियाणा. फर्म : जैन इन्टरनेशनल, ९५, गोवीदाप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई.
- (१४) स्व. पू. पि. शांतिलाल चीमनलाल बलु मातुश्री मधुबेन शांतिलाल, अशोकभाई सुरेखाबेन आदी कुमार थराद, अशोकभाई शांतिलाल शाह. २०१, कोश मेश अपार्टमेन्ट, भाटीया स्कूल के सामने, साईबाबा नगर, बोरीवली (प.), मुंबई-४०० ०७२.
- (१५) शा. जीतमलजी अन्नाजी, मुं. पो. नासोली, बाया-भीनमाल, जि. जालोर (राज.) दादर, मुम्बई. फर्म : अशोका गोल्ड, ७, काका साहेब गाडगील मार्ग, खेड गली, प्रभादेवी, मुम्बई-४०००२५
- (१६) हिम्मतराज, सुरेश, अरविन्द, तनेश, दिव्य, कटारीया संघवी बेटा-पोता गणेशमलजी, कनाजी, सांचौर (राज.) फर्म : एम्पायर मेटल्स इन्डिया, मुंबई
- (१७) श्रीमती पूज्य मातुश्री विमलाबाई एवं पिताश्री मिश्रीमलजी की पावन स्मृति में पुत्र राजेशकुमार मिश्रीमलजी मगाजी सालेचा, मोदरा (राज.) फर्म : राजगुरु इन्टरप्राइज, चेन्नई (तामिलनाडु)
- (१८) श्रीमती जमनादेवी भोमचंदजी भंसालील-भीनमाल : ९०४, बी, प्रतिका टॉवर, आर. एस. निमकर मार्ग, मुंबई-८.
- (१९) श्रीमती त्रिशलादेवी जयन्तिलाल बाफना के भीनमालनगर में प्रथम उपधान तप निमित्ते, हस्ते - गिरधारीलाल, पारसमल, बाबुलाल, जयन्तिलाल, विनोदकुमार, किशोरकुमार, सुरेशकुमार, बेटा-पोता स्व. सुखराजजी, स्व. नथमलजी, पूनमचंदजी बाफना परिवार. मरुधर में उमेदाबाद (गोल), मुकेश टेक्स्टाईल्स : B/H न्यू क्लोथ मार्केट, रायपुर, अहमदाबाद.

अनुक्रमणिका

विगत	पृष्ठ
प्रथम स्तंभ प्रारंभ	१
प्रथम व्याख्यान	१
द्वितीय व्याख्यान	१३
तृतीय व्याख्यान	१८
चौथा व्याख्यान	२३
पाँचवाँ व्याख्यान	२९
छट्ठा व्याख्यान	३७
सातवाँ व्याख्यान	४१
आठवाँ व्याख्यान	४६
नौवाँ व्याख्यान	५३
दसवाँ व्याख्यान	५७
ग्यारहवाँ व्याख्यान	६१
बारहवाँ व्याख्यान	६५
तेरहवाँ व्याख्यान	६९
चौदहवाँ व्याख्यान	७३
पन्द्रहवाँ व्याख्यान	७९
द्वितीय स्तंभ प्रारंभ	८४
सोलहवाँ व्याख्यान	८४
सत्तरहवाँ व्याख्यान	८८
अठारहवाँ व्याख्यान	९०
उन्नीसवाँ व्याख्यान	९५
विसवाँ व्याख्यान	९८
एकविसवाँ व्याख्यान	१०२
बाविसवाँ व्याख्यान	१०५
तेइसवाँ व्याख्यान	१०९

विगत	पृष्ठ
चौवीसवाँ व्याख्यान	११७
पच्चीसवाँ व्याख्यान	१२०
छब्बीसवाँ व्याख्यान	१२५
सत्ताइसवाँ व्याख्यान	१२९
अट्ठाइसवाँ व्याख्यान	१३२
उन्तीसवाँ व्याख्यान	१३६
तीसवाँ व्याख्यान	१४४
तृतीय स्तंभ प्रारंभ	१४८
एकतीसवाँ व्याख्यान	१४८
बत्तीसवाँ व्याख्यान	१५१
तेतीसवाँ व्याख्यान	१५६
चौतीसवाँ व्याख्यान	१५९
पैंतीसवाँ व्याख्यान	१६३
छत्तीसवाँ व्याख्यान	१७१
सैंतीसवाँ व्याख्यान	१७६
अडतीसवाँ व्याख्यान	१७८
उन्चालीसवाँ व्याख्यान	१८४
चालीसवाँ व्याख्यान	१८७
इकतालीसवाँ व्याख्यान	१९१
बयालीसवाँ व्याख्यान	१९४
तैंतालीसवाँ व्याख्यान	१९७
चवालीसवाँ व्याख्यान	२०३
पैंतालीसवाँ व्याख्यान	२०६
चतुर्थ स्तंभ प्रारंभ	२०९
छियालीसवाँ व्याख्यान	२०९
सैंतालीसवाँ व्याख्यान	२१३
अडतालीसवाँ व्याख्यान	२१७

विगत	पृष्ठ
उत्पत्तासर्वा व्याख्यान	२२१
पत्तासर्वा व्याख्यान	२२७
इक्यावनर्वा व्याख्यान	२३१
बावनर्वा व्याख्यान	२३५
त्रेपनर्वा व्याख्यान	२४१
चव्वनर्वा व्याख्यान	२४५
पचपनर्वा व्याख्यान	२५०
छप्पनर्वा व्याख्यान	२५७
सत्तावनर्वा व्याख्यान	२६२
अट्ठावनर्वा व्याख्यान	२६८
उनसठर्वा व्याख्यान	२७३
साठर्वा व्याख्यान	२८५
इकसठर्वा व्याख्यान	२९०
पंचम स्तंभ प्रारंभ	२९६
बासठर्वा व्याख्यान	२९६
तिरसठर्वा व्याख्यान	३०४
चौसठर्वा व्याख्यान	३१३
पैसठर्वा व्याख्यान	३१९
छासठर्वा व्याख्यान	३२८
सड़सठर्वा व्याख्यान	३३१
अड़सठर्वा व्याख्यान	३३४
उनहत्तरर्वा व्याख्यान	३४४
सित्तेरर्वा व्याख्यान	३४७
इकहत्तरर्वा व्याख्यान	३५१
बहत्तरर्वा व्याख्यान	३५५
तिहत्तरर्वा व्याख्यान	३६०
चौहत्तरर्वा व्याख्यान	३६३

विगत	पृष्ठ
छट्ठा स्तंभ प्रारंभ	३६७
पचहत्तरवाँ व्याख्यान	३६७
छिहत्तरवाँ व्याख्यान	३७२
सत्तहत्तरवाँ व्याख्यान	३७७
अठहत्तरवाँ व्याख्यान	३८१
उगणासीवाँ व्याख्यान	३८५
अस्सीवाँ व्याख्यान	३८९
इक्यासीवाँ व्याख्यान	३९३
बयासीवाँ व्याख्यान	३९८
तिरासीवाँ व्याख्यान	४०३
चौरासीवाँ व्याख्यान	४०८
पचासीवाँ व्याख्यान	४१२
छियासीवाँ व्याख्यान	४१६
सत्तासीवाँ व्याख्यान	४२०
अट्ठासीवाँ व्याख्यान	४२५
नव्यासीवाँ व्याख्यान	४२९
नब्बेवाँ व्याख्यान	४३४



श्री चमत्कारी पार्श्वनाथाय नमो नमः
प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वराय नमो नमः

उपदेश-प्रासाद

ग्रन्थ कर्त्ता:- श्री विजय लक्ष्मीसूरीश्वरजी

प्रथम स्तंभ

श्री नाभि-राजा के पुत्र जो कल्याण और लक्ष्मी को देनेवाले, विश्व के बंधु, देवों के द्वारा प्रार्थना करने योग्य, जो वास्तविक रूप से तत्त्व-सिन्धु है, दीप्ति से प्रकाशमान तथा आदित्य-चन्द्र को जीतनेवाले आदि जिनेन्द्र प्राणियों का रक्षण करे !

श्री नाभि-राजा के विपुल वंश रूपी पुष्करत्त्व में जो चिद्रूप-किरण के समूहों से सूर्य के समान हुए थे तथा अपने पराक्रम से मोह रूपी अंधकार के समूह को शांत करनेवाले कल्याण-वर्णवाले वे विभु विभूति के लिए हो !

जो कल्याण-रूपी लक्ष्मीयों के अद्वितीय हेतु है और त्रैलोक्य-लक्ष्मी के द्वितीय हेतु सहित जो है, ऐसे श्री विश्वसेन के पुत्र तथा गांभीर्य रूपी लक्ष्मी के लिए समुद्र तुल्य श्रीशांतिनाथ का मैं आश्रय लेता हूँ !

तिर्यचों के दया के लिए पाणिग्रहण के बहाने से ही स्वयं ही रथ में बैठे हुए तथा मोह रूपी असुर को दूर करने के लिए विष्णु के समान कांतिवाले और कामदेव के दमन में महादेव सदृश वे नेमिनाथ हमें सुख दे !

हे कृष्ण द्वारा प्रार्थित ! हे नाथों के नाथ ! हे वामादेवी-पुत्र !

हे शंखेश्वर-पार्श्वनाथ ! तथा जिनेश्वर से त्रिपदी रूपी वर्णों को प्राप्त और गणि इस प्रकार लब्ध वर्णवाले ऐसे गणधरों से जो स्तुति कीये गये हैं ऐसे तुम चिर समय तक जयवंत हो !

जो अंतरीक्ष-नवपल्लव आदि प्रख्यात नामों से जिन पार्श्वनाथप्रभु की गणना है और जो तीर्थंकर-शरीर के एक हजार और आठ सामुद्रिक लक्षणों से प्रमाणित है, आनंदित हुआ मैं सुखावह ऐसे उनकी स्तुति करता हूँ !

ज्ञान-समूह रूपी कल्पवृक्ष के लिए नंदन-वन के समान तथा ताप को दूर करने में उत्तम चंदन के सदृश, अनिन्दित ऐसे सिद्धार्थ राजा के नंदन के द्वारा विश्व विकसित हुआ है !

पश्चानुपूर्वी से जिन्होंने तीसरे भव में ग्यारह लाख, अस्सी हजार और पाँच सो मासक्षमण कीये थे, वे वीर प्रभु मेरी रक्षा करें!

भव्य-प्राणियों के द्वारा अर्चनीय, स्वयंभू और जिनका जन्म अनंत संसार का अंत करनेवाला हुआ है, ऐसे वे अजित-संभव आदि सभी जिनेश्वर, स्वाध्याय तथा धर्म में निपुणता से युक्त सज्जनों की मन संकल्पित लक्ष्मी की उत्पत्ति के लिए हो !

अपने शिष्यों की मति-विबोध करने की इच्छा से मेरे द्वारा कीये हुए सद्-उपदेश रूपी घर के संवत्सर-दिन मान ३६० और स-क्षण-दृष्टांतों का संग्रह जिसमें हैं, ऐसी उस नामवाली वृत्ति को मैं करता हूँ !

यहाँ पहले तीन प्रणव ॐकार स्थापित करना चाहिए, फिर उस के मध्य में ह्रीं को स्थापित करना चाहिए, पश्चात् वाग्देवी से उत्पन्न ऐंकार बीज पूर्वक उनको नमस्कार हो, इस प्रकार ऐंनमः मंत्र को नमस्कार कर मैं शास्त्र को कहता हूँ !

जैसे कि शिशु का कहा अस्पष्ट वचन भी पिता के समीप में

सत्यत्व को प्राप्त होता है, वैसे ही श्रुतधर के पास में कहा हुआ भी सत्यता को प्राप्त होता है ।

जैसे कोई प्यासा क्षीर-समुद्र से अल्प जल को ग्रहण कर प्यास को छोड़ देता है, वैसे ही बहुत शास्त्रों से संग्रह कर यहाँ व्याख्या को लिखता हुआ मैं भी सज्जनों को गर्हनीय नहीं होऊँगा ।

यहाँ एक-एक श्लोक के बीच में एक-एक उदाहरण रखा गया है । गद्य से गर्भित उसकी संख्या संवत्सर के दिन - समान होती है ।

अब यहाँ ग्रन्थ के आदि में नमस्कारात्मक, वस्तु-निर्देशात्मक और आशीर्वादात्मक निर्विघ्नता के लिए और शिष्टों की मर्यादा के परिपालन के लिए कहना चाहिए, क्योंकि-

महान् पुरुषों को भी कल्याणकारी कार्य बहुत विघ्नवाले होते हैं । अश्रेयकारी कार्य में प्रवृत्त हुए मनुष्यों के विघ्न कहीं दूर चले जाते हैं ।

अतः उस कारण से ग्रन्थ के आरंभ में विघ्न-समूह की शान्ति के लिए वह मंगल शास्त्र के आदि में, मध्य में और अंत में इष्ट है । यहाँ पर शिष्य का प्रश्न है कि- निश्चय ही स्याद्वाद-धर्म वर्णात्मक यह सर्व ही मंगल है, इतना ही हो तथा प्रयोजन के अभाव से मंगल के तीनों ही प्रकार अयुक्त है ।

गुरु कहते हैं कि- हे शिष्य ! प्रयोजन-अभाव के असिद्धपने से ऐसा नहीं है । तथा शिष्य कैसे विवक्षित ग्रन्थ को अविघ्नता से पार को प्राप्त करें ? अतः आदि मंगल का उपन्यास हुआ है । तथा उन शिष्यों को वह ही कैसे स्थिर हो ? अतः मध्य मंगल का ग्रहण हुआ है । तथा वह ही शिष्य-प्रशिष्य आदि वंश की अव्यवच्छिति में कैसे उपकारक हो ? इसलिए ही चरम मंगल का उपादान हुआ है ।

अतः तुम्हारे द्वारा उद्भावित हेतु की असिद्धता होती है । तथा प्रशस्य भाष्य रूपी शस्य के लिए पृथ्वी के समान पूज्य श्रीजिनभद्रगणि ने कहा है कि- वह मंगल शास्त्र के आदि में, मध्य में और अंत में होता है । शास्त्रार्थ के अविघ्नता से पार पहुँचने के लिए प्रथम मंगल ही निर्देशित किया गया है, इत्यादि । तथा शिष्टों की मर्यादा का पालन होने से । शिष्ट कौन हैं ? शास्त्र रूपी सागर की प्राप्ति के लिए शुभ में रहनेवाले, वें ही शिष्ट हैं । जैसे कि कहा है कि-

शिष्टों का यह आचार है कि वे दूषण को छोड़कर निरंतर शुभ प्रयोजन में ही प्रवर्तन करते हैं ।

तथा बुद्धिमान् लोग फल की अभिलाषावाले ही होते हैं । प्रयोजन आदि के रहितपने से वे काँटि और शाखा के मर्दन के समान उसमें प्रवृत्ति नहीं करते हैं । इस प्रकार की आशंका को दूर करने के लिए, बुद्धिमान् लोगों के प्रवर्तन के लिए तथा अकल्याण को नष्ट करने के लिए समुचित इष्ट देवता को नमस्कार पूर्वक संबंध-अभिधेय-प्रयोजन को सूचन करनेवाला आद्य श्लोक कहते हैं कि-

इंद्रो की श्रेणि से नमस्कार कीये हुए और अतिशयों से सहित शांतिनाथ को नमस्कार कर प्रबोध देनेवाले उपदेश-सद्म नामक ग्रन्थ को मैं कहूँगा ।

व्याख्या:- मैं उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ को कहूँगा, इस प्रकार यह क्रिया-संबंध है । वहाँ उपदेश अर्थात् प्रति-दिन व्याख्यान के योग्य तीन सो और इकसठ प्रमाण सुंदर चरित्र हैं । उनका सद्म अर्थात् स्थान, उससे संबंधित ग्रन्थ अर्थात् उस नामवाला शास्त्र । जो गूँथा जाय वह यह ग्रन्थ है । मैं उसे वक्ष्ये अर्थात् कहूँगा । कौन-सा लक्षणवाला ग्रन्थ है ? प्रबोधदः अर्थात् सम्यग् ज्ञान देनेवाला, ऐसे उसे ! क्या करके ? नमस्कार कर अर्थात् मन-वचन-काया से

नमस्कार कर, किनको ? अचिरा और विश्वसेन के पुत्र उन सोलहवें जिन शांतिनाथ को । कौन-से लक्षणवाले शांतिनाथ को ? अर्थात् चौसठ इन्द्रों की श्रेणियों से, राजाओं से, नागेन्द्रों से, विद्याधर-राजाओं से तथा मृगेन्द्र के समूहों से प्रणाम कीये हुए उन शांतिनाथ को । पुनः कैसे शांतिनाथ को ? अतिशयों से युक्त अर्थात् अपाया-पगम आदि कहे जानेवाले चौतीस प्रकार के अतिशयों से युक्त उन शांतिनाथ को प्रणाम कर, इस प्रकार यह श्लोकार्थ है ।

यहाँ पर अतिशयों से युक्त शांतिनाथ को, इस प्रकार के विशेषण से चौतीस अतिशय सूचित कीये गये हैं और वें यें अतिशय पूर्व सूरियों के द्वारा कही हुई गाथा के द्वारा लिखे जाते हैं,

जन्म से लेकर चार अतिशय और कर्म-क्षय के हो जाने पर ग्यारह तथा देवों से उत्पन्न उन्नीस अतिशय, इस प्रकार में चौतीस अतिशय युक्त प्रभु को वंदन करता हूँ ।

वे अतिशय इस प्रकार से हैं- तीर्थंकर का शरीर लोकोत्तर अद्भुत रूप से युक्त, रोग-रहित, पसीने और मल से रहित होता है, यह प्रथम अतिशय है । तथा तीर्थंकरों का श्वासोच्छ्वास कमल-परिमल के समान मनोहर सुगंधवाला होता है, यह द्वितीय अतिशय है । और अरिहंतों के मांस तथा रुधिर गाय के दूध के समान अत्यंत सफेद होते हैं, यह तीसरा अतिशय है । तथा भगवंतों के द्वारा कीये जाते आहार-नीहार मांस से युक्त नेत्रवालों को दीखायी नहीं देते हैं, पुनः अवधि आदि ज्ञान दर्शनवाले पुरुषों को ऐसा नहीं है, यह चौथा सहज अतिशय है । इस प्रकार यें चारों अतिशय जिनेश्वरों को जन्म से ही होते हैं ।

अब कर्मक्षय से उत्पन्न अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि चार घाति-कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए ग्यारह अतिशय कहे जाते हैं । वहाँ

योजन मात्र क्षेत्रवाले समवसरण की भूमि में बहुत-सारे और कोटि-कोटि प्रमाण में भी जगत् के जन, देव, मनुष्य और तिर्यच समा जाते हैं और परस्पर बाधा रहित सुख-पूर्वक बैठते हैं, इस प्रकार कर्म-क्षय से उत्पन्न यह प्रथम अतिशय है । तथा भगवान् के द्वारा कही जाती हुई और पैंतीस गुणों से युक्त अर्धमागधी भाषा नर-तिर्यच और देवों प्रत्येक को ही निज-निज भाषा से धर्मावबोध करनेवाली होती है तथा योजन तक व्याप्त होनेवाली और एक स्वरूपवाली भी भगवान् की वाणी मेघ से मुक्त पानी के समान उसके आश्रय के अनुरूपपने से परिणमन करती है । जैसे कि- देव दैविक भाषा में, मनुष्य मनुष्य-संबंधी भाषा में, भिल्ल शाबरी भाषा में तथा तिर्यच अपनी तैरश्ची भाषा में, इस प्रकार भगवान् की वाणी को समझते हैं । भुवन में अद्भुत ऐसे इस प्रकार के अतिशय के बिना एक ही साथ में अनेक प्राणियों पर उपकार नहीं किया जा सकता । इस विषय में किसी भिल्ल का उदाहरण कहा जाता है कि- सरोवर, बाण और स्वर के अर्थ से, सरो नत्थि अर्थात् सरोवर, बाण और स्वर नहीं है इस प्रकार के वाक्य से जैसे भिल्ल ने एक ही साथ में तीनों प्रियाओं को प्रतिबोधित किया था । जैसे कि-

कोई भिल्ल ज्येष्ठ मास में तीन स्त्रियों के साथ जाता हुआ एक स्त्री के द्वारा प्रार्थना किया गया कि- हे स्वामी ! तुम सुस्वर से गान करो जिसे मैं सुनूँगी । वह भिल्ल अन्य स्त्री के द्वारा याचना किया गया- तुम जलाशय से कमल-परिमल के साथ शीतल जल लाकर मुझे दो और मेरी प्यास का विच्छेद करो ! अपर स्त्री ने कहा कि- मुझे मृग-मांस देकर मेरी क्षुधा को दूर करो । उन स्त्रियों के वाक्यों को सुनकर उस भिल्ल ने सरो नत्थि इस प्रकार के एक उत्तर से उनका निराकरण किया था । प्रथम स्त्री ने जाना कि- इसका स्वर कंठ

प्रशंसनीय नहीं है । द्वितीय स्त्री ने विचार किया कि- सरो अर्थात् जलाशय नहीं है, यह पानी कहाँ से ले आये ? तीसरी स्त्री ने मन में सोचा कि- सरो अर्थात् शर-बाण नहीं है । उसके बिना यह किससे मृग को पकड़ेगा । इस प्रकार एक वाक्य से वे तीनों स्त्रियाँ निराकुल चित्तवाली हुई । वैसे ही यहाँ पर भी जिनेन्द्रों का वाक्य निरुपम और वचनों से गोचर-अतीत ही होता है । क्योंकि- सात नय और सात सो भांगोंवाली सप्त भंगी तथा दिव्य संगीतमय से युक्त भगवान् की जिस वाणी को सुननेवालों भव्य-प्राणि श्रुत-पारगामी बन जाते हैं। इस प्रकार यह द्वितीय अतिशय है ।

तथा जिनेश्वरों के मस्तक के पीछे बिना सहारे से रहा हुआ बारह सूर्य-बिंबों की कान्ति से युक्त और जनों को मनोहर, भामंडल-अर्थात् प्रभा-समूह का उद्योत प्रसारित करनेवाला । जैसे कि- उनके अति-दुर्लभ रूप को देखनेवालों को विघ्न न हो, उससे तेज को पिंडित कर मस्तक के पीछे भाग में भामंडल की रचना करते हैं । इस प्रकार वर्धमान-देशना में है । यह तीसरा अतिशय है ।

तथा करुणा के एक निधि परमात्मा जहाँ-जहाँ पर विहार करते हैं, वहाँ-वहाँ सवा सो योजन के अंदर, इसे इस प्रकार से समझे, जैसे कि- चारों दिशाओं में प्रत्येक दिशा में पच्चीस योजन के बीच तथा ऊर्ध्व-अधोभाग में प्रत्येक में साढ़े बारह योजन, इस प्रकार सवा सो योजन के अंदर पूर्व में उत्पन्न हुए अनिकाचित रोग, ज्वर आदि उपशांत हो जाते हैं और नूतन रोग आदि उत्पन्न नहीं होते, इस प्रकार यह चौथा अतिशय है ।

तथा पूर्व-भव के बाँधे हुए और जाति-संबंधी वैर अर्थात् जीवों में परस्पर विरोध नहीं होता है, इस प्रकार से यह पाँचवाँ अतिशय है । तथा ईतियाँ अर्थात् धान्य आदि का विनाश करनेवाले

टिड्ढा, तोते, चूहें नहीं होते, इस प्रकार से यह छट्ठा अतिशय है । और मारि- औत्पातिक तथा दुष्ट देवता आदि कृत सर्वगत मरण नहीं होता वह सातवाँ अतिशय है, और अति-वर्षा-निरंतर वृष्टि नहीं होती, यह आठवाँ अतिशय है । तथा अनावृष्टि-सर्वथा जल का अभाव नहीं होता, यह नौवाँ अतिशय है । और दुर्भिक्ष-अन्नादि का अभाव नहीं होता यह दसवाँ अतिशय है । तथा स्व-सेना और पर-सेना कृत विग्रह नहीं होता, यह ग्यारहवाँ अतिशय है ।

अब उन्नीस देव-कृत अतिशय कहे जाते हैं । वहाँ आकाश में धर्म-प्रकाशक और स्फुरायमान किरणों का समूहवाला धर्मचक्र होता है, इस प्रकार यह प्रथम देव-कृत अतिशय है । तथा आकाश में चामर- श्वेत बालों से बनें वींजन होते हैं, यह द्वितीय देव-कृत अतिशय है । तथा आकाश में निर्मल स्फटिक मणिमय पाद-पीठ से युक्त सिंहासन होता है, यह तीसरा अतिशय है । तथा आकाश में तीन छत्र होते हैं, यह चौथा अतिशय है । तथा आकाश में रत्नमय और शेष ध्वजाओं की अपेक्षा से अति-महत्त्वपने से इन्द्रध्वज धर्म-ध्वज होता है, इस प्रकार यह पाँचवाँ देव-कृत अतिशय है । ये पाँचों भी जहाँ-जहाँ पर जगद् गुरु विचरण करते हैं, वहाँ-वहाँ आकाश में स्थित हुए चलते हैं ।

तथा मक्खन के समान स्पर्शवाले नव स्वर्ण-कमल कीये जाते हैं और भगवान् वहाँ दो स्वर्ण-कमलों में अपने दोनों पाद-कमलों को रखकर विचरण करते हैं तथा अन्य सात स्वर्ण-कमल पीछे स्थित होते हैं और उनमें से जो-जो कमल पीछे होता है, वह-वह कमल पाद को रखते हुए ऐसे भगवान् के आगे होता है, इस प्रकार यह छट्ठा अतिशय है ।

तथा समवसरण में मणि-स्वर्ण-चाँदी से रचित तीन कीलें

[गढ़] होते हैं । उसमें से तीर्थंकर का प्रत्यासन्न प्रथम कीला नाना-प्रकार के रत्नों से निष्पन्न हुआ वैमानिक सुरों से रचा जाता है । द्वितीय कनकमय मध्यवर्ती कीला ज्योतिष्क देवों से किया जाता है । और बाहर का रजतमय तीसरा कीला भुवनपति देवों के द्वारा किया जाता है । इस प्रकार यह सातवाँ देव-कृत अतिशय है ।

तथा चतुर्मुख-चारों दिशाओं में चार मूर्तियों का होना । वहाँ पर भगवान् स्वयं पूर्वाभिमुख बैठते हैं । शेष तीनों दिशाओं में तीर्थंकर के प्रभाव से ही देवों के द्वारा कीये हुए सिंहासन आदि से युक्त तीर्थंकर रूपवाले प्रतिबिम्ब होते हैं । शेष देव आदि को और हमको भी स्वयं प्रभु कह रहे हैं, इस प्रकार की प्रतिपत्ति के लिए, यह आठवाँ अतिशय है ।

तथा जहाँ पर प्रभु विराजमान होते हैं, वहाँ पर देवों के द्वारा जिनेश्वर के ऊपर अशोक-वृक्ष किया जाता है । उस वृक्ष का परिमाण कितना होता है ? ऋषभ आदि पार्श्वनाथ पर्यंत तेईस तीर्थंकर के भी निज-निज शरीर के मान से बारह गुणा होता है और महावीर स्वामी के समय में वह अशोक-वृक्ष बत्तीस धनुष ऊँचा था ! जो कि कहा है कि-

ऋषभस्वामी के समय में अशोक-वृक्ष का प्रमाण तीन गाऊ था और वर्द्धमानस्वामी के समय वह बत्तीस धनुष प्रमाणवाला था तथा शेष जिनेश्वरों के शरीर से वह अशोक-वृक्ष बारह गुणा ऊँचा था ।

यहाँ पर कहते हैं कि-निश्चय ही श्रीवीर-समवसरण के प्रस्ताव में आवश्यक-चूर्णि में जो कहा गया है कि इन्द्र जिनेश्वर की ऊँचाई से बारह गुणा ऊँचा श्रेष्ठ अशोक-वृक्ष की विकुर्वना करता है, यह कैसे घटित होता है ? यहाँ कहते हैं कि- वहाँ केवल अशोक-वृक्ष का ही मान कहा गया है किन्तु यहाँ पर शाल-वृक्ष सहित का

मान कहा गया है। उससे यहाँ पर भी वह केवल बारह गुणा ही है। वह मान सात हाथ मानवाले श्रीमहावीर के शरीर से बारह गुणा किया हुआ इक्कीस धनुष होता है और शाल-वृक्ष भी ग्यारह धनुष प्रमाणवाला है, उससे दोनों को मिलाने से बत्तीस धनुष होते हैं, यह प्रवचनसारोद्धार वृत्ति में हैं। इस प्रकार यह नौवाँ देव-कृत अतिशय हैं।

तथा जहाँ-जहाँ भगवान् विहार करते हैं, वहाँ-वहाँ काँटे नीचे मुखवाले होते हैं, इस प्रकार यह दसवाँ देव-कृत अतिशय है।

तथा जहाँ भगवान् विहार करते हैं, वहाँ वृक्ष प्रणाम करते हैं अर्थात् नम्र हो जाते हैं, यह ग्यारहवाँ देव-कृत अतिशय है।

तथा जहाँ भगवान् लीला-पूर्वक विचरण करते हैं, वहाँ दुंदुभि की ध्वनियाँ बजती हैं, यह बारहवाँ अतिशय है।

तथा पवन-संवर्तकवात योजन पर्यंत क्षेत्र-शुद्धि के विधायकपने से सुगंधि-शीतल-मन्दपने से अनुकूल-सुखद होता है। जो समवायांग में कहा भी है कि- शीतल-सुख स्पर्शवाले-सुरभि पवन के द्वारा योजन-परिमंडल में सर्वत्र चारों ओर से प्रमार्जन किया जाता है। इस प्रकार यह तेरहवाँ अतिशय है।

तथा जहाँ जगद्-गुरु संचरण करते हैं, वहाँ चाष पक्षी, मोर आदि पक्षियाँ और शकुन पक्षियाँ प्रदक्षिणा को देती हैं, यह चौदहवाँ अतिशय है।

तथा जहाँ अरिहंत स्थित होते हैं, वहाँ धूल-प्रसर के शमन के लिए कर्पूर आदि से मिश्रित गंधोदक की वृष्टि होती है, यह पंद्रहवाँ अतिशय है। तथा जानु के ऊँचाई प्रमाण पाँच वर्णवाले चंपक आदि पुष्पों की वृष्टि होती है। यहाँ पर कोई कहते हैं कि- विकसित और सुंदर पुष्पों के समूह से भरे हुए योजन पर्यंत समवसरण की भूमि में

जीव-दया के रसिक हृदयवालों ऐसे साधुओं का अवस्थान और गमनागमन आदि करना कैसे योग्य हैं ? क्योंकि जीवों का विघात होने से । यहाँ पर कोई उत्तर देते हैं कि वे पुष्प सचित्त ही नहीं होते, देवों के द्वारा वैक्रिय से ही करने के कारण से । यह कहना अयुक्त है, क्योंकि वहाँ पर विकुर्वित कीये गये पुष्प ही नहीं होते, जल और स्थल पर उत्पन्न पुष्प ही होते हैं । और यह अनार्थ नहीं है, जैसे कि- बीटों को, दिव्य पुष्प से व्याप्त नीहारी को तथा पाँच वर्णवाले सुगंधि और जल-स्थल से उत्पन्न पुष्प-वास को चारों ओर बिखरे जाते हैं । इस प्रकार सिद्धान्त के वचनों को सुनकर सहृदयवालों ऐसे अन्य उत्तर देते हैं कि- जहाँ पर साधु बैठते हैं, उस प्रदेश में देव पुष्पों को नहीं बिखेरते हैं । यह भी उत्तर-आभास है क्योंकि साधुओं के द्वारा काष्ठ के समान अवस्था का आलंबन लेकर उसी प्रदेश में ही नहीं रहना पड़ता तथा प्रयोजन के होने पर वहाँ गमनागमन आदि की भी संभावना के होने से । उस कारण से समस्त गीतार्थों से संमत यहाँ पर यह उत्तर दिया जाता है कि- जैसे एक योजन मात्र समवसरण की पृथ्वी में अपरिमित सुर - असुर आदि लोगों के संमर्दन में भी परस्पर कोई बाधा नहीं होती, वैसे ही जानु प्रमाण में डाले गये उन पुष्पों के समूहों के ऊपर भी मुनियों के समूह और विविध जनों के समूह के संचरण करने पर भी कोई बाधा नहीं होती तथा विपरीत ही अमृत-रस से सींचन कीये जाते हुए के समान उन पुष्पों को अत्यंत समुल्लास ही होता है । अचिन्तनीय और निरुपम तीर्थंकर के प्रभाव से उत्पन्न प्रसाद से ही यह होता है, इस प्रकार यह सोलहवाँ अतिशय है ।

तथा प्रभु के सिर के बालों की और उपलक्षण से दाढ़ी और हाथ-पैरों के नखों की भी वृद्धि नहीं होती, यह सत्तरहवाँ अतिशय

है ।

तथा भगवान् के पास में जघन्य से भी भवनपति आदि चारों प्रकार के देव-निकायों की कोटि संख्या होती हैं, यह अठारहवाँ अतिशय हैं ।

तथा पुष्प आदि सामग्रीयों से सुंदर सर्वदा वसन्त आदि छ ऋतुओं के प्रादुर्भाव से अनुकूलता होती हैं, यह उन्नीसवाँ अतिशय हैं ।

इस प्रकार सभी अतिशयों को मिलाने से चौतीस की संख्या होती हैं । जो कि यहाँ पर समवायांग के साथ थोड़ा अन्यथापन भी दीखायी देता है, उसे मतांतर ही जानें । मतांतर के बीजों को केवल सर्वज्ञ ही जानते हैं ।

विश्वसेन राजा के कुल में तिलक समान और अचिरा की कुक्षि रूपी छीप में रहे हुए मोती के समान तथा अतिशयों से आश्रित कीये हुए उन सोलहवें श्रीशांतिनाथस्वामी को नमस्कार कर- उपहास के परिहार से तथा त्रिकरण की विशुद्धि से प्रणाम कर, अनेक ग्रन्थों के अनुसार से मैं प्रतिपादन करूँगा । तथा इस शास्त्र में संबंध वाच्य-वाचक लक्षणवाला हैं । यहाँ पर प्रकरण-अर्थ वाच्य हैं और वाचक-प्रकरण हैं । अभिधेय-सद्-अनुयोग से आर्हत् धर्मोपदेश का निरूपण हैं । प्रयोजन- दो प्रकार से हैं, प्रकरण के कर्त्ता का और श्रोता का । वह भी दो प्रकार से हैं-परम् और अपर । वहाँ पर कर्त्ता का परं प्रयोजन परम-पद रूपी संपत्ति की प्राप्ति है और अपर भव्य-जनों को प्रबोध और अनुग्रह हैं । श्रोता का भी परं प्रयोजन स्वर्ग-अपवर्ग सौख्य की प्राप्ति है और अपर शास्त्र के तत्त्वों का अवबोध है । क्योंकि इस प्रकार का शास्त्र बुद्धिमंतों को प्रवर्तक होता हैं । यहाँ आद्य श्लोक में श्रीमद्जिन का अतिशय से आश्रित विशेषण कहा

गया हैं। और उसका वर्णन विशेषता से वृत्तिकार के द्वारा किया गया है और वह भाव-मंगल के हाने से, सर्व विघ्नों का विनाशक होने से तथा सर्व कल्याणों का निबन्धन होने से आदेय हैं।

इस प्रकार प्रति-प्रभात में जिनेश्वरों के सुंदर अतिशयों की समृद्धि को जो मनुष्य स्मरण करते हैं, वे कल्याणों से अत्यंत श्रेष्ठ होते हैं।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में इस प्रथम स्तंभ में जिन-नमस्कार करण और अतिशय वर्णन रूप मांगल्य आख्यान प्रथम कहा गया हैं।



द्वितीय-व्याख्यान

यहाँ पहले सर्व संपत्तिओं के निधान, सर्व गुणों में प्रधान और समस्त धर्म कृत्यों का कारण ऐसे सम्यग् दर्शन को कहते हैं कि-

जिनेश्वरों में ही देवत्व की बुद्धि और सुसाधुओं में ही गुरुत्व की बुद्धि। तथा अरिहंतों के धर्म में ही धर्म की बुद्धि, उसे सम्यग् दर्शन कहते हैं। जिनाः- राग-द्वेष को जीतनेवाले होने से जिन कहलाते हैं और वे नाम, आकृति, द्रव्य, भाव के भेदों से भिन्न होते हैं। उनमें ही देवपने की बुद्धि। भवात्-संसार से आत्मा को मुक्त करने की इच्छा करते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करते हैं वे सुसाधु कहें जाते हैं, उनमें ही गुरुपने की बुद्धि। तथा अरिहंत-जिनेश्वर के धर्म में, अर्थात्- दुर्गति में पड़ते हुए जन्तुओं को धारण करता है, वह धर्म कहलाता है, उसमें धर्मपने की बुद्धि अर्थात् धर्मपने में रुचि वह सम्यग् दर्शन कहलाता है। जो कि दर्शन शब्द से विलोचन, विलोकन आदि कहे जाते हैं, तो भी यहाँ शास्त्र में

संशय आदि से रहित सम्यग् देव आदि तीनों के तत्त्व-ज्ञान को और दर्शन-मोहनीय कर्म के उपशम आदि से उत्पन्न हुए अर्हत् के द्वारा कहे गये सिद्धान्तों के ऊपर श्रद्धा रूप सद्-भाव विशेष को ही दर्शन कहते हैं, यह तात्पर्य है ।

यहाँ पर कहा हुआ अर्थ महाबल की कथा से दृढ़ किया जाता है कि- हस्तिनापुर में बल नामक राजा था और उसकी प्रभावती रानी थी । प्रभावती को सिंह के स्वप्न से सूचित महाबल नामक पुत्र हुआ और क्रम से उसने यौवन को प्राप्त किया । पिता के द्वारा भोग में समर्थ जानकर वह एक ही दिन में आठ श्रेष्ठ राज-कन्याओं के साथ विवाहित किया गया । और पुत्र के लिए स्वर्णमय आठ महल बनवाये । उसके बाद पिता ने प्रेम से उसे धन दिया । उसे पञ्चमांग सूत्र से जाने कि- आठ करोड़ हिरण्य, आठ करोड़ स्वर्ण, आठ मुकुट, आठ कुंडल के जोड़े, आठ नंद, आठ भद्रासन और सर्व रत्नों को इत्यादि प्रचुर वस्तुओं को उनके भोग के लिए दी । पश्चात् वह कुमार उन राज-कन्याओं के साथ सुख को भोगने लगा ।

एक दिन महाबल सर्व-ऋद्धि युक्त उद्यान में जाकर पाँच सो मुनियों के स्वामी तथा विमलनाथ परंपरा के धर्मघोष सूरीश्वर को नमस्कार कर उनकी कही हुई देशना को सुनने लगा कि-

हे लोगों ! संसार का स्वरूप असार ही है, इस प्रकार चित्त में विचारकर मोक्ष देनेवाले धर्म में प्रयत्न करो । सभी धर्म-कृत्यों का मूल सम्यक्त्व कहा जाता है और वह देव में, गुरु में और तत्त्व में सम्यक् श्रद्धा से होता है । सर्व व्रत, दान, जिन-पूजाएँ, क्रिया, जप, ध्यान, तप और शास्त्र, तीर्थ, गुणों का अर्जन सम्यक्त्व की सेवा सहित मोक्ष के लिए होता है ।

इस प्रकार गुरु की वाणी को सुनकर महाबल ने कहा- हे

भगवन् ! मैं हृदय से अर्हत् द्वारा कहे हुए मार्ग की श्रद्धा करता हूँ । इसलिए माता-पिता को पूछकर मैं आपके पास प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा । सूरि ने कहा कि- हे वत्स ! धर्म में प्रतिबंध मत करना । तत्पश्चात् निज आवास में जाकर और माता-पिता को प्रणाम कर कहने लगा कि- आप दोनों की अनुज्ञा से सूरेश्वर के समीप मैं प्रव्रज्या को ग्रहण करूँगा । उसे सुनकर माता ने महाबल से कहा कि- हे वत्स ! तुम हम दोनों को प्राण-प्रिय होने से तेरे वियोग को क्षण भी नहीं चाहते हैं । उससे तुम इस प्रकार मत कहो ! हे वत्स ! जब तक हम दोनों जीवित है, तब तक तुम अपने गृह में रहो । यह सुनकर कुमार ने अपनी माता से कहा कि- हे माता ! मैं यह नहीं जानता हूँ कि कौन जन पूर्व अथवा पश्चात् मरण को प्राप्त होगा । उससे तुम मुझे अनुज्ञा दो, जिससे कि मैं तुम्हारे कुक्षि से जन्म लेने का फल प्राप्त करूँ ! जैसे पूर्व के अनंत भव में प्राप्त हुई जननीयाँ अनुस्वार के समान हुई हैं, वैसे तुम मत बनो और शुभांक के समान स-अन्वर्थवाली बनो । इत्यादि उक्ति से उसके आग्रह को छोड़ाने में असमर्थ हुए माता-पिता शीघ्र ही उसके दास-भाव को प्राप्त हुए ।

तत्पश्चात् राजा ने स्नेह से उसे एक दिन अपने राज्य स्थान पर संस्थापित कर और स्वयं एक सो आठ स्वर्ण, देदीप्यमान रत्न और मिट्टीमय कलशों से अभिषेक कर कहने लगा कि- हे वत्स ! अब हम क्या करें ? महाबल ने भी कहा कि- हे पिताजी ! मेरे लिए तीन लाख स्वर्ण, कोश में से लाकर कुत्रिका-दूकान में से एक लाख स्वर्ण से पात्रों को, एक लाख स्वर्ण से रजोहरण को और एक लाख स्वर्ण के दान से चार अंगुलों को छोड़कर अग्र केशों को काटनेवाले नाई को ले आओ । उसके बाद उसने भी तुरंत ही वैसा किया । तत्पश्चात् दिव्य चन्दन और आभरणों से भूषित हुआ अंगवाला और हजार मनुष्यों

से वहन करनेवाली शिबिका में चढ़कर महाबल गुरु के पास में आया ।

तब माता-पिता ने कहा- हे वत्स ! तेरे द्वारा इस चारित्र में अत्यंत प्रयत्न करना चाहिए, इस प्रकार कहकर और सूरेश्वर को प्रणाम कर स्व-नगर में आये । तत्पश्चात् महाबल ने स्वयं पंच-मुष्टि लोच कर गुरु के हाथ से दीक्षा ग्रहण की । उसके बाद महाबल-ऋषि तीन गुप्ति और पाँच समितियों से युक्त विनय से चौदह पूर्वों को पढ़ने लगे । विविध तपों के द्वारा बारह वर्ष तक संयम का परिपालन कर और पाप की आलोचना तथा प्रतिक्रमण कर एक मास के अनशन से ब्रह्मलोक में दस-सागरोपम की स्थितिवाले देव हुए ।

इनका पाँचवें कल्प में गमन किसी विस्मरण आदि से चौदह पूर्वों के न्यूनत्व के हेतु से संभावना की जाती है । अन्यथा चौदह पूर्वों की जघन्य से भी लान्तक में उत्पत्ति होती है । और वहाँ से च्यवकर वाणिज ग्राम में बड़े श्रेष्ठी के कुल में सुदर्शन नामक पुत्र हुआ । प्रौढ अवस्था को प्राप्त हुआ वह सुदर्शन श्रेष्ठी एक दिन उस नगर के उद्यान में श्रीवीरजिन भगवान् के पाद-कमल के वंदन के लिए आया । तब स्वामी पर्षदा में सर्व जीवों के हित के लिए समय आदि काल-स्वरूप की प्ररूपणा कर रहे थे । उसे सुनकर विस्मित हुआ श्रेष्ठी कहने लगा कि- हे स्वामी ! कितने प्रकार के काल हैं ? यहाँ पर भगवान् के द्वारा कहा गया यह आलापक हैं कि- हे सुदर्शन ! चार प्रकार के काल कहें गये हैं, जैसे कि- प्रमाण-काल, यथा-आयु निवृत्तिकाल, मृत्यु-काल और अद्धा-काल ।

वह प्रमाण-काल क्या हैं ? दो प्रकार के प्रमाण-काल कहें गये हैं, जैसे कि- चार पोरसीवाला दिवस और चार पोरसीवाली रात्री होती है, इत्यादि यह जानें । और यह यथा-आयु निवृत्ति काल

क्या हैं ? यथा-आयु निवृत्ति काल वह हैं जिससे कि नारकी अथवा देव के द्वारा यथा-आयु निवृत्ति होती है, वह यह काल हैं । और वह मरण-काल क्या हैं ? मरण-काल में शरीर से जीव अथवा जीव से शरीर बाहर निकलता है, वह यह मरण-काल है । और यह अद्धाकाल क्या है ? अद्धाकाल अनेक प्रकार के कहें गये हैं और वह समय, आवलिका और उत्सर्पिणी तक प्राप्त होता हैं ।

इत्यादि सुनकर वह सुदर्शन-श्रेष्ठी कहने लगा कि- हे स्वामी ! पल्योपम-सागरोपम आदि का क्षय कैसे होता है ? स्वामी ने कहा कि- हे सुदर्शन ! पूर्व में तेरे द्वारा यह काल अनुभवित किया गया है । पूर्व के भव में तुम ब्रह्मकल्प में दस- सागरोपम स्थितिवाले देव हुए थे ! इसप्रकार पूर्व भव के स्वरूप को सुनकर वैराग्य उत्पन्न होने से सुदर्शन ने स्वामी के पास में संयम को ग्रहण किया और पूर्व भव के व्रत पालन से मिले फल पर विश्वास की उत्पत्ति होने से इस भव में ग्रहण कीये हुए व्रतवाले वें चौदह-पूर्वी होकर और कर्म-क्षय से केवल ज्ञान को प्राप्त कर परमानन्द-पद को प्राप्त किया ।

जिनको कामधेनु के समान देव आदि तत्त्वों में यथार्थ बोध होता हैं, जिस प्रकार से सम्यग् दर्शन से महाबल राजा को समृद्धि हुई थी, वैसे ही उनको समृद्धि प्राप्त होती है ।

इस प्रकार संवत्सर दिन परिमित उपदेश संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में इस प्रथम स्तंभ में सम्यक्त्व के शुभ फलोदय से युक्त दुसरा महाबल का चरित्र कहा गया है ।



तिसरा-व्याख्यान

अब यह सम्यग्-दर्शन दो हेतुओंवाला होता है, उसे कहते हैं कि- तीर्थंकर के द्वारा कहे गये तत्त्वों में रुचि, वह सम्यक्त्व कहा जाता है और वह स्वभाव से अथवा गुरुओं के उपदेश से प्राप्त किया जाता है ।

तीर्थंकरों के द्वारा कहे गये तत्त्व नव प्रकार से हैं और उनमें जो रुचि है, वह सम्यक्त्व-सम्यक् श्रद्धान रूप है । रुचि के बिना केवल (अकेले) ज्ञान से ही फल सिद्धि नहीं होती । तत्त्व के जानकारों के द्वारा भी रुचि के बिना हित रूपी लक्षणवाला फल प्राप्त नहीं किया जा सकता । श्रुत-ज्ञान धारक होते हुए भी अभव्य ऐसे अंगारमर्दक आदि का अथवा दूर-भव्य का निष्कारण ही जगद् के ऊपर एक वात्सल्यवाले ऐसे तीर्थंकरों के द्वारा कहे हुए तत्त्वों में रुचि रहितपने से विवक्षित फल नहीं सुना जाता है । उस सम्यक्त्व के उत्पादन में दो गतियाँ हैं- स्वभाव से और गुरु के उपदेश से । निसर्ग-स्वभाव से अर्थात् गुरु-उपदेश की निरपेक्षता से । अथवा गुरु के धर्मोपदेश की प्राप्ति से- अधिगम से । वह इस प्रकार से है -

अनादि संसार रूपी सागर के मध्य में रहा हुआ प्राणी भव्यत्व परिपाक के वश से पर्वत की नदी तथा पाषाण के घोलन तुल्य अनाभोग से निवर्तित हुए यथा-प्रवृत्ति करण से तथा अध्यवसायों के विशेष रूप से आयु कर्म को छोड़कर ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को पल्योपम के असंख्येय भाग से न्यून एक सागरोपम कोटि-कोटि स्थितिवाले करता है । और इस बीच में जीव की कर्म-जन्य घन राग-द्वेष परिणामवाली, कर्कश और दुर्भेद्य ग्रन्थि होती है । अभव्य भी इस ग्रन्थि तक अनंत बार आते हैं ! अभव्य प्राणी को भी इस करण से ग्रन्थि को प्राप्त कर अर्हत् आदि विभूति के दर्शन से

प्रवर्तमान होते श्रुत-सामायिक का लाभ द्रव्य से होता है, किन्तु शेष लाभ नहीं होता । इसके अनंतर कोई भव्य परम-शुद्धि से ग्रन्थि-भेद रूप अपूर्वकरण कर मिथ्यात्व स्थिति के अंतर्मुहूर्त काल प्रमाण उसके प्रदेश के वेद्य-दलिक के अभाव रूप अंतरकरण को करता है । इनका यह क्रम है -

जो ग्रन्थि है वहाँ तक आना वह प्रथम यथाप्रवृत्ति करण है और ग्रन्थि-भेदन यह द्वितीय अपूर्व करण है । पुनः अनिवृत्तिकरण अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति जिसके द्वारा होनेवाली है ऐसे आसन्न सम्यक्त्ववाले जीव में अनिवृत्तिकरण होता है ।

यहाँ पर मिथ्यात्व की दो स्थितियाँ होती हैं । प्रथम अन्तर्मुहूर्त की स्थिति को भोगकर और द्वितीय उपशमित की गयी स्थिति में अन्तरकरण के प्रथम समय में ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । क्योंकि-

प्राणी अंतर्मुहूर्त स्थितिवाले जिस सम्यग्-दर्शन को प्राप्त करते हैं, वह यह निसर्ग-हेतुवाला सम्यग्-श्रद्धान कहा जाता है ।

गुरु-उपदेश का आलंबन लेकर प्राणिओं को जो सम्यग्-श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह यह दूसरा अधिगम सम्यग्-श्रद्धान कहा जाता है ।

यहाँ अधिगम-सम्यक्त्व के विषय में संप्रदाय से आया हुआ यह किसान का दृष्टान्त है-

बल पूर्वक भी समस्त सुखों की एक जन्म-भूमि ऐसा सम्यग् दर्शन श्राद्ध जन को दीया जाता है । क्या श्रीवीर-जिन ने उस उद्यम को श्रीगौतम के द्वारा भी किसान के ऊपर नहीं किया था ?

एक दिवस जंगम कल्पवृक्ष के समान महावीर-जिन ने मार्ग में विहार करते हुए गौतम से कहा कि- हे वत्स ! जो आगे यह किसान दीखायी दे रहा है, तुम उसके प्रतिबोध के लिए शीघ्र ही वहाँ जाओ

और तुझसे इसको महान् लाभ होगा । तथा ही इस प्रकार उसे स्वीकार कर और वहाँ आकर गौतम ने इस प्रकार से कहा कि- हे भद्र! तुझे समाधि हैं ? तुम व्यर्थ ही किस कारण से अनेक एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जीवों के विराधनामय इस कृषि-कार्य से पाप करते हो? तुम पापी कुटुम्ब के लिए कैसे आत्मा को अनर्थ में गिरा रहे हो? जैसे कि-

जो मनुष्य संसार को प्राप्त हुआ दूसरों के अर्थ से और जो साधारण कर्म को करता है । उस कर्म के वेदन-काल में वें बंधु, बंधुपने को धारण नहीं करते हैं ।

उस कारण से तपस्या रूपी जहाज में बैठकर तुम संसार रूपी सुमुद्र से पार उतरो, इस प्रकार सद्-वाक्य रूपी अमृतों से सिंचन किया गया वह किसान गौतम से कहने लगा कि- हे स्वामी ! मैं ब्राह्मण हूँ और सात कन्या आदि के दुष्पूर उदर की पूर्ति के लिए अनेक पाप-कर्मों को कर रहा हूँ । इसके पश्चात् आप ही मेरे भाई और माता हो । आप जो आदेश करोगे, मैं उसे करूँगा और पूज्य के वचन को अन्यथा नहीं करूँगा । उसके बाद किसान ने भी गौतम के द्वारा अर्पित कीये गये साधु-वेष को स्वीकार किया । व्रत को ग्रहण कीये उसको साथ में लेकर गौतम जिन-अभिमुख चलें । तब उसने पूछा कि-हे पूज्य ! हम कहाँ जा रहे हैं ? गौतम ने कहा कि- जहाँ मेरे गुरु हैं वहाँ जा रहे हैं ! उसने कहा कि- सुर और असुरों से पूज्य आपके भी पूज्य वें गुरु कैसे होंगे ? तब उसे अरिहंतों के गुण कहें । उसे सुनकर उसने सम्यक्त्व प्राप्त किया और जिन-समृद्धि को देखकर उसे विशेष से प्राप्त किया । उसके बाद क्रम से जब उसने परिवार सहित श्रीवीर को देखा, तब उसके मन में द्वेष उत्पन्न हुआ । गौतम ने कहा कि-हे मुनि ! श्रीवीर को वंदन करो । वह भी गणधर से कहने लगा कि- जो यह आपके गुरु है, तो मुझे प्रब्रज्या से प्रयोजन नहीं है । आपके

शिष्यत्वपने से पर्याप्त हुआ, आप इस वेष को ग्रहण करो और मैं मेरे घर में जाऊँगा ! इस प्रकार कहकर जब वह वेष को छोड़कर तथा मुद्रि को बाँधकर भागने लगा, तब उसकी वैसी चेष्टा को देखकर समस्त इन्द्र आदि भी हँसते हुए कहने लगे कि- अहो ! इन्द्रभूति ने अत्यंत श्रेष्ठ शिष्य का उपार्जन किया ऐसे अद्भुत को देखकर थोड़े लज्जित मनवाले गौतम ने वीर प्रभु को उसके वैर का कारण पूछा । स्वामी ने गौतम से कहा कि-हे वत्स ! इसके द्वारा अरिहंतों के गुणों के चिन्तनों से ग्रन्थि-भेद किया गया है । उस कारण से तुमको और उसे महान् लाभ हुआ है । और जो मुझे देखकर इसे द्वेष उत्पन्न हुआ है, तुम उस स्वरूप को सुनो-

पूर्व में पोटनपुर में प्रजापति राजा का पुत्र मैं त्रिपृष्ठ नामक वासुदेव था, तब त्रिखंड का स्वामी अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव था । एक दिन उसने अपनी सभा में अपने मृत्यु के बारे में निमित्तज्ञ से पूछा । उस नैमित्तिक ने भी त्रिपृष्ठ के हाथ से आपकी मृत्यु होगी, इस प्रकार से कहा । उससे वह हमेशा त्रिपृष्ठ के ऊपर द्वेष को वहन करते हुए उसके मारण के उपायों को करने लगा । और वे समस्त ही विफल हुए ।

एक दिन उस नगर के वन में चावल के खेत में रहे हुए मनुष्यों पर उपद्रव को करते हुए सिंह को कोई भी मारने के लिए समर्थ नहीं बना, तब उस सिंह के उपद्रव का निवारण करने के लिए प्रतिवासुदेव राजा की आज्ञा से अपनी-अपनी बारी से राजा लोग रक्षा करने आने लगे । एक दिन प्रजापति राजा की बारी थी । तब पिता को निषेध कर त्रिपृष्ठ वहाँ उस उपद्रव से रक्षण करने के लिए सारथि से युक्त रथ में बैठकर चला । त्रिपृष्ठ के आलाप मात्र से ही वह सिंह उसके सम्मुख दौड़ आया । तब त्रिपृष्ठ ने शक्ति के संपुट के समान उस सिंह के दोनों ओष्ठों को विदारण कर उसे अर्ध मृत किया । तब सिंह

अपनी निन्दा करने लगा- हा ! मनुष्य-मात्र से मैं मारा गया हूँ ! तब मधुर वचन से सारथि ने उसे सान्त्वना दी कि- हे सिंह ! यह वासुदेव होगा । इसे तुम रंक मात्र मत जानो । जो तुम पुरुषों में प्रभु तुल्य इसके हाथ से मृत हुए हो, तो क्यों विषाद कर रहे हो ? यह मर्त्य-लोक में सिंह हैं और तुम तिर्यच-योनि में सिंह हो । इस प्रकार के वाक्य से संतुष्ट हुआ सिंह समाधि से मरण को प्राप्त हुआ । उसके बाद वे तीनों ही संसार-समुद्र में बार-बार भ्रमण करते हुए क्रम से यहाँ पर हुए हैं । जो त्रिपृष्ठ का जीव हैं, वह मैं यहाँ पर हुआ हूँ और सिंह का जीव यह किसान हुआ है तथा सारथि का जीव तुम इन्द्रभूति हुए हो । पूर्व में तेरे द्वारा यह सिंह, जो मेरे द्वारा मरण को प्राप्त किया गया मधुर वचन से संतुष्ट किया गया था । उससे तुम भव रूपी नाटक में तुम्हारे प्रति स्नेह और मेरे प्रति वैर के कारण को जानो । परन्तु यह किसान यहाँ पर शुक्ल पाक्षिक हुआ है । जैसे कि-

जिनको अर्ध पुद्गल-परावर्त मध्य का ही संसार शेष है, वे जीव शुक्ल पाक्षिक है और अधिक जीव कृष्ण-पाक्षिक हैं ।

इस प्रकार यह सुनकर अनेक जीवों ने सम्यक्त्व अंगीकार किया ।

यह किसान अर्ध पुद्गल-परावर्त के मध्य में ही मोक्ष को प्राप्त करेगा और इसने तुझसे ही दो घड़ी पर्यंत सम्यग्-दर्शन को प्राप्त किया है, उस कारण से मैंने तुझसे यह उद्यम कराया था । इस व्यक्तिकर को सुनकर इन्द्र प्रमुख सम्यग्-दर्शन में दृढ़ हुए, उससे हे भव्य-जनों ! तुम भी चित्त में उसे स्थिर स्थापित करो ।

इस प्रकार संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में यह तीसरा किसान का प्रबंध संपूर्ण हुआ ।

चौथा व्याख्यान

अब यह सम्यग्-दर्शन ज्ञान-चारित्र से भी अधिक कहा गया है, इसे इस प्रकार से कहा जाता है, जैसे कि-

चारित्र और ज्ञान से रहित भी दर्शन श्लाघ्य होता है, और मिथ्यात्व रूपी विष से दूषित हुए ज्ञान-चारित्र पुनः श्लाघ्य नहीं होते और निश्चय से सुना जाता है कि ज्ञान-चारित्र से विहीन होते हुए भी श्रेणिक सम्यग्-दर्शन के माहात्म्य से तीर्थकरत्व को प्राप्त करेगा ।

तीनों प्रकार के सम्यक्त्व के मध्य में से किस दर्शन से भ्रंभसार के द्वारा तीर्थकर-पद उपार्जन किया गया ? उसे कहते हैं कि- सम्यक्त्व तीन प्रकार का कहा गया है- औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक । वहाँ उपशम-भस्म से ढंकी हुई अग्नि के समान मिथ्यात्व-मोहनीय के चारों अनंतानुबन्धियों के अनुदय अवस्था रूप उपशम प्रयोजन अथवा प्रवर्त्तक इसका है, वह औपशमिक हैं । और वह अनादि मिथ्यादृष्टि को तीनों करण-पूर्वक ही अन्तर्मुहूर्त्त पर्यंत चारों गति में रहे हुए जन्तु को भी होता है । अथवा उपशम-श्रेणि में चढ़े हुए को उपशांत-मोह में होता हैं । जो पूज्य जिनभद्र ने महाभाष्य में कहा है कि-

उपशम-श्रेणि में चढ़े हुए को औपशमिक सम्यक्त्व होता हैं अथवा जिसने तीन पुंज नहीं कीये हैं और मिथ्यात्व को क्षपित नहीं किया है, वह उपशम-सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ।

क्षय-मिथ्यात्व के प्रेरित कीये हुए अनंतानुबन्धि का देश से निर्मूल-नाश और अनुदित हुए का उपशम, अर्थात् क्षय से युक्त उपशम-क्षयोपशम प्रयोजन हैं इसका वह क्षायोपशमिक हैं । और इसकी स्थिति छासठ सागरोपम से अधिक हैं । क्षय-दर्शन सप्तक का निर्मूल से नाश । क्षय हैं प्रयोजन इसका वह क्षायिक हैं और यह

सादि-अनंत हैं । इस अंतिम दर्शन के प्रभाव से श्रेणिक ने तीर्थंकर नाम-कर्म बाँधा था । जो आगम में कहा गया है कि-

वहाँ तक कि श्रेणिक न ही बहु-श्रुतधारी था अथवा न ही प्रज्ञप्ति-धारक अथवा वाचक था, फिर भी वह भविष्य में तीर्थंकर होगा, उस कारण से प्रज्ञा से एक दर्शन ही श्रेष्ठ हैं ।

भावार्थ को प्रबंध से जानें और वह प्रबंध इस प्रकार से हैं-

राजगृह नगर में श्रीश्रेणिक राज्य कर रहा है । एक बार गुणशिल-चैत्य में जगत् के एक नाथ और समवसरण कीये हुए श्रीमहावीर को वंदन करने के लिए चेलणा और सैन्य सहित श्रेणिक वहाँ पर आया । श्री जिन को प्रणाम कर राजा के बैठ जाने पर कोई एक कुष्ठी अपने कुष्ठ के रस से भगवान् के दोनों पादों में लेप को करने लगा । उस अयोग्य कार्य को देखकर राजा उसके ऊपर क्रोधित मनवाला हुआ । तभी स्वामी के द्वारा छींक के करने पर देव ने कहा कि- तुम मरो ! तभी राजा के द्वारा छींक के करने पर तुम चिर समय तक जीओ और अभय के छींक करने पर कहा कि- तुम मरो अथवा न मरो ! कसाई के छींक के करने पर तुम न मरो, न जीओ इस प्रकार कुष्ठी ने कहा । प्रभु से तुम मरो इस प्रकार उसके कहे हुए वचन को सुनकर राजा सोचने लगा कि- अहो ! इसकी दुष्टता, इस प्रकार सोचकर उसके मारण में प्रेरित कीये गये चर पुरुषों ने कहा कि- हे स्वामी ! वह तो आकाश-मार्ग से उड़कर कहीं पर चला गया, किस ओर गया यह हम नहीं जानते । तत्पश्चात् राजा ने जिनेश्वर से पूछा कि- यह कौन है ? और इसकी वह क्या चेष्टा है ? भगवान् ने कहा कि- यह कुष्ठी मनुष्य नहीं था, किंतु दर्दुरांक नामक देव था जो हमारी श्रीखंड से [चंदन] पूजा कर रहा था । फिर से राजा ने पूछा कि- हे नाथ ! यह देव कैसे हुआ ? यह आप मुझे निवेदन करें । तब

वीरविभु ने कहा कि-

कौशाम्बी नगरी में सेटुक नामक ब्राह्मण रहता था जो शतानीक राजा की सेवा करता था । एक दिन संतुष्ट हुए राजा ने उसे 'तुम अपनी इच्छा के अनुसार माँगों' इस प्रकार वर दिया । उसने भी पत्नी की बुद्धि से नगर में प्रति घर में दीनार सहित भोजन को माँगा । राजा ने भी थोड़ा हँसकर उसे स्वीकार किया । वह दक्षिणा के लोभ से बार-बार वमन कर और भोजन करता हुआ कुष्ठी हुआ । तत्पश्चात् राजा ने और कुटुंब ने उसका अपमान किया । उसे जानकर क्रोधित हुआ उसने एक बकरे को मँगवाकर अपने कुष्ठ के रस से भीगे हुए तृण आदि को उस बकरे से भक्षण कराया ।

एक दिन उसने पुत्र आदि से कहा कि- हमारें कुल-क्रम से आयी हुई यह वृत्ति हैं कि जो वृद्ध होता है वह पुत्र आदि को बकरे के मौस भोजन को देकर पश्चात् दीक्षा लेता है । पुत्र आदि ने भी उसे स्वीकार किया । इस प्रकार के छल से अपने कुटुम्ब को कुष्ठ से दुष्टमय बनाकर रात्रि के समय में गृह से बाहर निकला और वन में भ्रमण करते हुए नाना औषधि मूलवाले धावन पानी के पान से नीरोगी हुआ । पश्चात् गृह में आकर वह ब्राह्मण पुत्रों से कहने लगा कि- मेरे अपमान के फल ऐसे इस कुष्ठ को तुम देखो । वार्त्ता को जानकर नागरिकों से निन्दित किया हुआ राजगृह नगर में आकर नगर प्रदेश के द्वार पर स्थित हुआ ।

तभी यहाँ पर समवसरण होने पर मेरे वंदन के लिए उत्सुक हुआ द्वारपाल उस सेटुक को वही छोड़कर समवसरण में आया । सेटुक भी क्षुधा से संतप्त बना नगर-देवी के आगे रखे हुए बहुत-सारी रोटीयाँ और पक्वान आदि आकंठ तक भोजन कर प्यासा बना जल के ध्यान से मरकर नगर-द्वार की वापी में मेंढक हुआ ।

एक दिन हमें वंदन के लिए उत्सुक हुई पानी ले जानेवाली स्त्रियों के मुख से हमारे आगमन को सुनकर जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न होने से हमारे वंदन के लिए मार्ग में आता हुआ वह मेंढक तेरे घोड़े के पैर से मरण को प्राप्त हुआ हमारे ध्यान से सौधर्म-कल्प में दर्दुरांक देव हुआ । वह यही देव हैं जो इन्द्र द्वारा की गयी तेरी सम्यक्त्व प्रशंसा की श्रद्धा नहीं करता हुआ यहाँ तेरी परीक्षा के लिए आया था । इस देव ने कुष्ठ के बहाने से हमारी गोशीर्ष-चन्दन से भक्ति की हैं ।

इस प्रकार यह सुनकर श्रेणिक ने जिन से पूछा कि- इसने आपको तुम मरो इस प्रकार से क्यों कहा ? तब प्रभु ने कहा कि- देव ने भक्ति-राग से कहा है कि- हे स्वामी ! तुम संपूर्ण कर्मों के क्षय से शीघ्र ही स्वभाविक सुखवाले और जाति आदि से मुक्त मोक्ष को प्राप्त करो । फिर से राजा ने पूछा कि- इसने मुझे तुम चिर समय तक जीओ, ऐसा क्यों कहा ? स्वामी कहने लगे- यहाँ जीवित रहते हुए तुम राज्य-सुखों का अनुभव कर रहे हो और मरण को प्राप्त करने पर घोर नरक को प्राप्त करोगे, इस प्रकार के अभिप्राय से उस देव ने तुझे ऐसा कहा है । और मंत्री के प्रति जो उसने कहा था उसका कारण यह है कि यहाँ पर जीवित यह बहुत सुखों का अनुभव कर रहा हैं और मरण को प्राप्त होने पर लवसप्तमिक देव अर्थात् सर्वार्थ-सिद्ध विमान में देव होगा, इस कारण से उसने मंत्री से कहा कि तुम जीओ अथवा मरो । और कालसौरिक तो यहाँ जीवित रहते हुए नित्य ही पशु-वध कर रहा हैं और मरण को प्राप्त होने पर नरक को प्राप्त करेगा, इसलिए तुम न जीओ और न मरो, इस प्रकार से उस देव ने कहा था ।

यह सुनकर आश्चर्य-चकित हुआ राजा प्रभु को नमस्कार कर कहने लगा- आप मुझे नरक-गति निवारण का उपाय कहो ।

प्रभु ने कहा- मिथ्यात्व से पूर्व में बाँधे हुए आयु को भोगना ही पड़ता है, यही प्रतिक्रिया है। फिर भी अति-आग्रह के वश से राजा को समझाने के लिए प्रभु ने कहा कि- हे राजन् ! यदि तुम कपिला के हाथ से यतियों को दान दीलाओं और पाँच सो जीवों का वध करते हुए कालसौरिक का निवारण करो, तब तुम्हारी दुर्गति नहीं होगी ! इस प्रकार से सुनकर अपने नगर की ओर आते हुए राजा की परीक्षा के लिए ददुरांक ने मत्स्य पकड़नेवाला एक मुनि का रूप किया। मत्स्य-मांस खानेवाले उसे देखकर राजा ने कहा कि- हे भिक्षुक ! तुम इस दुष्ट कर्म को छोड़ो ! उसने कहा कि- मैं ऐसा नहीं हूँ किन्तु वीर के बहुत शिष्य ऐसे ही हैं। इसे सुनकर श्रेणिक ने कहा कि- यह तुम्हारा ही अभाग्य है और वैं तो गंगा के तरंगों के समान पुण्य-स्वरूपवाले हैं। इस प्रकार उसकी निन्दा कर अपनी नगरी में प्रवेश करता हुआ उसने एक साध्वी सदृश रूपवाली स्त्री जो लाख के रस से चरणों में रंगी हुई, औचित्य के अनुसार आभरणों को पहनी हुई, काजल के समान नेत्रोंवाली, तांबूल से भरी हुई मुखवाली तथा गर्भ-सहित देखी। उसे देखकर राजा कहने लगा कि- हे भद्रे ! यह तुम प्रवचन-विरुद्ध क्या आचरण कर रही हो ? उसने कहा कि- मैं ही ऐसी नहीं हूँ, किन्तु बहुत-सी श्रमणियाँ भी ऐसी ही हैं। राजा कहने लगा कि- रे पापिनी ! तेरा ही अभाग्य है, जिससे तुम ऐसा विरुद्ध कह रही हो।

इस प्रकार से निन्दा कर आगे चलते हुए राजा को दिव्य-रूप से विभूषित देव ने प्रणाम कर कहा कि- हे मगध के स्वामी ! तुम धन्य हो, जैसे इन्द्र के द्वारा प्रशंसा की गयी, वैसे ही समुद्र के समान तेरे दर्शन ने अपनी सीमा को नहीं छोड़ी है, इस प्रकार स्तुति कर हार और वस्त्र-युगल उसे देकर वह देव तिरोहित हुआ।

राजा भी अपने नगर में आकर और कपिला को बुलवाकर कहने लगा- तुम यतियों को दान दो । कपिला ने कहा- आप मुझसे ऐसा मत कहो और आपके आदेश से मैं अग्नि में प्रवेश करूँ अथवा हालाहल विष का भक्षण करना चाहती हूँ, किन्तु मैं इस कृत्य को नहीं करूँगी । उसे छोड़कर राजा कालसौरिक से कहने लगा कि- तुम एक अहो-रात्र तक बैलों को मत मारो ! उसने भी कहा कि- हे स्वामी ! आजन्म से प्रति-दिन ही आरंभ की हुई पाँच सो जीवों की हिंसा को मैं छोड़ नहीं सकता हूँ । क्योंकि-

मेरा अब शेष-आयु है और मैं इस जीव-हिंसा को नहीं छोड़ूँगा, दुस्तर ऐसे समुद्र को तीरकर कौन गोष्पद अर्थात् छोटे गड्ढे में गिरें ?

उसके वचन से राजा हास्य को प्राप्त कर उसे अंधे कूँ में डाला । प्रातः काल में प्रभु को नमस्कार कर कहने लगा कि- हे स्वामी ! मेरे द्वारा बैलों की हिंसा करनेवाला वह कालसौरिक निषेध किया गया है । स्वामी ने कहा- वह कूँ में मिट्टी से बने पाँच सो बैलों का निर्माण कर हिंसा कर रहा है । श्रेणिक उसे सुनकर प्रभु से कहने लगा कि- हे नाथ ! आप कृपा- निधि को छोड़कर मैं किसके शरण में जाऊँ ? स्वामी ने कहा कि- हे वत्स ! तुम विषाद मत करो, आगामी तृतीय-भव में सम्यक्त्व की महिमा से तुम मेरे समान पद्मनाभ नामक तीर्थंकर बनोगे । (यहाँ पर बहुत कहने योग्य हैं, उसे आप उपदेश-कन्दली से जानें) ।

इस प्रकार प्रभु के वाक्य को सुनकर और हर्ष के साथ अपनी नगरी में आकर वह धर्म-कृत्यों को करने लगा । वह तीनों काल जिन-पूजा करता है और प्रति-दिन जिनेश्वर के आगे एक सो और आठ स्वर्ण चावलों से स्वस्तिक को करता है और वह अविरति के

उदय से स्वयंभूरमण-समुद्र के मत्स्य के भक्षण नियम को भी नहीं ले सकता था । इस प्रकार से अविरत होता हुआ भी श्रेणिक क्षायिक-सम्यक्त्व के बल से श्रीवीर प्रभु के समान ही बहोत्तर वर्ष की आयुवाला और सात हाथ की ऊँचाईवाला प्रथम तीर्थंकर बनेगा ।

श्रीश्रेणिक आद्य-भूमि में चौरासी हजार वर्ष ऐसे नियत-आयु को भोगकर क्षायिक-दर्शन के सद्-भाव से तीर्थंकर होगा ।

इस प्रकार संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में तथा इस प्रथम स्तंभ में क्षायिक-सम्यक्त्व के ऊपर श्रीश्रेणिक-राजा का यह चौथा प्रबंध संपूर्ण हुआ ।



पाँचवाँ व्याख्यान

यह सम्यक्त्व श्रद्धा आदि सम्यक्त्व के सडसठ प्रकारों से विशुद्ध होता हैं । अब मैं सम्यक्त्व के सडसठ भेदों को कहूँगा । वहाँ प्रथम चार श्रद्धा के भेद हैं । उनमें से आद्य भेद परमार्थ-संस्तव हैं और अब उसका स्वरूप कहा जाता हैं ।

जीव-अजीव आदि तत्त्वों का सत् आदि सात पदों से हमेशा चित्त में चिन्तन करना, वह प्रथम श्रद्धा हैं ।

जीव-प्राणों को धारण करते हैं, वे जीव हैं और उनसे विलक्षण-विपरीत अजीव हैं । आदि शब्द से पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का उपग्रहण हैं । उन तत्त्वों का सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, अल्प-बहुत्व, इन सात स्थानों से हमेशा-पुनः पुनः, उनका मन में चिन्तन-पर्यालोचन करना वह सम्यक्त्व की परमार्थ-संस्तव नामक और परम-रहस्य परिचय नामक प्रथम श्रद्धा हैं ।

अंगारमर्दक आदि को भी परमार्थ-संस्तव आदि की संभावना नहीं होने से, व्यभिचार नहीं हैं। और यहाँ पर तात्त्विकों का ही इनके अधिकारपने से और इन तत्त्वों का तथाविधों को अधिकारपने की असंभावना नहीं होने से, अतः इस विषय में अभय का दृष्टांत कहा जाता है।

औत्पत्ति आदि बुद्धियों का घर रूप और मंत्रियों में श्रेष्ठ ऐसे अभय ने तत्त्वों के परिचय से सर्वार्थ-सिद्ध के सुख को प्राप्त किया था।

राजगृह नगर में प्रसेनजित् राजा राज्य कर रहा था और उसे श्रेणिक आदि सो पुत्र थे। एक दिन राजा ने राज्य के योग्य पुत्र की परीक्षा के लिए पुत्रों के खाने के लिए खीर की थालियाँ अर्पण की। उसके बाद भोजन करने के लिए प्रवृत्त हुए पुत्रों के ऊपर राजा ने क्षुधा से कृश ऐसे कुत्तों को छोड़ें। तब श्रेणिक के बिना भोजन से खरंटित हाथवाले ऐसे अन्य कुमार कुत्तों के आजाने पर खड़े हुए किन्तु श्रेणिक ने सहोदरों के भाजनों को कुत्तों के आगे डाला और स्वयं भोजन करने लगा। राजा ने उस वृत्तांत को सुनकर मन में उसकी प्रशंसा की और बाहर श्रेणिक से कहा- तुमको धिक्कार हैं जो कुत्तों के साथ तूने भोजन किया है। फिर से भी परीक्षा के लिए ढंके हुए तथा खाद्य आदि से भरे हुए मोदकों के करण्डकों को और जल-कोरक कुंभों को पुत्रों को देकर राजा ने कहा कि- हे पुत्रों! तुम इनको खोले बिना ही पक्वान्न का भोजन करो और जल को पीओ। श्रेणिक ने भूख से पीड़ित उनको देखकर रहस्य में करंडको को हिला-हिलाकर शलाका के अंदर से निकले हुए चूर्ण के द्वारा तथा कुंभों के ऊपर ढंके हुए वस्त्रों को नीचो-नीचोकर उससे निकले हुए जल से कुमारों को तृप्त किया। उसे सुनकर राजा ने कहा कि- जिसकी ऐसी बुद्धि है, वह खाद्यों के चूर्ण करने से रंक ही है।

एक दिन राजा के गृह के जल जाने पर अन्य कुमार मणि-माणिक्य आदि को ग्रहण करने लगे, किन्तु श्रेणिक ने राजा के प्रथम जय-चिह्न ऐसे भंभा को ग्रहण किया। तब प्रसेनजित् राजा ने उसका भंभासार नाम रखा। तब श्रेणिक के बिना अन्य कुमारों को पृथक्-पृथक् देश दीये। उस अपमान से श्रेणिक अपने पिता के नगर से निकलकर क्रम से वेनातट नगर में आया। उस नगर में प्रवेश कर प्रथम भद्र नामक श्रेष्ठी के दूकान पर बैठा। श्रेष्ठी ने उसके माहात्म्य से बहुत धन का उपार्जन किया। तब श्रेष्ठी ने उससे कहा कि- हे पुण्य-निधि। आज तुम किसके अतिथि हो? श्रेणिक हँसकर कहने लगा- आपका ही। यह सुनकर भद्र ने हृदय के अंदर विचार किया- आज मैंने स्वप्न में पुत्री के जिस योग्य वर को देखा है, वह यह आ गया है। इस प्रकार से विचारकर उस श्रेष्ठी ने अपनी दूकान को बंदकर, उस कुमार को अपने साथ ही स्व-गृह में ले गया। उस श्रेष्ठी ने गौरव के पात्र ऐसे उस श्रेणिक का स्नान, भोजन आदि से गौरव किया।

श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री सुनन्दा का महोत्सव सहित श्रेणिक के साथ विवाह कराया। उसकी सुनन्दा के साथ प्रीति हुई। सुनन्दा ने क्रम से गर्भ को धारण किया। श्रेणिक ने उसके जिन-पूजन, गज-आरोहण, हिंसा-त्याजन आदि अनेक दोहदों को पूर्ण कीये। इस ओर प्रसेनजित् राजा पुत्र-वियोग से अति-दुःखित हुआ किसी सार्थ के मुख से पुत्र के बारे में सुना कि- श्रेणिक वेनातट नगर में है। मरणांत कृत रोग से मृत्यु को समीप में जानकर राजा ने शीघ्र से श्रेणिक को लाने के लिए ऊँट सवारों को आदेश दिया। श्रेणिक ने उन ऊँटसवारों से अपने पिता को हुए रोग को जानकर प्रिया से कहने लगा- मैं पिता के पास जाऊँगा और तुम अब यहाँ पर ही रहो। और तुझे जो पुत्र

होगा, उसका नाम अभय देना । सुनन्दा ने कहा-जब पुत्र आठ-वर्षीय होगा और पूछेगा कि मेरे पिता कहाँ पर हैं, तब मैं उसे क्या कहूँ? तब भंभासार ने खड़ी से भारपट्ट पर इस प्रकार से अक्षरों को लिखें कि- राजगृह नगर में सफेद दीवारवाले हम गोपालक रह रहे हैं । इस प्रकार आह्वान-मंत्र के समान इन अक्षरों को लिखकर नन्दा को अर्पण किया । तत्पश्चात् प्रिया को समझाकर और राजगृह में जाकर श्रेणिक माता-पिता के चरणों में गिरा । राजा उसे देखकर हर्षित हुआ और हर्ष के अश्रु जल सहित स्वर्ण-कुंभ के पानी से बड़े महोत्सव के साथ राज्य पर अभिषेक किया । राजा स्वयं ने तप का अंगीकार किया और क्रम से स्वर्ग को प्राप्त किया ।

अन्य दिन श्रेणिक ने परीक्षा कर-करके चार सो और निन्यान्हवें मंत्रियों को स्थापित किया और एक ईंगित-आकार को जाननेवाले और श्रेष्ठ मंत्री को करने की इच्छा से राजा श्रेणिक ने अपनी अंगूठी को जल-रहित कूँ में डाली और इस प्रकार से घोषणा की - जो कूँ के काँठें से इस अंगूठी को हाथ से ग्रहण करेगा, उसकी मंत्रियों में धुर्यता होगी । उससे सभी मंत्री आदि वहाँ आकर उस अंगूठी को निकालने का उपक्रम करने लगे । वहाँ वे सभी खेदित हुए । इस ओर सुनन्दा ने पुत्र को जन्म दिया । उसका अभय-कुमार नाम रखा । बढ़ता हुआ क्रम से लेख-शाला में छोड़ा हुआ अभय ने दक्षता को प्राप्त की ।

एक दिन कलह को करते हुए लेख-शालकों ने अभय से कहा कि- यह पिता-रहित हैं । उससे खेदित हुए अभय ने माता से पिता के स्वरूप को पूछा । माता ने कहा- मैं नहीं जानती हूँ, कोई वैदेशिक विवाहित कर चला गया हैं, परंतु भार-पट्टक पर अक्षर लिखें हुए हैं । उसे पढ़कर और पिता के स्वरूप को समझकर अभय ने नन्दा से कहा

कि- मेरे पिता राजगृह के स्वामी हैं, उससे हम वहाँ चलें। नानी को पूछकर अभय नन्दा के साथ राजगृह नगर के उद्यान में आया। अपनी माता को वही छोड़कर अभय कूँ के समीप में गया। वहाँ लोगों ने अंगूठी के स्वरूप को कहा ! उसे सुनकर थोड़े हँसते हुए अभय ने कहा कि - यह दुष्कर नहीं है, इस प्रकार से कहकर कुमार ने पहले भीगे हुए गोबर को अंगूठी के ऊपर डाला। और उसके ऊपर बहुत अग्नि डाली। तभी वह गोबर सूख गया और उसके बाद में पानी से कूँ को पूर्ण किया। कूँ के पूर्ण हो जाने पर अंगूठी ऊपर आ गयी। अभय ने तीरते हुए उस गोबर को हाथ से लिया। उसे सुनकर आनंदित हुआ राजा वहाँ आकर और उसे देखकर अत्यंत हर्षित हुआ।

राजा ने आलिंगन कर उसे पूछा कि- हे वत्स ! तुम इस नगर में कहाँ से आये हो ? प्रणाम कर उसने कहा कि- आज मैं यहाँ वेनातट नामक नगर से आया हूँ। राजा ने पूछा- तुम किसके पुत्र हो ? उसने कहा- मैं राजा का पुत्र हूँ। राजा ने पूछा- वहाँ तुम भद्र की पुत्री के स्वरूप को जानते हो ? उसने कहा- उसे पुत्र हुआ है। उसका नाम अभय दिया है। वह रूप से, गुण से और वय से मेरे समान हैं। हे नाथ ! मुझे देखने से निश्चय ही वही देखा गया है। उसके साथ मेरी अतीव सौहार्दता है और उसके बिना क्षण भी रहने के लिए मैं समर्थ नहीं हूँ। राजा ने कहा- तो उसे छोड़कर यहाँ कैसे आये हो ? उसने कहा- उसे और उसकी माता को इस उद्यान में छोड़कर मैं आया हूँ। राजा उस वन में जाकर प्रिया से मिला। राजा ने कहा- तब जो गर्भ हुआ था, वह कहाँ है ? उसने कहा- यही पुत्र है। राजा ने कहा- हे पुत्र ! तूने इस प्रकार झूठ क्यों कहा ? अभय कहा- मैं सदा माता के हृदय में निवास करता हूँ, उससे ऐसा कहा था। तब राजा ने अभय को अपनी गोद में बिठाया। अब राजा संमुख जाकर ऊँची

ध्वजाओंवाले नगर में नंदा को प्रकृष्ट आनंद से प्रवेश कराया और उन मंत्रिओं में इस पुत्र को प्रधान किया । राजा ने बुद्धिशाली उस अभय को आगे कर बहुत देशों को साधें ।

अब एक दिन बहुत देव-दवी, साधु-साध्वी से संकुलित श्रीवीर की सभा में एक शांत और कृश शरीरवाले महर्षि को देखकर अभय ने इस प्रकार से कहा कि- हे भगवन् ! ये साक्षात् कौन यति दीखायी दे रहे हैं ? प्रभु ने कहा- वीरपत्तन का स्वामी और न्यायी यह उदायन राजा मेरे वंदन के लिए आया था, तब मेरे द्वारा धर्मो-पदेश दिया गया-

सन्ध्या के रंग और पानी के परपोटे के समान तथा जल-बिन्दु के समान यह जीवन चंचल हैं । नदी के वेग के समान यौवन हैं, हे पापी-जीव ! क्या तुम यह नहीं जानते हो ? अहो ! इस संसार में कहीं पर भी मोक्ष के समान सुख नहीं हैं । अब तुम यहाँ अंगार-दाहक के दृष्टान्त को सुनो-

यहाँ एक अंगारकार पानी के घड़े को लेकर वन में गया । प्यास से पीड़ित हुए उसने कुंभ से उस समस्त पानी को पीया । ऊपर से सूर्य के ताप से तथा पास में अग्नि के जलने से और काष्ठ-कुड्न के खेद से वह फिर से भी प्यास से पीड़ित हुआ । उससे मूर्च्छा की प्राप्ति से वह गाढ रीति से सो गया । तब स्वप्न में उसने सर्व ही गृह के, सरोवर, कूँ, नदी, हृद और समुद्र के जल को समस्त ही पीया, परंतु फिर भी उसकी तृष्णा शांत नहीं हुई ! उसके बाद जीर्ण बने हुए कूँ में घास की गठरी को ग्रहण कर उससे लाये गये और नीचे पड़ते हुए शेष पानी को वह जीभ से घूँट-घूँट कर पीने लगा । जो तृष्णा समुद्र के पानी से भी नहीं छेदी गयी, वह क्या उस पानी से छेदित होगी ?

उसके समान ही अनेक स्वर्गादि के सुख को भोगने पर भी जर्जरित हुए अंगवाले ये भौतिक सुख जीव की तृप्ति के लिए नहीं होते हैं । इस प्रकार की वैराग्य रूपी वाणी से प्रतिबोधित हुए इसने दीक्षा को ग्रहण की । यह अंतिमराजर्षि इसी भव में सर्व कर्म-क्षय कर मोक्ष जायगा ।

अभय अपने घर जाकर पिता से कहा कि- हे नाथ ! मैं आपकी आज्ञा से प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ । आप कृपा करो और दीक्षा दीलाओं क्योंकि पुण्योदय से पंडित ऐसे आप पिता को और देव-गुरु ऐसे वीर जिनेश्वर को प्राप्त कर यदि मैं अब भी दुष्कर्म का मर्म-मंथन न करूँ, तो हे पिताजी ! मेरे समान दूसरा कौन मूढ़ है ? अब उस पुत्र को आलिंगन कर राजा ने कहा कि- जब मैं रोष से तुझे कहूँगा कि- रे पापी ! मेरे सामने से तू चला जा और अपना मुख मत दीखा, तब हे वत्स ! तुम दीक्षा को ग्रहण करना ! अभय ने पिता के वाक्य को स्वीकार कर भक्ति से राजा की सेवा करने लगा ।

अब एक बार दुर्द्धर ऐसे शीत-ऋतु के समय में श्रीवीरजिन ने गुणशिल-चैत्य में समवसरण किया । श्रेणिक उस परमेश्वर को नमस्कार कर और धर्म को सुनकर चेलणा-देवी से युक्त वापिस लौटा ! मार्ग में नदी के तट पर शान्त, दान्त और कायोत्सर्ग में स्थित एक साधु को नमस्कार कर अपराह्न के समय अपने गृह में आया । रात्रि के समय वास-गृह में चेलणा के साथ रति के सौख्य का सेवन कर राजा सो गया । देवी का हाथ रजाई से बाहर आ गया । हाथ शीत से पीड़ित हो जाने पर वह निद्रा-रहित हुई । चेलणा सीत्कार करती हुई उस हाथ को शीघ्र से आच्छादन के मध्य में ले गयी ! तब निरावरण उन मुनि का स्मरण हो जाने से वह कहने लगी कि- अहो ! इस प्रकार प्राणांत कर शीत के गिरने पर वैं अब कैसे होंगे ? श्रेणिक

प्रिया के इस वचन को सुनकर अकस्मात् ही जाग गया और यह विचारने लगा कि- मेरी प्रिया दुराचारिणी है । मुझसे भी इसे दूसरा पुरुष प्रिय हैं । उससे यह निश्चय ही दुःशीला है, तो अन्य भी दुःशीला हों । इस प्रकार चित्त में रोष को धारण करते हुए राजा ने उस रात्रि को व्यतीत की । प्रायः कर चतुर पति भी ईर्ष्या रहित नहीं होता । इस प्रकार राजा के सोचते-सोचते सूर्य-उदय हुआ । प्रातः अभय को बुलाकर कहने लगा कि- यह मेरा अंतःपुर दुराचारी हैं, उससे शीघ्र ही अंतःपुर जलाया जाय, इसमें शंका मत करना । उसे सुनकर अभय ने कहा कि- हे पिताजी ! आपका वचन प्रमाण हैं । उसके बाद श्रेणिक जिनेश्वर को वंदन करने गया । उसने वीर भगवान से पूछा कि- हे भगवन् ! क्या यह चेटक-पुत्री सती हैं अथवा असती हैं ?

स्वामी ने कहा कि- हे श्रेणिक ! तेरी समस्त ही धर्म-पत्नियाँ सती हैं । चेलणा ने रात्रि के समय में ऐसे शीत में उस मुनि का स्मरण कर कहा था कि- वे कैसे होंगे ? यह सुनकर श्रेणिक शीघ्र से अपने नगर की ओर दौड़ा । इस ओर अभय ने सोचा कि- मेरे पिता ने जो आदेश दिया है, यदि मैं उस कार्य को सहसा ही करूँ तो विषाद के लिए होगा । इस प्रकार से विचारकर अंतःपुर के समीप में ही उद्वासित कीये तृण-गृहों को कर अभय ने उनको जला दीये । उसके बाद वह समवसरण के अभिमुख निकला । मार्ग में राजा ने अभय को देखकर कहा- तूने क्या किया ? अभय ने कहा- मैंने आपका कहा किया । राजा कहने लगा- मेरी दृष्टियों के सामने से चले जाओ और अपना मुख मत दीखाओ, इस प्रकार कौन विचार कीये बिना कार्य को करता है ? उसे सुनकर अभय ने- पिता का वाक्य प्रमाण हैं, इस प्रकार से कहकर और आगे जाकर वीर के पास में दीक्षा ली ।

इस ओर राजा ने वहाँ जलाई हुई तृण-कुटीरों को देखकर

विचारने लगा कि- अहो ! उसने कपट से मुझे छलित किया हैं, निश्चय ही अभय ने दीक्षा ग्रहण की होगी । तब मुट्ठी को बाँधकर के जब वह समवसरण में गया, तब व्रत ग्रहण कीये हुए अभय को देखकर श्रेणिक ने कहा कि- मैं तुम्हारे द्वारा छलित किया गया हूँ, इस प्रकार से कहकर और दोनों पादों में प्रणाम कर तथा क्षमा माँगकर गृह चला गया । अभय प्रभु के पाद के समीप में तीव्र तप कर सर्वार्थ-सिद्धि को प्राप्त की । [किसी कथा में महोत्सव पूर्वक - अभय की दीक्षा का वर्णन भी है]

इस प्रकार जैसे आर्हत्-धर्मधारी अभय ने परमार्थ-सुसंस्तव को किया था, वैसे ही यदि तुम्हारी मोक्ष रूपी वधू के आलिंगन की इच्छा हैं, तो तुम उसे करो ।

इस प्रकार संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में प्रथम स्तंभ में पाँचवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



छठा व्याख्यान

अब सुंदर रीति से परमार्थ को जाननेवाले ऐसे अर्हन्-मुनियों का पर्युपास्ति-करण रूप द्वितीय-भेद का विवरण किया जाता हैं-

गीतार्थ, और संयम से युक्त उनकी तीन प्रकार से सेवा करना, वह द्वितीय श्रद्धा होती हैं, जो बोध में पुष्टि करनेवाली हैं ।

इसकी अक्षर-गमनिका इस प्रकार से हैं -गीतं-सूत्र, अर्थ और उसका विचार, यह दोनों जिनके पास में हैं वे गीतार्थ हैं । संयम-सर्व-विरति रूप हैं, वह पाँच आश्रवों से विरमण, पाँच इंद्रियों का निग्रह, चार कषायों का जय और तीन दंडों से विरति, इस

प्रकार से सतरह भेदवाला हैं, उस संयम में रक्त-तल्लीन-मनवाले जो मुनि उनकी, और शब्द से- ज्ञानियों की, दर्शन से युक्त ऐसी उनकी भी, तीन प्रकार से-मन, वचन और काया से । सेवा करना- विनय, बहुमान, परिचरण के द्वारा । अन्यथा शिकारी के नमन के समान निष्फल होता हैं । इस गुण से युक्त वह द्वितीय, श्रद्धा होती है और उसे यथार्थवंत परिज्ञान में पुष्टि-कारिणी जानें । वह श्रद्धा सम्यक्त्व को स्फटिक के समान स्वच्छ करती हैं । इस विषय में पुष्पचूला का उदाहरण हैं-

गीतार्थ की सेवा में आसक्त हुई पुष्पचूला महासती ने सर्व कर्म के क्षय से उज्ज्वल केवलज्ञान को प्राप्त किया ।

भरत-क्षेत्र में पृथ्वीपुर में पुष्पकेतु राजा था । उसकी पुष्पवती प्रिया थी । उन दोनों को पुष्पचूला-पुष्पचूल नामक पुत्री-पुत्र का युगल हुआ । वे दोनों ही अन्योन्य प्रेमशाली और विरह होने पर निधन प्राप्त करने की इच्छावाले थे । राजा यह जानकर विचारने लगा- ये दोनों पृथक्-पृथक् विवाहित कीये हुए परस्पर विरह के ज्वर से पीड़ित हुए मरण को प्राप्त करेंगे । अतः मैं इन दोनों का परस्पर पाणिग्रहण कराता हूँ । इस प्रकार से विचार कर मंत्री और नागरिकों को बुलाकर राजा कहने लगा- अंतःपुर में जो रत्न उत्पन्न होता हैं, उसका स्वामी कौन हैं ? उन्होंने विज्ञप्ति की- सकल मंडल में उत्पन्न हुए रत्न के आप ही स्वामी हो, तो अंतःपुर की बात ही क्या हैं ? आप ही उसके स्वामी हो । राजा अंतःपुर में उत्पन्न हुए उस रत्न का जो कुछ-भी करता हैं, वह सभी को मान्य हैं । इस प्रकार छल से उनकी अनुमति को लेकर प्रिया के द्वारा निषेध करने पर भी उस पुत्र-पुत्री युगल का परस्पर विवाह किया । उस स्वरूप को देखकर उन दोनों की माता ने वैराग्य से व्रत को ग्रहण कर और तपश्चर्या कर स्वर्ग में देव हुई ।

एक दिन पुष्पकेतु के मरण प्राप्त हो जाने पर पुष्पचूल राजा हुआ। वह पुष्पचूला के साथ भोगों को भोगने लगा। अहो ! विश्व में कामान्ध कार्य-अकार्य को नहीं जानता। पुष्पवती का जीव देव अवधि-ज्ञान से पुत्र-पुत्री के अकृत्य को जानकर, पुष्पचूला को पूर्व प्रीति के वश से स्वप्न में भय-उत्पादक नरक दीखाये। उसके भय से जागी हुई पुष्पचूला ने पति के आगे वह समस्त ही निवेदन किया। उससे राजा ने बौद्ध आदि को बुलाकर पूछा कि- नरक कैसे होते हैं? कोई गर्भ-आवास को कहने लगे, कोई गुप्ति-वास को, कोई दारिद्र्य को और कोई पारतंत्र्य को। रानी ने बौद्ध आदि के द्वारा कहे गये को सुनकर कहा कि- इस प्रकार के नरक नहीं हैं।

अब राजा अर्णिकापुत्र आचार्य के समीप में जाकर नरक के स्वरूप को पूछा। गुरु ने कहा- सात नरक पृथ्वीओं में क्रम से एक, तीन, सात, दस, सत्तरह, बावीस और तैंतीस सागरोपम की स्थिति हैं और क्षेत्र से उत्पन्न हुई वेदनाएँ हैं। रानी ने यथा-स्थित गुरु के द्वारा कहे गये को सुनकर कहा कि- अहो ! क्या आपने भी उस स्वप्न को देखा है ? गुरु ने कहा कि - हे शुभे ! हम जिन-आगम से जानते हैं ! पुष्पचूला ने कहा कि - हे भगवन् ! किस कर्म से नरक में जाया जाता है ? गुरु ने कहा - जीव महा-आरंभ और विषय आदि से नरक में गिरते हैं। पुनः रात्री के समय में उस देव ने पुष्पचूला को स्वप्न में स्वर्ग दिखाये। वैसे ही राजा ने पाखंडियों से स्वर्ग-स्वरूप को पूछा और वे कहने लगे कि - जहाँ चिन्तित प्राप्त किया जाता है, वही स्वर्ग कहा जाता है। तब गुरु से पूछने पर उन्होंने कहा कि- देव निरूपम सुखवाले और सर्वालंकार धारण करनेवाले होते हैं। सम्यक् गृह-धर्म और मुनि-धर्म के सेवन से देव-लोक के सुख प्राप्त कीये जाते हैं। उससे प्रतिबोधित हुई उस रानी ने कहा कि- हे पति ! आप मुझे

प्रब्रज्या ग्रहण की अनुज्ञा दो ! राजा ने कहा कि- हे प्रिये ! मैं तेरे वियोग को क्षण भी सहन नहीं कर सकता हूँ। गाढ निर्बन्ध होने पर राजा ने उसे यह कहा कि- हे प्रिये ! यदि दीक्षावती तुम मेरे ही गृह में भिक्षा को ग्रहण करोगी, तो मैं तुझे अनुज्ञा देता हूँ।

इस प्रकार राजा के वचन को स्वीकार कर उसने बड़े महोत्सव पूर्वक अर्णिकापुत्र आचार्य के समीप में प्रब्रज्या ली। अन्य दिन सूरि ने श्रुत के उपयोग से भावी दुर्भिक्ष को जानकर गच्छ को देशान्तर में भेजा। स्वयं वृद्धत्व के कारण से वही ठहरें। वह निर्दोष-आहार से, अग्लान-वृत्ति से गुरु की वैयावच्च करती हुई क्षपकश्रेणी पर आरोहण कर उसने केवलज्ञान प्राप्त किया। फिर भी गुरु की वैयावच्च से वह विरमित नहीं हुई और विपरीत ही गुरु के अभीष्ट को लाकर अर्पण करती थी। सूरिओं में चन्द्र तुल्य उन आचार्य ने उससे कहा- तुम मेरे मनो-अभीष्ट को प्रति-दिन कैसे जानती हो ? उसने कहा- हे भगवन् ! जो जिसका शिष्य होता है, क्या वह उसके भाव को नहीं जानता ?

एक दिन वह मेघ के बरसते हुए होने पर पिंड को ले आयी ! तब सूरि ने कहा कि- हे वत्से ! तुम श्रुतज्ञ हो, ऐसे मेघ के बरसने पर तुम क्यों आहार को ले आयी हो ? उसने कहा- जिन प्रदेशों में अप्काय अचित्त हैं, उन प्रदेशों में यत्न से मैंने आहार लाया है, उससे यह अशुद्ध नहीं है। गुरु ने पूछा- तूने अचित्त प्रदेश को कैसे जाना है ? उसने कहा- ज्ञान से, सूरि ने कहा- कौन-से ज्ञान से, प्रतिपाति अथवा अप्रतिपाति ज्ञान से ? उसने कहा- पंचम ज्ञान से। उससे सूरि- अहो ! मैंने केवली की आशातना की है, इस प्रकार से कहकर और मिथ्या दुष्कृत देकर उस साध्वी से पूछा- क्या मैं सिद्ध होऊँगा अथवा नहीं ? केवली ने कहा- गंगा को पार उतरते हुए आपको

केवल ज्ञान होगा । इस प्रकार सुनकर सूरि-राज जनों के साथ गंगा को पार उतरने के लिए नाव में चढ़ें । वें सूरि जहाँ-जहाँ बैठें वहाँ-वहाँ नाव झूकने लगी । उसके बाद मुनि नाव-मध्य में बैठे, समस्त भी नाव डूबने लगी । तब सूरि लोगों के द्वारा जल में डालें गये । अत्यंत अपमानित की हुई पूर्व भव की पत्नी जो व्यंतरी हुई थी, उसने उनको जल के अंदर शूल में पिरोया । शूल से आर-पार होते हुए भी- हा ! मेरे रुधिर से अप्काय-जीव मर रहें हैं, इस प्रकार की भावना से अन्तकृत-केवली होकर मोक्ष में गये । तब वहाँ आसन्न देवों ने उनके कैवल्य-महोत्सव को किया । अतः वह लोक में प्रयाग नामक तीर्थ हुआ । वहाँ पर-समय के माहेश्वर लोग अपने अंग में आरे को दीलाते हैं ।

अब पुष्पचूला साध्वी पृथ्वी ऊपर विहार कर सकल कर्म-मल के क्षय से अनंत-आनंदमय, कल्याणकारी और रोग-रहित स्थान को प्राप्त किया । गुणों से प्रशस्त और पवित्र ऐसे कहे हुए श्रीपुष्पचूला-चरित्र को सुनकर जो भव्य गुरुओं के चरणों में रक्त होते हैं, ये सुख रूपी गृह में क्रीड़ा करते हैं ।

इस प्रकार से संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में, इस प्रथम स्तंभ में छट्ठा व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

सातवाँ व्याख्यान

अब तीसरे व्यापन्न-दर्शन लक्षणवाले भेद की व्याख्या करने की इच्छा से कहते हैं कि- असद्ग्रहों से जिन निहवों का दर्शन व्यापन्न हुआ हैं, उनका संग नहीं करना चाहिए, यह तृतीय श्रद्धा हैं ।

असद्ग्रहों से - अभिमत व्यवस्थापक कदाग्रहों से, व्यापन्न-

नष्ट हुआ हैं, दर्शन-सर्व नय वस्तु बोध रूप सम्यक्त्व, जिन निहवों का-यथा-अवस्थित समस्त वस्तु की प्रतिपत्ति में भी एकत्र किसी अर्थ में अन्यथा प्रतिपत्ति से जैसे जिन-वचन को निहवते-अपलाप करते हैं, वें निहव हैं, ऐसे उनकी, उपलक्षण से पार्श्वस्थ, कुशील आदि की । उनका संग-संपर्क छोड़ने योग्य ही है, अन्यथा दर्शन-हानि होती हैं, इस प्रकार से यह तृतीय श्रद्धा हैं ।

इस विषय में गत-दर्शन ऐसे जमालि आदि का उदाहरण इस प्रकार से हैं-

कुंडपुर नामक नगर में भगवान् श्रीमहावीर का भानजा जमालि नामक राज-पुत्र निवास करता था । श्रीवर्धमान की सुदर्शना नामक पुत्री उसकी पत्नी थी । जमालि उसके साथ भोगों को भोगने लगा । एक दिन प्रभु विहार करते हुए वहाँ पधारें । प्रभु को आये जानकर जमालि वहाँ जाकर और प्रदक्षिणा पूर्वक नमस्कार कर इस प्रकार धर्म-देशना को सनने लगा-

मेरा गृह, मित्र, पुत्र स्त्रीयों का वर्ग, धन, धान्य, व्यवसाय-लाभ, इस प्रकार करता हुआ मूढ़ नहीं जानता कि- यहाँ जन्तु इन सर्व को छोड़कर चला जाता हैं ।

इस प्रकार के वचन को सुनकर और घर जाकर बड़े आदर से माता-पिता की आज्ञा लेकर उसने पाँच सो क्षत्रियों के साथ में प्रव्रज्या ग्रहण की । उसके पीछे सुदर्शना ने भी हजार स्त्रियों के साथ में प्रव्रज्या ग्रहण की । ग्यारह अंगों को पढ़ लेने पर उसने प्रभु से विहार के लिए पूछा । प्रभु मौन रहे और कुछ-भी उत्तर नहीं दिया । फिर भी वहाँ से निकलकर पाँच सो साधुओं से युक्त श्रावस्ती में गया । वहाँ तिंदुक-उद्यान चैत्य में स्थित हुआ । और अन्त-प्रान्त आहार से उसे तीव्र रोग-आतंक उत्पन्न हुआ, उससे बैठा हुआ वह खड़े होने

मैं समर्थ नहीं हुआ, तब उसने श्रमणों से कहा- मेरे निमित्त तुम शीघ्र से संस्तारक को बीछाओं, जिससे मैं वहाँ पर बैठ सकूँ। तब वे उसे करने लगे। अत्यंत दाह के ज्वर से अभिभूत हुए जमालि ने पूछा- संस्तारक को बिछाया अथवा नहीं? साधुओं ने प्रायः कर बिछा लेने से, अर्ध बिछाने पर भी कहा कि- बिछा दिया है। उससे वेदना से विह्वलित चित्तवाला यह उठकर वहाँ पर बैठने की इच्छावाला हुआ, अर्ध बिछाएँ उसे देखकर क्रोधित हुआ। क्रियमाणं कृतं किया जाता हुआ किया गया इत्यादि वचन का स्मरण कर मिथ्यात्व के उदय से युक्तिओं से कहा जाता हुआ यह झूठ हैं, और सोचने लगा कि- किया जाता हुआ- किया गया और चलता हुआ-चला इत्यादि भगवान् का वचन झूठ हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष ही मेरे समक्ष मैं यह बिछाया गया है, उससे किया जाता हुआ संस्तारक नहीं किया गया है। उससे सभी की जाती हुई वस्तु कृत नहीं होती हैं। किंतु कृत ही की गयी हैं, इस प्रकार से कहा जाता है। जो क्रिया-काल के अंत में ही घट आदि कार्य होता हुआ दिखायी देता है और चक्र पर घूमते आदि काल में नहीं दिखायी देता है। आबाल को यह प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। इस प्रकार विचारकर स्वस्थ हो जाने के बाद उसने साधुओं को स्व-कल्पित कहा। तब अपने गच्छ के स्थविरो ने यह कहा कि- हे आचार्य! भगवान् का यह वाक्य सत्य ही है और न ही प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। क्योंकि एक घट आदि कार्य में संख्या-अतीत अवांतर कारण-कार्य होते हैं। मिट्टी का लाना, रौंदन, पिंड करना, शिवक-स्थास आदि का काल सर्व भी घट बनाने का क्रिया-काल, इस प्रकार आपका अभिप्राय है वह अयुक्त है। क्योंकि वहाँ प्रति समय अन्य-अन्य कार्य प्रारंभ कीये जाते हैं और वे निष्पन्न होते हैं, कार्य के करण-काल और निष्ठा-काल के एकपने से और घट तो प्रथम समय में ही प्रारंभ किया जाता

हैं, तभी वह निष्पन्न होता है । यहाँ बहुत कहने योग्य हैं, उसे महाभाष्य से जानें । तथा अर्ध बिछाएँ हुए को देखकर आपने जो कहा था, वह भी अयुक्त ही हैं, क्योंकि जो, जब और जिस आकाश के प्रदेश में बिछाया जाता है, वह, तब, वहाँ यह बिछाया हुआ ही है । पश्चात् के वस्त्र के बिछाने के समय से यह बिछाया हुआ ही है । भगवान् के वचन विशिष्ट समय की अपेक्षावाले होते हैं, इसलिए ही दोष रहित हैं । इत्यादि युक्तियों से बोधित नहीं होते देखकर उसे छोड़कर वें स्थविर श्रीमद्वीर के समीप में गये ।

सुदर्शना भी तब वहीं श्रावक ऐसे ढंक कुंभकार के घर में थीं । उसने जमालि के अनुराग से उसके मत को ही स्वीकार किया था । वह ढंक को भी व्युद्ग्राहित करने लगी । उससे ढंक ने उसे मिथ्यात्व को प्राप्त हुई जानकर कहने लगा- ऐसा हम कुछ-भी नहीं जानते हैं । एक दिन आपाक के मध्य में मिट्टी के बर्तन को ऊपर-नीचे करते हुए उस ढंक ने उसी प्रदेश में स्वाध्याय करती हुई सुदर्शना के वस्त्र के एक भाग में एक अंगार को डालकर संघाटिक-आँचल को जला दिया । उसने कहा- हे श्रावक ! तूने मेरी संघाटिका जलायी । उसने कहा कि- निश्चय ही जलाया जाता हुआ जलाया गया है , यह भगवन्तों का सिद्धांत है । उससे कहाँ और किसने आपकी संघाटिका को जलायी है ? इत्यादि उसके कहे पर विचारकर और प्रतिबोधित हुई उसने- मैं सम्यग् रीति से प्रेरित की गयी हूँ, इस प्रकार कहकर और मिथ्या दुष्कृत को देकर जमालि के पास में जाकर प्रज्ञापित किया । जब वह कैसे भी प्रतिबोधित नहीं हुआ, तब उसे अकेला छोड़कर वह भगवान् के समीप में आयी ।

एक दिन जमालि चंपा में जाकर श्रीवीरविभु से कहने लगा कि- हे जिन ! आपके अन्य शिष्य मुझे छोड़कर छद्मस्थ अवस्था से

ही विहार करते हैं । और मैं उत्पन्न हुए ज्ञान-दर्शन सहित अर्हन्, सर्वज्ञ हुआ हूँ । तब गौतम ने उसे कहा कि- हे जमालि ! तुम ऐसा मत कहो, क्योंकि केवलज्ञानी का ज्ञान कहीं पर भी स्थलित नहीं होता । यदि तुम केवली हो तो मेरे प्रश्न का उत्तर दो- यह लोक शाश्वत हैं अथवा अशाश्वत हैं ? ये जीव नित्य हैं अथवा अनित्य हैं ? यह सुनकर उसके उत्तर को प्राप्त नहीं होने पर वह जमालि नियंत्रित कीये गये सर्प के समान मौन रहा । तब प्रभु ने कहा कि- हे जमालि ! जो छद्मस्थ शिष्य हैं, वे भी इस प्रकार से उत्तर देने की इच्छा करते हैं-

यह लोक भूत, भवत् और भावी की अपेक्षा से नित्य हैं और उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी की अपेक्षा से अनित्य हैं । हे जमालि ! द्रव्य रूप से यह जीव सदा शाश्वत हैं और तिर्यच, मनुष्य, नारक और देवों के पर्याय से अशाश्वत हैं ।

स्वामी के वाक्य ऊपर श्रद्धा नहीं करता हुआ और स्व-पर को उत्सूत्र-आरोपणों के द्वारा मिथ्या-अभिनिवेश से व्युद्ग्राहित करता हुआ तथा अंतिम समय में पन्द्रह दिन का अनशन कर, आलोचना और प्रतिक्रमण कीये बिना वह लान्तक में तेरह सागरोपम की आयु स्थितिवाला किल्बिषिक देव हुआ । इस चरित्र को विशेष से पंचम-अंग से जानें । तथा जिनेश्वर ने भी कहा कि- देव, तिर्यच और मनुष्य भवों में पाँच बार व्यतीत कर तथा बोधि को प्राप्त कर निर्वाण-सुख को प्राप्त करेगा । इस प्रकार प्राकृत वीर-चरित्र में हैं ।

इस प्रकार जमालि के चरित्र को सुनकर गत-दर्शनीयों का संग न करें और संग के प्राप्त होने पर भी ढंक के समान जो श्रद्धा को नहीं छोड़ते हैं वे स्वर्ग को प्राप्त करते हैं ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में इस प्रथम स्तंभ में सातवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।

आठवाँ व्याख्यान

अब मैं चौथे सर्व विसंवादी पाखंडियों के परिहार रूप भेद का विवरण करता हूँ ।

भव्यों के द्वारा जो शाक्य आदि, कुट्टपुष्टि, बौद्ध और कूटवादियों का वर्जन किया जाता है, वह चौथी श्रद्धा कही जाती है ।

शाक्य आदि उन्मार्ग के उपदेशक हैं और वे ये हैं । मांस के भक्षण में दोष नहीं हैं और न मद्य में, न मैथुन में । यह प्राणियों की प्रवृत्ति है, निवृत्ति महा-फलवाली है ।

हे सुंदर नेत्रोंवाली ! हे सुंदर शरीरवाली ! तुम पीओ, खाओ जो अतीत हुआ है, वह तेरा नहीं है । हे स्त्री ! गया हुआ नहीं लौटता है और यह शरीर समुदय-मात्र ही है ।

आदि शब्द से एकान्त नय के अंगीकार में रहे हुए मिथ्यादृष्टि जो कहते हैं- जितने वचन के पथ होते हैं, उतने ही नयवाद होते हैं और जितने नयवाद होते हैं उतने ही मिथ्यात्व होते हैं । ऐसी उनकी प्ररूपणा है ।

तथा कुत्सित-खराब. दृष्टि-दर्शन हैं जिनका, ऐसे वे कुट्टपुष्टयः-कुट्टपुष्टिवाले, उन पाखंडियों की संख्या तीन सो और तरसठ हैं । आगम में यह इस प्रकार से हैं-क्रियावादियों की संख्या-एक सो और अस्सी हैं, अक्रियावादियों की संख्या-चौरासी हैं, अज्ञानवादियों की संख्या-सडसठ हैं और वैनयिकों की संख्या-बत्तीस हैं । तथा बौद्ध-क्षणिक, उनकी संगत तथा कूटवादियों की-नास्तिकों की संगत भव्यों के द्वारा-शुद्ध बुद्धिवालों के द्वारा, वर्जन की जाती है । वह चौथी श्रद्धा है । सर्वथा ही उनका संग शीघ्र से छोड़ना चाहिए, यह तात्पर्यार्थ है ।

यहाँ पर कहा हुआ इन्द्रभूति के दृष्टांत से दृढ़ किया जाता है-

गुरु ऐसे वीर भगवंत को प्राप्त कर इन्द्रभूति गणधर कुसंग के त्याग से सद्धर्म कथन में रत हुए थे ।

केवलज्ञान-उत्पत्ति अनंतर श्रीवीरविभु अपापा में महासेन वन में आये । वहाँ सोमिल ब्राह्मण के घर में यज्ञ के लिए इन्द्रभूति-अग्निभूति आदि ग्यारह ब्राह्मणोत्तम मिलें । उन ब्राह्मणों में से आद्य पाँचों के पाँच सो-पाँच सो परिवार थे । दो को प्रत्येक से साढ़े तीन सो का परिवार हुआ था और चारों को प्रत्येक से तीन सो का परिवार था, इस प्रकार से ये चार हजार और चार सो ब्राह्मण थे । इसी बीच भगवान् के नमस्कार के लिए आते हुए सुर-असुरों को देखकर और दुंदुभि के शब्द को सुनकर वे कहने लगे कि- अहो ! हमारे यज्ञ-मंत्र से आकृष्ट हुए देव साक्षात् आ रहें हैं । परंतु उन देवों को चांडाल के पाटक के समान यज्ञ पाटक को छोड़कर प्रभु के पास जाते हुए जानकर वे ब्राह्मण खेदित हुए । ये देव सर्वज्ञ को वंदन करने के लिए जा रहें हैं, इस प्रकार जन-श्रुति से जानकर उनमें मुख्य ऐसे इन्द्रभूति ने सोचा कि- अहो ! मुझ सर्वज्ञ के होने पर भी, अन्य अपने को सर्वज्ञ का ख्यापन कर रहा हैं । कदाचित् कोई मूर्ख किसी धूर्त के द्वारा ठगा जाता हैं किन्तु इसने तो देवों को भी ठगा हैं जो इस प्रकार से मुझे और यज्ञ-मंडप को छोड़कर तथा जैसे मेंढक सरोवर के प्रति, ऊँट सुंदर वृक्ष के प्रति, उल्लू सूर्य-उद्योत के प्रति, और कुशिष्य सुगुरु के प्रति आचरण करते हैं, वैसे ही ये उसके समीप में जा रहें हैं । अथवा जैसा यह सर्वज्ञ हैं, वैसे ही ये हैं । फिर भी मैं इस इन्द्रजालिक को सहन नहीं करूँगा । आकाश में दो सूर्य नहीं होते हैं और गुफा में दो सिंह नहीं होते हैं और न ही म्यान में दो तलवार रहती हैं ।

वहाँ से भगवान् को वंदन कर वापिस लौटते हुए लोगों से वह पूछने लगा- कैसा रूपवाला यह देखा हुआ सर्वज्ञ हैं ? लोग अष्ट-

प्रातिहारी आदि स्वरूप को कहने लगे । तथा- यदि तीनों लोक के जीव उनके गुण वर्णन करने लगे और उनके आयुष्य का अंत भी न हो अर्थात् परार्द्ध से अधिक आयुष्य वाले उनके सभी गुणों का वर्णन कर सके । इत्यादि कहने पर वह सोचने लगा कि- निश्चय से यह महा-धूर्त है, जिससे इसने समस्त लोक को भी विभ्रम में गिरा दिया है । परंतु मैं इसे सहन नहीं करूँगा, किसके समान ? जैसे कि अंधकार के समूह को दूर करने के लिए सूर्य के समान और जैसे सिंह केसरों का उखाड़ना सहन नहीं करता है । मैंने वादीन्द्रों को भी मौन स्थापित कीये हैं, तब यह गेह-शूर मेरे आगे कौन हैं ? जिस वायु ने गजों को उठाया है उसके आगे कपास का ढेर क्या है ? उसके बाद इस प्रकार अग्निभूति ने कहा कि-हे भाई ! यहाँ पर आपका कौन-सा विक्रम है ? पक्षिराजा कैसे कीटिका के ऊपर पराक्रम करता है ? उस वादी-कीट पर आपके प्रयास से क्या प्रयोजन है । हे बन्धु ! वहाँ मैं जाता हूँ । क्या कमलों को उखाड़ने के लिए ऐरावण हाथी ले जाया जाये ?

गौतम ने भाई से कहा- मैंने सभी वादीयों को जीता है किन्तु अब भी यह रहा हुआ है, किसके समान ? जैसे मूँग पकाने में कोकड़-कण के समान, चक्कीओं में अखंड तिल के समान और अगस्ति के द्वारा पीये हुए समुद्र में जल-बिन्दु के समान । प्रायः कर यह वादी गाय के पैर में समानेवाले जल मात्रा के समान है ।

इस अकेले को नहीं जीतने पर, सर्व भी नहीं जीता हुआ होगा । एक बार लुप्त-शीलवाली हुई सती, सदा असती होती है । क्योंकि नाव में स्वल्प भी छिद्र विनाश के लिए होता है । और गौड़-देश में उत्पन्न हुए पंडित मेरे भय से दूर देश चले गये हैं, मेरे भय से जर्जरित हुए गुर्जर देश के पंडित त्रास को प्राप्त हुए हैं, मालव-देश के पंडित मृत हुए हैं और तिलंग-देश के पंडित तिल के समान हुए हैं । विश्व में

कोई भी नहीं है, जो मेरे साथ वाद कर सकता हो और यह वाद करने की इच्छा कर रहा है, उससे मेंढक काले सर्प को चपेटा देने के लिए तत्पर हुआ हो अथवा वृषभ दोनों श्रृंगों से ऐरावण हाथी पर प्रहार करने की इच्छा करता हो अथवा दोनों दौंतों से हाथी पर्वत गिराने का प्रयत्न करता हो अथवा यहाँ पर आने से जो मैं क्रोधित किया गया हूँ, वह सोये हुए सिंह को जगाने के समान हुआ है और स्व-आजीविका तथा यश की हानि के लिए ही इसके द्वारा यह क्या किया गया है, जैसे कि-पवन के संमुख रहे इसके द्वारा दावाग्नि जलायी गयी है और देह के सुख के लिए कपिकच्छू-लता आलिंगन की गयी है तथा शेषनाग के शीर्ष में रहे हुए मणि को लेने के लिए हाथ प्रसारित किया गया है । और तब तक जुगनु गर्जना करता है तथा तब तक चन्द्र गर्जना करता है, किन्तु सूर्य के उदय होने पर न ही जुगनु होता है और न ही चन्द्र होता है । एक सिंह के नाद से सभी हिंसक-प्राणी भाग जातें हैं । तथा तब तक बहते हुए मद से व्यास हुआ गालवाला हाथी काले मेघ के समान गर्जनाओं को करता है, जब तक वह सिंह के गुफा-स्थलों में पूँछ के विस्फोट शब्द को नहीं सुनता है । अथवा आज मेरे भाग्य के समूह से यह वादी उपस्थित हुआ है, जैसे कि दुर्भिक्ष-काल में भूखे को चिन्तित से भी अधिक अन्न के लाभ के समान ।

अब मैं उसके पास में जाता हूँ, यम को मालव दूर नहीं है, और चक्रवर्ती को अजेय कुछ-भी नहीं है, बुद्धिवंतों को अज्ञेय क्या है ? कल्पवृक्षों को क्या अदेय हैं ? मैं उसके पराक्रम को देखता हूँ । साहित्य-तर्क-व्याकरण-छन्द-अलंकार आदि शास्त्रों में मुझे अतीव दक्षत्व है । किस शास्त्र में मेरा श्रम नहीं है ? मैं इसे जीतता हूँ और सर्वज्ञ आडंबर को दूर करता हूँ । तब अलंकार और देह-

कान्ति को बढ़ाने के लिए बारह तिलक से युक्त, स्वर्ण यज्ञोपवीत को धारण किया हुआ, देदीप्यमान वस्त्रों के आडंबर से युक्त और पाँच सो छात्रों के द्वारा बिरुदों को पढ़ा जाता हुआ वह इन्द्रभूति चलने लगा ।

वैं बिरुद इस प्रकार से हैं- सरस्वती के कंठ के आभरण समान, सर्व पुराणों को जाननेवालों, वादी रूपी कदली वृक्षों के लिए तलवार के तुल्य, वादी रूपी अंधकार के लिए सूर्य समान, वादी रूपी चक्की के लिए मुद्गर के समान सर्व शास्त्रों के आधार, प्रत्यक्ष परमेश्वर, वादी रूपी उल्लू के लिए सूर्य के समान, वादी रूपी समुद्र के लिए अगस्ति के समान, वादी रूपी तितली के लिए दीपक के समान, वादी रूपी ज्वर के लिए धन्वन्तरी के समान, सरस्वती से लब्ध प्रसाद, बृहस्पति को शिष्य समान करनेवालों । इत्यादि बिरुदों के सुनते हुए तथा आगे जाते हुए अशोक आदि और आजन्म से बाँधे हुए वैर को छोड़कर वहाँ स्थित हिंसक-प्राणियों को देखकर वह इन्द्रभूति कहने लगा कि- अहो ! यह बड़ा धूर्त लगता है । तब शिष्य कहने लगे कि- हे पूज्य ! हम आपकी कृपा से प्रति-दिन शत-कोटि वादीयों की जय में समर्थ हैं और इसकी बात ही क्या है ? अकेला ही शिष्य इसे निग्रहित करेगा ।

वह सुनकर शंकित हुआ वह इन्द्रभूति जिन के आगे सीढ़ी ऊपर खड़ा हुआ तथा विस्मित हुआ सोचने लगा कि- क्या यह ब्रह्मा है ? अथवा क्या ईश्वर हैं ? क्या विष्णु हैं ? क्या सूर्य हैं ? जैसे कि-

क्या यह चन्द्र हैं ? नहीं, यह चन्द्र नहीं हैं क्योंकि चन्द्र कलंक सहित हैं । सूर्य भी नहीं है, क्योंकि सूर्य तीव्र कान्तिवाला हैं । क्या यह मेरु है ? नहीं, यह मेरु भी नहीं है, क्योंकि मेरु अति-कठिन हैं । यह विष्णु भी नहीं हैं क्योंकि वह विष्णु काला हैं । क्या यह ब्रह्मा है ? नहीं, यह ब्रह्मा नहीं है क्योंकि वह जरा से आतुर है और जो शरीर-रहित

है वह जरा-भीरु नहीं है। हाँ ! जान लिया हैं- दोषों से विवर्जित और अखिल गुणों से आकीर्ण यह अंतिम तीर्थकर हैं। यह सूर्य के समान दुष्प्रेक्षनीय हैं, समुद्र के समान दुस्तर है, हा ! अब मैं इसके आगे अपने महत्त्व का किस प्रकार से रक्षण करूँ ? अहो ! मुझ मूर्ख ने सिंह के मुँह में हाथ डाला हैं, बबूलवृक्ष का आलिंगन किया है और इस ओर नदी और इस ओर सिंह, यह न्याय उत्पन्न हुआ हैं। और अधिक-कौन कील के हेतु से प्रासाद को तोड़ना चाहता हैं ? सूत्र की इच्छावाला कौन हार को तोड़े ? कौन भस्म के लिए चंदन को जलाएँ ? लोहार्थी कौन महान् समुद्र में नाव को तोड़े ? अहो ! मुझ मन्द-दुर्बुद्धिवालों का अविचारितकारीपना हुआ हैं जो इस जगदीश-अवतार को जीतने के लिए यहाँ पर आया हूँ। इसने किसी दिव्य प्रयोग से मेरे मन को वश किया हैं, जिससे मुझे ऐसी मति उत्पन्न हुई हैं। मैं इसके आगे कैसे कहूँगा ? मैं कैसे पास में जाऊँगा ? यदि आजन्म ही सेवित ऐसे शिव यहाँ मेरे यश का रक्षण करे तो श्रेष्ठ हैं ? अथवा जगत्-जीतनेवाले इसके आगे शिव भी क्या कर सकते हैं ? वह भी भागकर कहीं पर चला गया हैं।

जो कोई भी प्रकार से भाग्य से यहाँ मेरी जय हो, तो तीनों लोक में मैं पंडितो में मूर्धन्य होऊँगा।

इत्यादि विचार करता हुआ वह भगवान् के द्वारा कहा गया कि- हे गौतम-इन्द्रभूति ! तेरा स्वागत हैं ? तब उसने सोचा कि- अहो ! यह मेरा नाम भी जानता हैं ? अथवा तीनों जगत् में प्रख्यात मेरे नाम को कौन नहीं जानता है ? सूर्य, आबाल-गोपाल तक लोगों को क्या प्रच्छन्न हैं ? परंतु यह मुझे मीठे वाक्यों से संतोषित कर रहा हैं। यह मुझसे डर रहा हैं जिससे यह वाद नहीं करेगा, परंतु मैं संतोषित नहीं हुआ हूँ। यदि मेरे मन में रहे संशय को प्रकाशित करता हैं और

समाधान करें, तब मैं इसे सर्वज्ञ जानूँगा ।

शीघ्र ही सजल्ल घन गंभीर वाणी से भगवान् ने कहा कि- हे गौतम ! तुम क्या सोच रहे हो ? जीव हैं अथवा नहीं हैं । निश्चय ही यह तेरा संशय अनुचित है । तुम मान रहे हो कि-चार प्रमाणों से अग्राह्यपने से जीव नहीं हैं । किन्तु तुम वेद पदों के अर्थ को नहीं जानते हो, उससे यह संदेह हैं । और ये वेदों के पद हैं- विज्ञान-घन इन भूतों से उत्पन्न होकर और इन में ही विनष्ट होता है, प्रेत्य की संज्ञा नहीं है । इससे तुमने जीव का अभाव स्थापित किया है, जो यह अयुक्त है, इत्यादि सर्व युक्तियों से व्यास व्याख्यान को विशेषावश्यक से जानें । तथा दूध में घी, तिलों में तैल, काष्ठ में अग्नि, पुष्प में सौरभ्य और चन्द्रकान्त में सुधा हैं, वैसे ही जीव भी देहान्तर्गत जानो, इससे जीव हैं । उस कारण से संशय के छेदित हो जाने पर वह पाँच सो शिष्यों के साथ जरा-मरण से विमुक्त जिनेश्वर के पास में श्रमण हुआ । उसके बाद उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं और ध्रुव रहते हैं इस प्रकार से प्रभु के मुख से त्रिपदी को प्राप्त कर द्वादशांगी की रचना की ।

वहाँ उत्पन्न होते हैं, इसका क्या अर्थ हैं ? भगवान् ने कहा- जीवों से जीव उत्पन्न होते हैं, जीवों से अजीव उत्पन्न होते हैं, जैसे कि देहों में से नख आदि उत्पन्न होते हैं ! अजीवों से जीव उत्पन्न होते हैं, जैसे कि पसीने से जूँ आदि । अजीवों से अजीव उत्पन्न होते हैं । विगम अर्थात् हानि कैसे होती है ? जीवों से जीव मरण प्राप्त करते हैं । अजीवों से जीव मरण प्राप्त करते हैं । जीवों से अजीव मरते हैं । अजीवों से अजीव पदार्थ विनष्ट होते हैं । तथा नित्य, अच्छेद्य, अभेद्य आदि ध्रुव होते हैं ।

इस प्रकार अन्य ब्राह्मण भी निज संदेह का छेदन कर क्रम से

अपने परिवार के साथ प्रव्रजित हुए थे ।

हे भव्य-जनों ! तुम कानों को सुखकारी और गुणों का एक मंदिर ऐसे गणधर के चरित्र को सुनो जिससे कुदर्शन की हानि से शिव-सुख को करनेवाले ऐसे शुचि-दर्शन की प्राप्ति हो ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में इस प्रथम-स्तंभ में आठवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



नौवाँ व्याख्यान

अब सम्यक्त्व के शुश्रूषा आदि तीन-लिंगों का स्वरूप लिखा जाता है, जैसे कि-

भगवान् के वचन के ऊपर शुश्रूषा, जिन के द्वारा कहे गये धर्म में राग और जिनेश्वर के साधुओं की वैयावच्च, इस प्रकार लिंग तीन प्रकार से हैं ।

अर्हत् द्वारा प्रणीत वचन के प्रति-दिन शुश्रूषा अर्थात् सुनने की इच्छा का होना, क्योंकि श्रवण के बिना कभी ज्ञान आदि गुण उत्पन्न नहीं होते हैं । जो कि आगम में कहा गया है कि- श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान और उससे पच्चक्खाण, जिससे संयम की प्राप्ति और उससे सरल तप जिससे अक्रिया की प्राप्ति से निर्वाण प्राप्त होता है ।

तथा जिस प्रकार से याकिनी-सुत हरिभद्र-सूरिजी ने कहा है कि-

जैसे कि क्षार पानी के त्याग से और मधुर पानी के योग से बीज अंकुर को उत्पन्न करता है, वैसे ही तत्त्वों को सुनने से मनुष्य उन्नति को धारण करता है । इसलिए ही यह शुश्रूषा सम्यक्त्व का

आद्य लिंग हैं । इस विषय में सुदर्शन का प्रबंध लिखा जाता है -

राजगृह नगर में अर्जुन मालाकार रहता था । उसे रूप-यौवन से सुंदर बंधुमती नामक प्रियतमा थी । उस नगर के बाहर पाँच वर्णवाले कुसुमों से आकीर्ण पुष्पाराम हैं । उसके समीप में हजार पल से निष्पन्न हुए लोहमय मुद्गर को धारण करनेवाले मुद्गरपाणि यक्ष का आयतन है । प्रति-दिन वह अर्जुन पत्नी सहित उस कुल-देवता की अर्चा करता था ।

एक दिन किसी महोत्सव के दिन में मुद्गर यक्ष के आयतन में छह पुरुष क्रीड़ा करते हुए विचरण करने लगे । तब भार्या सहित वह अर्जुन सुंदर पुष्पों को ग्रहण कर यक्ष की पूजा के लिए आता हुआ उन छह गोष्ठिकों के द्वारा देखा गया । उन्होंने अन्योन्य आलोचना की कि- इसकी पत्नी निरुपम कायावाली हैं और आज इसे बाँधकर उसके प्रत्यक्ष ही हम स्वेच्छा से इसके साथ क्रीड़ा करें । इस प्रकार से स्वीकार कर वे द्वार-कपाट के पश्चात् भाग में छिपकर खड़े हुए । तब वह अर्जुन पुष्प आदि से पूजा कर पंचांग प्रणाम करने लगा, उतने में ही वे छह गोष्ठिक भी शीघ्र से बाहर निकलकर और उसे बंधनों से बाँधकर उसकी प्रिया के साथ भोगों को भोगने लगे । उसने सोचा- मेरे जीवन को धिक्कार हैं, जैसे कि-

माता-पिता का पराभव प्राणिओं के द्वारा अत्यंत मुश्किल से ही सहन किया जाता है । और भार्या के पराभव को सहन करने में तिर्यंच भी समर्थ नहीं होते ।

अहो ! मेरे देखते हुए भी ये पशु के समान पशु धर्म का आचरण कर रहे हैं । वह भी क्रोध से यक्ष को उपालंभ देने लगा कि- हे यक्ष ! तुम सत्य ही शिलामय देव ही हो । मैंने इतने काल पूजा की हैं और आज मैंने उसका फल प्राप्त कर लिया । तब यक्ष ने उसे ज्ञान

से जाना । अर्जुन के वचन श्रवण से उत्पन्न हुए कोप रूपी आडंबर से युक्त यक्ष ने भी अर्जुन के देह में प्रवेश कर और रस्सी के बंधनों को तोड़कर तथा लोहमय मुद्गर को निकालकर बंधुमती सहित उन छह गोष्ठिकों को चूर्ण किया । वहाँ से प्रारंभ कर प्रति-दिन वह जब तक स्त्री सहित अन्य भी छह पुरुषों को नहीं मारता, तब तक उसका क्रोध उपशांत नहीं होता, इस प्रकार उसके स्वरूप को सुनकर श्रेणिक ने पटह-वादन पूर्वक लोगों को निवारण करने लगा कि- जब तक अर्जुन के द्वारा सात लोग मारे चुके न हो, तब तक नगर से किसी के द्वारा भी नहीं निकला जायँ ।

इस अवसर पर श्रीवीर प्रभु का समवसरण हुआ और सुदर्शन-श्रेष्ठी महा-श्रावक ने स्वामी के आगमन को सुना । जिन-वचन रूपी अमृत को पीने की इच्छावाला और आनंदित हुए उसने- मैं जिन-वंदन करने के लिए निकल रहा हूँ, इस प्रकार माता-पिता से विज्ञप्ति की । तब उस सुदर्शन को माता-पिता कहने लगे कि- हे वत्स ! अब वहाँ जाते हुए तुझे उपसर्ग होगा, उससे तुम विराम प्राप्त करो और यहाँ रहकर ही भाव से वंदन करो ।

सुदर्शन ने कहा कि- हे माता-पिता । त्रिजगत्-गुरु के उपदेश को सुने बिना मुझे भोजन करना भी नहीं कल्पता । माता-पिता को अनुज्ञापन कर त्रिजगत् के स्वामी को नमस्कार करने के लिए मार्ग में जाते हुए उसने क्रोध से मुद्गर को उठाकर कुपित हुए यम के समान आते हुए अर्जुन को देखकर निर्भय-चित्तवाला होकर पृथ्वी को वस्त्र के आँचल से प्रमार्जन कर वहाँ पर बैठा । जिनेश्वर को नमस्कार कर, चार शरणों को स्वीकार कर, सर्व-प्राणियों से क्षमा माँगकर, साकार अनशन कर तथा उपसर्ग के पार होने पर ही पारुंगा इस प्रकार सोचकर पंच-परमेष्ठी महामंत्र का स्मरण करते हुए

उसने कायोत्सर्ग किया । तब सुदर्शन को हराने में असमर्थ हुआ वह यक्ष मंत्र से वमन कीये गये विषवाले सर्प के समान, रोष रहित बना स्वयं ही मुद्गर को लेकर भय-भीत हुए के समान उसके शरीर को छोड़कर पलायन करने लगा । उससे छोड़ा हुआ अर्जुन भी छिन्न वृक्ष के समान पृथ्वी ऊपर गिर पड़ा और क्षण में चैतन्य को प्राप्त कर तथा श्रेष्ठी को देखकर पूछने लगा- तुम कौन हो ? कहाँ जा रहे हो ? श्रेष्ठी ने कहा- मैं सुदर्शन हूँ, श्रीमहावीर प्रभु को नमस्कार करने के लिए जा रहा हूँ । सर्वज्ञ को नमस्कार करने के लिए तुम भी साथ चलो, चलो । वहाँ से दोनों ही भगवान् के समवसरण में गये और जिन को प्रणाम कर देशना सुनने लगे । जैसे कि-

मोह से अंधित हुए इस जगत् में मनुष्य-जन्म, आर्य-देश, सुकुल में जन्म, श्रद्धालुता, गुरु के वचनों का श्रवण करने में विवेक ये सिद्धि रूपी महल की सीढियों की पद्धति सुकृत से प्राप्त हुई है ।

इस प्रकार देशना को सुनकर और नियम-ग्रहण कर श्रेष्ठी अपने घर चला गया । अर्जुन ने भी संवेग से उस हिंसारूपी-पाप को दूर करने के लिए प्रभु के पाद-मूल में दीक्षा ग्रहण की । उसने उसी दिन ऐसे अभिग्रह को ग्रहण किया कि- हे प्रभु ! मैं आपकी आज्ञा से सदा ही छट्ठ के तप-कर्म से आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करता हूँ । स्वामी ने कहा- तुम यथा-रुचि करो । साधु वैसे ही विचरण करते हैं । वह साधु पारणा करने के लिए भिक्षा के लिए जाता हैं और उनको देखकर लोग इस प्रकार कहते हैं- इसने मेरे पिता को मारा हैं, इसने मेरी माता को मारा हैं और ऐसे ही भाई, बहन, पत्नी को मारा हैं, इस प्रकार कहकर वें लोग उस मुनि पर आक्रोश करते हैं, मारते हैं, अनादर करते हैं और निन्दा करते हैं । उनके ऊपर मन से भी दुष्ट हुए बिना सम्यक् प्रकार से सर्व उपसर्गों को सहन करता

हुआ । इस प्रकार कभी छट्ट के पारणे में अन्न आदि को प्राप्त करता तो उस अन्न को स्वामी से निवेदन कर मूर्च्छा रहित होकर भोजन करता ।

इस प्रकार उत्तम तप-कर्म से आत्मा को भावित करते हुए अर्जुन माली-मुनि को प्रतिपूर्ण छह मास व्यतीत हुए और अंत में अर्ध-मासिक की संलेखना से अन्तकृत् केवली होकर अनन्त-चतुष्क से अंकित अव्यय-पद को प्राप्त किया ।

प्रति-दिन सात जनों को मारकर और वीर-जिन से दीक्षा को प्राप्त कर तथा असदृश अभिग्रह का पालन कर छह मास के पश्चात् वह अन्तकृत्-केवली हुआ ।

सुदर्शन ने भी स्वर्ग के सुख को प्राप्त किया ।

इस प्रकार हे भव्य-जनों । आगम श्रवण में सादर चित्त की वृत्तिवालें और व्यापारी ऐसे सुदर्शन के वृत्तांत को सुनकर, भव-समुद्र को तीरने में नाव तुल्य धर्म-श्रुति में तुम हमेशा ही प्रयत्न करो ।

अन्तकृत सूत्र में भी यह कथानक कहा गया है ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में इस प्रथम स्तंभ में यह नौवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



दसवाँ व्याख्यान

अब धर्म-राग जो द्वितीय लिंग हैं । उसे अनन्तर कहे हुए श्लोक के द्वितीय पद से कहते हैं कि- जिनेश्वरों के द्वारा कहे हुए धर्म में राग का होना । राग और द्वेष से रहित ऐसे जिनेश्वरों के द्वारा, कहे हुए, धर्म में-यति और श्रावक के भेदों से भिन्न ऐसे सद्-अनुष्ठान में, राग-मन की परम-प्रीति । शुश्रूषा में श्रुत-धर्म राग अभिप्रेत था

और यहाँ चारित्र धर्म-राग अभिप्रेत हैं । इस प्रकार यह द्वितीय लिंग हैं । इस विषय में चिलातीपुत्र का दृष्टांत हैं जैसे कि-

तीव्र धर्म के अनुराग से प्राणी चिलातीपुत्र के समान शीघ्र ही दुष्ट भी पाप का क्षय करतें हैं ।

क्षितिप्रतिष्ठ नगर में यज्ञदेव नामक ब्राह्मण प्रशंसनीय ऐसे अर्हन्-मत की निन्दा करता था । अपने को पंडित मानता हुआ ब्राह्मण एक दिन वाद करने के लिए किसी क्षुल्लक-साधु ने बुलाया । तब उस ब्राह्मण ने शर्त की- जो मुझे जीतता हैं मैं उसका शिष्य बनूँगा । क्षुल्लक के द्वारा निग्रह के स्थान पर प्राप्त हुआ उसने दीक्षा ली ।

एक दिन शासन-देवी ने ब्राह्मण से कहा- जैसे चक्षुमान् भी सूर्य के बिना नहीं देखता हैं, वैसे ही ज्ञानवंत भी जीव शुद्ध-चारित्र के बिना नहीं देखता हैं, उससे तुम चारित्र में अत्यंत स्थिर बनो । परंतु ब्राह्मणपने से उसने दुर्गंछा को नहीं छोड़ी और उसकी प्रिया उसके ऊपर स्नेह को नहीं छोड़ रही थी । उससे उसको वश करने के लिए कर्मण करने लगी । उससे क्लेशित होते हुए शरीरवाले ब्राह्मण-ऋषि ने सम्यक् प्रकार से धर्म की आराधना कर स्वर्ग में देव हुआ । वह भी कर्मण से उसके मरण को जानकर निर्वेद सहित व्रत को ग्रहण कर उसकी आलोचना कीये बिना स्वर्ग में गयी । वह ब्राह्मण स्वर्ग से च्यवकर राजगृह नगर में धन-सार्थवाह की चिलाती नामक दासी की कुक्षि में पुत्र हुआ । लोगों ने उसका चिलातीपुत्र नाम दिया । उस ब्राह्मण की पत्नी भी सुसुमा नामक धन के ही पाँच पुत्रों के ऊपर पुत्री हुई । धन ने पुत्री की क्रीड़ा के लिए चिलातीपुत्र को रखा ।

एक बार अपनी पुत्री के साथ पशु-क्रीड़ा करते हुए उसे जानकर धन ने स्व-गृह से निकाल दिया । वहाँ वह सिंह-गुहा नामक चौरों की पल्ली में गया । वहाँ पल्ली के स्वामी ने अपने

अवसान में उसे पुत्र कर पल्लीपति किया । विषय अस्त्र से पीड़ित हुआ वह सुसुमा का स्मरण करने लगा । तब पाप-बुद्धिवाले उसने चौरों से इस प्रकार से कहा कि- हम चोरी करने के लिए राजगृह नगर में धन के घर में जाते हैं और वहाँ जो धन प्राप्त होता है वह तुम्हारा और एक सुसुमा मुझे मिले इस प्रकार की व्यवस्था कर उन चौरों ने उसके घर में प्रवेश किया । धन-श्रेष्ठी आदि को अवस्थापिनी देकर अन्य चौर धन लेकर चले गये । वह सुसुमा को लेकर चला । तब स्वस्थ होकर और कल-कल शब्द कर नगर के आरक्षक और पाँच पुत्र सहित श्रेष्ठी चौर के पीछे चला । उनको देखकर भय से विह्वलित हुए वे चोर धन को छोड़कर एक दिशा से दूसरी दिशा में भागने लगे । नगर के आरक्षक पुरुष धन को लेकर वापिस चल पड़े । सुसुमा को वहन करता हुआ चिलातीपुत्र पाँच पुत्रों से युक्त और हाथ में तलवार लीएँ आते हुए धन को देखकर, कन्या के सिर को छेदकर और धड़ को वही छोड़कर तथा हाथ में उस सिर को ग्रहण कर चलने लगा । तब धन वहाँ पर आया और सुसुमा को वैसी देखकर क्षणभर विलाप कर, वह वापिस लौटकर अपने नगर में आया । पुत्र से युक्त धन-श्रेष्ठी वहाँ से श्रीवीरविभु के पास में धर्म को सुनने के लिए गया । वह वीर को वंदन कर देशना को सुनने लगा । जैसे कि-

यह मेरा पिता हैं, यह माता हैं, यह मेरा बान्धव हैं, स्वजन हैं अथवा परिजन हैं, यह मेरा द्रव्य हैं, इस प्रकार ममत्व सहित मनुष्य खुद को यम के वश हुआ नहीं देखता हैं ।

जिन-वाणी से प्रतिबोधित हुए धन ने दीक्षा ग्रहण की । तीव्र तप से तपकर स्वर्ग को प्राप्त किया । पाँच पुत्रों ने श्राद्ध-धर्म का आश्रय लिया । इस ओर चिलाती-दासी के पुत्र ने हाथ में उस स्त्री के मस्तक को लेकर तथा रुधिर से भीगे हुए शरीरवाला आगे मार्ग में

जाते हुए कायोत्सर्ग में खड़े एक मुनि को देखा । चोर कहने लगा कि- हे मुनि ! शीघ्र से धर्म कहो, अन्यथा इस तलवार से स्त्री के मस्तक के समान तेरे मस्तक को छेदूँगा ! उसे योग्य और सत् पात्र मानकर संक्षेप से उपशम, विवेक और संवर इस प्रकार तीन पदों का उच्चारण करते हुए तथा नमस्कार पद को पढ़कर आकाश-मार्ग से चलें गये ।

साधु के द्वारा कहे हुए पद को सुनकर वह चोर सोचने लगा- उपशम का क्या अर्थ है ? इस प्रकार विचार करते हुए फिर से भी कहने लगा-उपशम अर्थात् क्रोध की उपशान्ति है, वह अब मुझे कहाँ है ? इस प्रकार विचारकर उसने क्रोध के चिह्न रूपी तलवार को छोड़ दी । पुनः सोचते हुए उसने विवेक के अर्थ को जाना-कृत्य-अकृत्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति, यह विवेक है और उससे धर्म होता है, वह मुझे कहाँ है ? क्योंकि दुष्टत्व का सूचन करनेवाला स्त्री का मस्तक मेरे हाथ में है और इस प्रकार से सोचकर उसने स्त्री-मस्तक का त्याग किया । फिर से वह संवर के अर्थ को सोचने लगा- चित्त और इंद्रियों का निरोध वह संवर है और मुझ स्वेच्छाचारी को वह कहाँ है । इस प्रकार से सोचकर वह मुनि के समान मुनि के पाद स्थान पर कायोत्सर्ग से खड़ा हुआ । और जब तक मुझे स्त्री-हत्या का पाप स्मृति को प्राप्त होता है, तब तक मुझे कायोत्सर्ग हो, इस प्रकार के अभिग्रह को लिया ।

तब रुधिर के गंध से आयी हुई चींटीयों के द्वारा सर्व शरीर भी चालनी के समान किया गया । दोनों पैरों से आरंभ कर सर्व अंग का भक्षण करती हुई चींटियाँ उसके मस्तक में से निकलने लगीं । ढाई दिन तक तीव्र वेदना को सहन करता हुआ वह शुभ ध्यान से चलित नहीं हुआ । उससे अपने आयुष्य के क्षीण हो जाने पर मरण को प्राप्त

हुआ वह महात्मा आठवें सहस्रार देवलोक में देवपने से उत्पन्न हुआ ।

सद्-वाक्यों के भावार्थ को बुद्धि से जानकर चिलातीपुत्र ने बहुत सारे पापों का नाश किया । वैसे ही भविक-प्राणी चिलातिपुत्र सम पापों को छोड़ दें, जिससे कि मोक्ष रूपी सुख की लक्ष्मीयाँ हाथ पर क्रीड़ा करनेवाली हो ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में इस प्रथम स्तंभ में दशवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



ग्यारहवाँ व्याख्यान

अब गुरु और जिन की वैयावच्च रूप तृतीय लिंग कहा जाता है । जिनेश्वरों के-साधु की वैयावच्च करना यह तीसरा लिंग होता है ।

राग आदि अठारह दोषों को जीतने से जिन हैं, और पंच विध आचार में चतुर । तथा तत्त्व को कहते हैं, वे गुरु है, जिनेश्वर की द्रव्य-भाव पूजा के द्वारा तथा गुरु की अशन-पान आदि से अवश्य ही वैयावच्च करनी चाहिए । यह वैयावच्च प्राणिओं के उत्तम गुण के लिए होती है, इस प्रकार से यह तृतीय लिंग है । इस विषय में संप्रदाय से आया हुआ यह नन्दिषेण का प्रबन्ध है ।

सुंदर भाव से साधुओं की वैयावच्च करता हुआ प्राणी नन्दिषेण के समान अत्यंत शुभ कर्म को बाँधता है ।

नन्दिग्राम में सोमिला-सोमिल को नन्दिषेण नामक पुत्र था । बाल्य-अवस्था में उसके माता-पिता मर गये । केशों से लेकर नख तक कुरूपवान्, बिल्ली के समान पीली आँखवाले, गणेश के समान लंबे उदरवाले, ऊँट के समान लंबे ओष्ठवाले तथा हाथी के समान लंबे दाँतवाले ऐसे नन्दिषेण के दौर्भाग्य कर्मोदय को मानकर स्वजनों

ने भी उसका त्याग किया । मामा के घर में रहा हुआ वह दास-कर्म को करने लगा । अत्यन्त कुरूप के कारण से कोई कन्या उससे विवाह नहीं करती थी । तब मामा ने कहा- तुम खेद मत करो, मेरी सात कन्याएँ हैं, उनमें से एक कन्या मैं तुझे दूँगा । अब उसने अनुक्रम से अपनी पुत्रीयों से अभ्यर्थना की । परन्तु वें सब ही कहने लगी-हम विष-भक्षण, पाश-ग्रहण आदि करेंगी, किन्तु हम इसको नहीं चाहती हैं । उससे दुःखित हुआ नन्दिषेण उस गृह को छोड़कर वन में गया और पर्वत से गिरने की इच्छावाला वह कायोत्सर्ग में रहे हुए मुनि के द्वारा निवारण किया गया । उसने मुनि को प्रणाम कर अपने स्वरूप को कहा । उसे सुनकर मुनि ने कहा कि- हे मुग्ध ! तुम मल-द्वार से मलिन स्त्रीयों में मति मत करो और मरने पर कर्म का क्षय नहीं है । उससे तुम जीवन पर्यंत व्रत-धर्म को करो जिससे तुम इस भव में सुखी बनोगें । यह सुनकर उसने प्रव्रज्या ग्रहण की और विनय से धर्म-शास्त्र को पढ़ते हुए गीतार्थ हुआ । और उसने इस प्रकार से अभिग्रह लिया-छट्ट के पारणे में लघु, वृद्ध और ग्लान साधुओं की वैयावच्च कर आचाम्ल करूँगा । प्रति-दिन इस प्रकार से करता हुआ वह सुरेन्द्र के द्वारा सभा में प्रशंसित किया गया । उसकी श्रद्धा नहीं करते हुए दो देव परीक्षा के लिए प्रवृत्त हुए ।

वहाँ एक देव अतिसार से ग्लान साधु होकर नगर से बाहर रहा और अन्य देव साधु के रूप से जब नन्दिषेण के पास में आया, तब वह छट्ट के पारणे में प्रत्याख्यान को समाप्त कर भोजन करने के लिए बैठा । तब द्रव्य-साधु भाव-साधु के प्रति कहने लगा कि-हे साधु ! तेरा अभिग्रह कहाँ गया है ? जो नगर के बाहर स्थित और तृषा से आक्रान्त हुए ग्लान साधु की वैयावच्च कीये बिना ही भोजन करने के लिए बैठ रहे हो ? तब भाव-साधु ने उस अन्न के पात्र को साधु

की निश्रा में छोड़कर और प्रासुक जल को ग्रहण करने के लिए जाते हुए देव के द्वारा सभी गृहों में अनेषणीय करने के कारण से, बहुत गृहों में भ्रमण करते हुए उसके तपो बल से ही कहीं पर शुद्ध जल को प्राप्त किया । वहाँ से उसके साथ ग्लान के समीप में गया । अतिसार से ग्रस्त हुए उसके शरीर का प्रक्षालन करने लगा । तब साधु के अतीव दुर्गंध को छोड़ने पर नन्दिषेण ने सोचा कि- अहो ! कोई भी कर्म से नहीं छूटता हैं ? पश्चात् उस साधु को भुजा ऊपर रखकर उपाश्रय में ले जाने लगा । वह पद-पद पर विष्टा से नन्दिषेण के देह को लीपता हैं, फिर भी नन्दिषेण लेश-मात्र भी दुर्गन्धा नहीं करता हैं । वैसे उस साधु को उपाश्रय में लाकर नन्दिषेण सोचने लगा-मैं इस साधु को कैसे नीरोगी करूँगा ? इस प्रकार वह अपनी निन्दा करने लगा । उसे वैयावच्च में निश्चल जानकर वें दोनों देव प्रत्यक्ष हुए और सुगंधी जल और पुष्पों की वृष्टि कर तथा उस मुनि की स्तुति कर और क्षमा माँगकर स्वर्ग में गये । नेमि-चरित्र की संमति से उस यति ने बारह हजार वर्ष पर्यंत तप का आचरण किया था तथा वसुदेव-हिंडि की संमति से पचपन हजार वर्ष पर्यंत दीक्षा का परिपालन किया था ।

अंत में अनशन कीये हुए उस नन्दिषेण को वंदन करने के लिए अंतःपुर सहित चक्रवर्ती वहाँ पर आया । अलंकार सहित उसकी स्त्रियों को देखकर और अपने पूर्व कर्म का स्मरण कर- मैं इस तप से स्त्री-वल्लभ बनूँ, इस प्रकार निदान किया और मरकर महाशुक्र में देव हुआ । वहाँ से च्यवकर सूर्यपुर में अन्धकवृष्णि की सुभद्रा पत्नी की कुक्षी से दसवाँ वसुदेव पुत्र हुआ । वह पूर्व में कीये हुए निदान से स्त्री-वल्लभ हुआ । वह नगर में भ्रमण करता तब, वहाँ नगर की नारीयाँ गृह कार्यों को छोड़कर उसके पीछे भ्रमण करती थी । उससे उद्विग्न हुए नागरिकों ने समुद्रविजय राजा से विज्ञप्ति की ।

नागरिक लोगों को संतोषित कर उसने वसुदेव से कहा कि- तुम राज-भवन में ही क्रीड़ा करो । उसने समुद्रविजय के वाक्य को स्वीकार किया ।

एक दिन ग्रीष्मकाल में शिवादेवी के विलेपन के लिए चंदन के कचोले को लेकर जाती हुई दासी को देखकर वसुदेव ने पूछा कि- तुम क्या लेकर जा रही हो ? मुझे दो ! उसने नहीं दिया । वसुदेव ने बल से अपने देह पर विलेपन किया । रुष्ट हुई दासी ने कहा कि- तुम ऐसे हो, इसलिए ही राजा ने तुझे गृह रूपी कारावास में डाला है । उसने पूछा-कैसे ? दासी ने सर्व स्वरूप को कहा । वसुदेव रात्रि के समय क्रोध से नगरी से निकलकर तथा अपनी जंघा का विदारण कर उसके रक्त से नगरी के द्वार पर लिखा कि- भाई के अपमान से वसुदेव ने चिता में प्रवेश किया है । उसके आगे चिता के मध्य में एक मृतक को जलाकर अन्य देश चला गया । प्रति गाँव में भ्रमण करते हुए उसने विद्याधर आदि की बहोत्तर हजार कन्याओं के साथ विवाह किया ।

शौरिपुर में प्रारब्ध हुए रोहिणी के स्वयंवर मंडप में अनेक राज-परिवार मिले हुए थे । वसुदेव वामन और कुब्ज रूप कर उनके बीच में आया । वहाँ रोहिणी उसके मूल स्वरूप को देखती हैं । अन्यो की अवगणना कर उसने वामन के कंठ में वरमाला डाली । तब रुष्ट हुए समुद्रविजय आदि उसके साथ युद्ध करने लगे । ज्येष्ठ भाई के साथ युद्ध करना अयोग्य है, इस प्रकार मानकर उसने स्व-नाम से अंकित बाण समुद्रविजय ऊपर छोड़ा । उस बाण को लेकर-आपको वसुदेव प्रणाम करता है, इस प्रकार वर्णावलि को पढ़कर उसने जाना कि यह मेरा छोटा भाई है और किसी कारण से इसने इस रूप को किया है । वहाँ पर सभी मिले । वसुदेव ने उसके साथ विवाह

किया और क्रम से हाथी, सिंह, चन्द्र और समुद्र, इन चार स्वप्नों से सूचित बलदेव पुत्र उत्पन्न हुआ । देवकी से कृष्ण का जन्म हुआ । धर्मदासगणि के द्वारा कीये ग्रन्थ से इसे विस्तार से जानें । पश्चात् वसुदेव ने स्वर्ग-सुख को प्राप्त किया ।

तृतीय लिंग में जिस श्रीनन्दिषेण मुनि-पुंगव ने मन की सुबुद्धि को धारण की थी, उससे राजाओं के द्वारा वर्णनीय पदवी को प्राप्त कर मोक्ष के सुख को प्राप्त करेगा ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में इस प्रथम स्तंभ में ग्यारहवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



बारहवाँ व्याख्यान

अब तीसरा विनय द्वार कहा जाता है-

अरिहंत, सिद्ध, मुनीन्द्र, धर्म, चैत्य, श्रुत, प्रवचन, आचार्य, उपाध्याय और दर्शन इन दश की पूजा, प्रशंसा, भक्ति, अवर्णवाद का त्याग और आशातना का परित्याग, इस प्रकार सम्यक्त्व में दश प्रकार का विनय है ।

सुर-असुर कृत पूजा के योग्य होते हैं, वे अर्हत् कहे जाते हैं । और वे उत्कृष्ट से एक सो और सित्तर तथा जघन्य से दस अथवा बीस विहार करते हैं । और जन्म से वे उत्कृष्ट बीस तथा जघन्य से दस होते हैं ।

सिद्ध कृतकृत्य होते हैं और एक आदि दशान्त भेदवाले धर्म का आचरण एवं उपदेश देनेवाले मुनि होते हैं । चैत्य-तीन भुवनों में रहे हुए स्थिर-अस्थिर जिन-भुवन । वहाँ यह शाश्वत-बिंबों की संख्या है-

देवों में-एक सो और बावन कोटि, चौरानवे लाख, चुम्मालीस हजार, सात सो और साईठ हैं ।

ज्योतिष्क को छोड़कर तीछें जिनबिंबों की संख्या यह हैं - तीन लाख, इक्यानवें हजार, तीन सो और बीस हैं ।

भुवनपतियों के मध्य में-तेरह सो और नवासी कोटि तथा साईठ लाख । तथा ज्योतिष्क-भुवनों में असंख्य विद्यमान हैं ।

उन बिंबों की कुल संख्या-पंद्रह सो और बैतालीस कोटि, अट्ठावन लाख, छत्तीस हजार और अस्सी हैं ।

तथा भरत आदि के द्वारा कराएँ गये, अशाश्वत हैं, श्रुत-द्वादशांगी हैं । तथा प्रवचन-चतुर्विध श्रमण संघ, और आचार्य, उपाध्याय अर्थात् पाठक, दर्शन-श्रीमद् जिनशासन अथवा सम्यक्त्व, ऐसे उनमें- अनंतर कहे हुए अर्हत् आदि में पूजा-प्रशंसा आदि विनय करना चाहिए । अन्य ग्रन्थ में अनेक विनय के भेद कहे गये हैं, किन्तु यहाँ पर दस ही स्वीकार कीये गये हैं ।

इस विषय में भुवनतिलक मुनि का यह प्रबन्ध है-

कुसुमपुर में धनद नामक राजा था, उसकी पद्मावती प्रिया थी और उन दोनों को भुवनतिलक नामक पुत्र था ।

एक बार राजा की आज्ञा से रत्नस्थलपुर, के अमरचंद्र राजा का प्रधान सभा में आकर राजा से विज्ञप्ति करने लगा कि- हे स्वामी ! हमारे राजा की यशोमती पुत्री ने पुष्पाराम में विद्याधरीयों के द्वारा गाये जाते आपके कुमार के गुण-समूह को सुना था । वहाँ से लेकर चित्त में उसी का ध्यान करती हुई पुत्री कष्ट से दिनों को व्यतीत कर रही हैं ।

एक दिन राजा ने वियोग के दुःख से दुर्बल हुई पुत्री को देखकर पूछा, तब उसने यथा-स्थित कहा । उसे सुनकर अमरचंद्र राजा ने

विवाह के लिए मुझे यहाँ भेजा हैं । राजा ने उस वाक्य को प्रमाण कर उस प्रधान का सम्मान किया ।

राजा के आदेश से शुभ दिन होने पर मंत्री और सामंतों से युक्त राज-कुमार ने प्रस्थान किया । अन्य दिन सिद्धपुर के बाहर मूर्च्छा से आँखों के मिल जाने से वह राज-कुमार सहसा रथ के भीतर गिर पड़ा और मूक के समान उत्तर नहीं दे रहा था । हिम से जलाये हुए कमल के समान म्लान मुखवाले ऐसे मंत्रियों के द्वारा लाये हुए मांत्रिकों के प्रयोग ऊपर भूमि ऊपर वृष्टि के समान व्यर्थ हुए । उस समय उन्हें सुवर्ण कमल के दल पर बैठे हुए केवली देशना दे रहे हैं, इस प्रकार यह सुना ! तब वें भी ज्ञानी के समीप में जाकर और प्रणाम कर वाणी को सुनने लगे ।

हे भव्यों ! निरवधि ऐसे भव रूपी समुद्र में मगर-मच्छ के समूह के समान संभ्रम से भ्रमण करते हुए प्राणी पुण्य से कैसे भी अद्भुत ऐसे मनुष्य जन्म को प्राप्त कर जो श्री सिद्धि और परमेष्ठियों का साधन हैं तथा सुख रूपी वृक्ष के लिए मेघ के समान हैं ऐसे उसकी सफलता के लिए तुम विनय पूर्वक आराधन करो ।

व्याख्यान के अवसान में कंठीरव नामक मंत्री ने पूछा कि- हे भगवन् ! कुमार को किस हेतु से अतर्कित ही दुःख की प्राप्ति हुई हैं ? केवली ने कहा-

धातकीखंड के भरत में भुवनागारपुर में पाप-समूह से रहित ऐसे सूरि गच्छ सहित आये थे । उनका वासव नामक शिष्य महात्माओं का प्रत्यनीक और दुर्विनय रूपी समुद्र में मग्न था । एक बार गणधरों ने उसे अनुशासित किया कि- हे वत्स ! तुम विनय करो । क्योंकि-

विनय का फल शुश्रूषा हैं और गुरु-शुश्रूषा का फल श्रुतज्ञान

हैं और ज्ञान का फल विरति हैं तथा विरति का फल आश्रवों का निरोध हैं । संवर का फल तपो-बल हैं और तप से निर्जरा फल देखा गया हैं, उससे क्रियानिवृत्ति तथा क्रियानिवृत्ति से अयोगित्व और योगों के निरोध से भव संतति का क्षय होता हैं और संतति के क्षय से मोक्ष होता हैं । उस कारण से समस्त कल्याणों का पात्र विनय हैं ।

इस प्रकार दी हुई वैनयिकी शिक्षा भी विपरीत ही उसमें द्वेष के लिए हुई । गुरुओं ने उसकी उपेक्षा की । क्रोधित हुए उसने उनकी मृत्यु के लिए प्रासुक जल में तालपुट विष डाला । भय से स्वयं ने वहाँ से पलायन किया । किसी अरण्य के अंदर रात्रि में सोया हुआ वह दावाग्नि के द्वारा जलाया गया और रौद्र-ध्यान से मरकर अन्तिम नरक में गया । इधर शासन देवी ने उस जल के परिभोग से साधुओं को निवारण किया । अब उस नरक में से निकलकर और मत्स्य आदि में उत्पन्न होकर तथा बहुत भव भ्रमण कर थोड़े कर्म की लघुता से अब राजा का पुत्र हुआ हैं । उसने ऋषि-घात के कुकर्म से इस दशा को प्राप्त की हैं । मेरे द्वारा कहे हुए वृत्तान्त को तुम्हारे मुख से सुनकर वह नीरोगी होगा ।

इस प्रकार सूरि के वचन को अंगीकार कर मंत्री प्रमुखों ने उसे वह वृत्तान्त कहा और उससे भुवनतिलक ने चैतन्य को प्राप्त किया । जाति-स्मरण ज्ञान से युक्त राज-पुत्र सूरि को नमस्कार करने के लिए गया । मुनि को प्रणाम कर पूर्व कर्मों के क्षय के लिए राज-पुत्र ने मंत्रियों के साथ में गुरु के समीप में दीक्षा ग्रहण की । अपने पति के वृत्तान्त को प्राप्त कर यशोमती ने भी क्षणिक मूर्च्छा के अंत में क्षण विनश्वर सुख के निरपेक्षता से माता-पिता से पूछकर दीक्षा ग्रहण की । मैन्य के अन्य लोगों ने उसके पिता से उसके चरित्र के बारे में कहा ।

अब भुवन-साधु ने दिन-रात तीर्थकर आदि दस की भी

वैयावच्च की । गुरु भी उसकी प्रशंसा करने लगे । भुवन-मुनि ने बहोत्तर लाख पूर्व प्रमाण व्रत का पालन किया । सर्व अस्सी लाख पूर्व अपनी आयु को पूर्ण कर अन्त में पादपोषगमन अनशन किया । पश्चात् केवलज्ञान को प्राप्त कर अनंत आनंद के साम्राज्य परम-पद को प्राप्त किया ।

इस प्रकार भुवनतिलक साधु के इस चरित्र को दोनों कानों के छिद्रों में स्थित कुंडल के समान प्राप्त कर तुम शीघ्र से अर्हत् आदि की विनय पूर्वक सेवा करो जिससे कि तुम्हारे अंक रूपी पाली को जल्दी से मोक्ष रूपी लक्ष्मी आश्रय करती हैं । अर्थात् शीव पद शीघ्र प्राप्त होता है ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में इस प्रथम स्तंभ में बारहवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



तेरहवाँ व्याख्यान

अब विनय की स्तुति करते हैं-

विनय से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से दर्शन होता है, उससे चरित्र की संपत्ति होती है, और अंत में विनयवान मोक्ष सुख को प्राप्त करता है ।

श्रुत-ज्ञान के इच्छुक के द्वारा विशेष कर गुरु आदि के विनय में प्रवर्तन करना चाहिए । विनय पूर्वक ग्रहण किया हुआ श्रुत शीघ्र ही सम्यक् फलप्रद होता है, अन्यथा नहीं । यहाँ यह दृष्टांत है-

जैसे श्रीश्रेणिक को, श्रेष्ठ आसन के ऊपर बिठाकर चांडाल के पुत्र से विनय पूर्वक ग्रहण की हुई विद्या फलित हुई थी, वैसे ही सविनय पढ़ा हुआ शास्त्र ऋद्धि के लिए होता है ।

राजगृह नगर में एक दिन श्रीवीरविभू के मुख से सतीत्व निर्णय आदि गुण को जानकर तुष्ट हुए श्रेणिक राजा ने चेलणा देवी से कहा- मैं तुम्हारे लिए अन्य रानीयों से कैसे विशिष्ट महल का संपादन करूँ ? चेलणा ने कहा- एक स्तंभवाले महल को बनाओं । राजा ने अभय-कुमार को आदेश दिया । अभय ने बढईओं को आज्ञा दी । वे बढई उस महल के योग्य विशिष्ट काष्ठ के लिए अटवी में भ्रमण करते हुए बड़े स्कंधवाले एक महान् वृक्ष को देखकर आनंदित हुए सोचने लगे कि- निश्चय से यह दैव से युक्त वृक्ष है और इसके छेदन में हमारे स्वामी को विघ्न न हो, इस प्रकार उस वृक्ष के अधिष्ठायक की आराधना के लिए उस दिन उपवास कर और गंध, धूप तथा माला आदि से अधिवासित कर वे बढई स्व-स्थान पर चले गये ।

स्व-स्थान से भ्रंश से भय-भीत हुए उस वृक्ष का निवासी देव अभय के समीप में जाकर कहने लगा- मैं सर्व ऋतुओं के अद्भुत पुष्प और फलों से मंडित, नन्दन वन के समान और चारों ओर से कीलें से व्याप्त एक स्तंभवाले महल को करूँगा, मेरे भवन के ऊपर स्थित इस वृक्ष को तुम मत छेदो । अभय ने उसे वैसे ही स्वीकार किया । तब अचिन्तनीय शक्तिवाले व्यंतर ने भी शीघ्र से यथोक्त उस महल को किया । तब राजा के द्वारा आदेश दी गयी चेलणा वहाँ पद्म-हृद के कमल में लक्ष्मी के समान सदा लीला करने लगी ।

अन्य दिन उसी राजगृह नगर में गर्भिणी ऐसी चांडाल की प्रेयसी ने अपने पति से आम्र फल आस्वादन के दोहद को कहा । आम्रों का यह अकाल हैं और वे सर्व-ऋतुक वन में हैं, परंतु किसी उपाय से प्राप्त कीये जाये, इस प्रकार सोचकर कीले के बाहर ही स्थित हुए चांडाल ने अवनामिनी विद्या से रात्रि के समय शाखा को

आकर्षित कर आग्राँ को ग्रहण कीये और उन्नामिनी विद्या से शाखा को ऊँचा किया । इस प्रकार कर उसने पत्नी के दोहद को पूर्ण किया ।

अब आरक्षकों ने कटे हुए फलवाले आम्र वृक्ष को देखकर राजा से विज्ञप्ति की । राजा ने अभय से कहा- जिसके पास में ऐसी शक्ति हैं, वह अंतःपुर में भी विप्लव को करे, अतः तुम उसे सात दिन के अंदर प्रकट करो, नहीं तो तुझे चोर के समान दंड दूँगा । अभय ने- वैसा ही हो, इस प्रकार स्वीकार कर प्रति-दिन नगर के अंदर भ्रमण करते हुए रात्रि के समय एक स्थान पर बहुत द्युतकारक, पर-स्त्री गमन करनेवाले, चोर और मांस में आसक्त लोगों के द्वारा कराये जाते हुए संगीत में जाकर नट के आगमन तक उनके आगे एक कथा को कहने लगा । वह इस प्रकार -

वसंतपुर में धन रहित जीर्ण श्रेष्ठी की पुत्री बृहती कुमारी थी । वह वर के लिए कामदेव की पूजा करती थी । एक दिन वह पुष्पों को चुराती हुई माली के द्वारा पकड़ी गयी । उसके रूप से क्षोभित हुए माली के द्वारा वह प्रार्थना की गयी । उसने कहा- मैं अस्पृश्य कुमारी हूँ । जैसे कि-

अस्पृश्या, गोत्र में उत्पन्न हुई, वर्ष में अधिक, प्रव्रजित हुई, कुमारी, मित्र की पत्नी, राज-स्त्री और गुरु-पत्नी, ये आठ भी अगमनीय हैं ।

फिर तो विवाहित होकर तुम मेरे पास आना, इस प्रकार उस माली के कहने पर उस कन्या ने- वैसे ही उसे स्वीकार कर अपने घर में आयी । क्रम से विवाहित हुई उसने अपने पति से प्रथम दिन रहस्य में अपनी प्रतिज्ञा के बारे में कहा । अहो यह सत्य प्रतिज्ञावाली हैं, इस प्रकार पति के द्वारा अनुमति दी गयी और मणि, मोती, स्वर्ण आभरणों से सहित वह घर से जाती हुई चोरों के द्वारा रोकी गयी ।

उसने चोरों को स्व-प्रतिज्ञा कही । पश्चात् हे भाई ! वहाँ से लौटी हुई मैं तुम्हारे कहे हुए को करूँगी, इस प्रकार कहकर उन चोरों के द्वारा छोड़ी गयी वह आगे जाती हुई भूख से कृश हुए राक्षस के द्वारा रोकी गयी । सद्भाव के कहने पर वैसे ही राक्षस के द्वारा छोड़ी गयी वह माली के पास जाकर- मैं आगयी हूँ इस प्रकार उससे कहा । अहो यह सत्य प्रतिज्ञावाली है, इस प्रकार विचार कर उस माली ने अपनी बहन के समान वस्त्र आदि से सम्मानित कर उसे विसर्जित किया । वैसे ही उसने राक्षस से उस व्यतिकर के बारे में कहा । क्या मैं माली से भी मन्द सत्त्ववाला हूँ ? इस प्रकार सोचकर माली के समान उसे छोड़ दिया । उसने वैसे ही देखते हुए तथा वहीं पर बैठे हुए चोरों से माली और राक्षस का वृत्तांत कहा । अहो ! क्या उन दोनों से भी हम अधम हैं ? इस प्रकार सोचकर चोरों के द्वारा भी सन्मान कर वह छोड़ी गयी । अपने पति से उनके वृत्तांत का निवेदन कर वह सुख का अनुभव करने लगी ।

इस प्रकार कथा को कहकर अभय ने लोगों से पूछा कि- हे लोगों ! इन चारों में दुष्कर-कारक कौन हैं ? नव विवाहित स्व-पत्नी भी अन्य पुरुष के लिए जिसने भेजी हैं, उसका वह पति दुष्कर-कारक हैं, इस प्रकार ईर्ष्यालु कहने लगे । भूख से पीड़ितों ने राक्षस का वर्णन किया । जार-पुरुषों ने माली की प्रशंसा की और इस ओर फल के चोर ने चोरों की प्रशंसा की । वह तभी अभय के द्वारा धारण किया गया और पूछने पर उसने सद्-भाव को कहा । रुष्ट हुए राजा के द्वारा वध के आदेश देने पर अभय ने कहा- इससे अपूर्व दो विद्याएँ ग्रहण की जाये, पश्चात् यथा-योग्य करें । क्योंकि-

बालक से भी हित ग्रहण करे, अपवित्र वस्तु से भी स्वर्ण को ग्रहण करे । नीच से भी उत्तम विद्या ग्रहण करे और दुष्कुल से भी

स्त्री-रत्न को ग्रहण करें ।

तब सिंहासन के ऊपर बैठा हुआ श्रेणिक चांडाल को आगे बिठाकर उन्नामिनी-अवनामिनी ऐसी दोनों विद्याओं को पढ़ने लगा । परंतु बहुत बार पढ़ने पर भी जब वे विद्याएँ किसी भी प्रकार से हृदय में स्थित नहीं हो रही थी, तब क्रोधित हुए राजा ने- रे ! क्या तुम मुझ पर भी कूट कपट कर रहे हो ? इस प्रकार उसे डाँटा । तब अभय ने कहा-हे देव ! इसे आप सिंहासन के ऊपर बिठाकर और स्वयं अंजलि जोड़कर पृथ्वी पर बैठो । राजा ने भी वैसे ही किया । उससे वे शीघ्र ही हृदय में लिखित के समान स्थित हुई । विद्या-गुरुत्व के कारण से अभय ने उस चांडाल को छुड़ाया । इसलिए विनय ही सर्वत्र फलदायी हैं । उससे विनय पूर्वक श्रुत अध्ययन आदि करना चाहिए ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में इस प्रथम स्तंभ में तेरहवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



चौदहवाँ व्याख्यान

अब अन्वय से विनय के स्वरूप को कहकर व्यतिरेक से व्याख्यान की जाती है-

प्रकृति से दुर्विनीत-आत्मा, गुरु के कहे हुए में प्रतिकूल बुद्धिवाला शिष्य ऐसा कूलवालक संसार-सागर में मग्न हुआ था ।

एक आचार्य का दुर्विनीत शिष्य था । आचार्य उसे मारते थे । वह शिष्य शिक्षित करने पर भी क्रोधित होता था । अन्य दिन सूरि उसके साथ तीर्थ को नमस्कार करने के लिए उज्जयन्त-पर्वत पर गये थे । वहाँ पर यात्रिक स्त्री वर्ग के ऊपर चंचल नेत्रवाले कुशिष्य को देखकर उसे निवारण किया । वह भी क्रोधीत हुआ । उसने नीचे

उतरते हुए उन सूरि को चूर्ण करने के लिए बड़ी शिला डाली । वह गुरु के चरणों के मध्य में से निकल गयी । आचार्य ने शाप दिया- हे दुरात्मन् ! तू स्त्री से विनष्ट होगा । उसने सोचा-जहाँ स्त्रियाँ नहीं होगी, मैं वहाँ रहूँगा । गुरु मिथ्यावादी हो ! इस प्रकार सोच कर वह नदी कूल [किनारे] में आतापना करने लगा । उसकी लब्धि से वह नदी अन्यत्र बहने लगी । उससे लोगों ने उसका कूलवालक नाम किया ।

इस ओर श्रीश्रेणिक ने देव द्वारा अर्पित दिव्य कुंडल, अठारह चक्र हार, वस्त्र सहित सेचनक हाथी हल्ल-विहल्ल को दिया । कोणिक रुष्ट हुआ और प्रपञ्च से उसने अपने पिता को काष्ठ के पिंजरे में डाला । क्रम से राजा के पर-लोक गमन करने पर कोणिक-अशोक ने नूतन चंपापुरी को निवेशित कर काल आदि दस भाईओं के साथ वहाँ स्थित हुआ । एक दिन रानी पद्मावती के नित्य आग्रह से राजा ने हार आदि चार वस्तुओं की उन दोनों से याचना की । बुद्धिमंत उन दोनों ने- यह अशुभ के लिए हैं, इस प्रकार मानकर और अपनी समस्त सार वस्तुओं को ग्रहण कर रात्रि के समय में अपने नाना चेटक महाराजा के पास गये । कोणिक ने दूत के द्वारा उन दोनों की याचना की । राजा ने कहा- मैं शरण में आये दोनों दोहित्रों को कैसे अर्पण करूँ ? दूत के वाक्य के श्रवण से रोष से युक्त हुआ कोणिक अपने तीन करोड़ सुभटों के साथ तथा निज बल से तुल्य ऐसे काल आदि दस कुमारों के साथ चेटक के प्रति चला । चेटक भी अठारह राजाओं से युक्त युद्ध के लिए चला । उन दोनों का परस्पर युद्ध हुआ । प्रथम युद्ध में चेटक ने देव के द्वारा अर्पित बाण से काल को यम-आलय में पहुँचाया । दोनों ने भी विराम लिया । इस प्रकार दस दिनों में दस बाणों के द्वारा कोणिक के दस बान्धव भी मारे गये ।

नियम लेने से प्रति-दिन विशाला का स्वामी चेटक युद्ध में एक बाण को ही छोड़ता था । उसे दुर्जय जानकर बन्धु शोक रूपी समुद्र में मग्न हुए कोणिक ने अट्टम तप से सौधर्मेन्द्र और चमरेन्द्र की आराधना की । उन दोनों ने वहाँ आकर कहा-हम दोनों का चेटक राजा संयत साधर्मिक है, इसलिए हम दोनों तुम्हारे देह की रक्षा करेंगे । चमरेन्द्र ने महाशिला, कंटक रण और दूसरा रथमुशल नामक दिया ।

प्रथम युद्ध में कंकर भी फेंका गया शिला के समान बन जाता हैं और काँटा भी शस्त्र के समान बन जाता हैं, तब चौरासी लाख वीरों का वध हुआ और द्वितीय दिन छियानवे लाख वीरों का । कोणिक महाशिला, कंटक और रथ-मुशल इन तीनों के द्वारा भी चेटक राजा के साथ युद्ध करने लगा । उससे त्रस्त हुए चेटक ने नागरथि के पौत्र, श्राद्ध धर्म में कर्मठ, षष्ठ भक्त से भोजन करनेवाले, विक्रमी ऐसे वरुण सेनापति से कहा कि- हे सुभट ! तुम युद्ध करने में तैयार बनो । स्वामी का वचन प्रमाण हैं, इस प्रकार कहकर वह वरुण उस सेना के साथ युद्ध करने लगा । भवितव्यता से कोणिक के वचन से उसके सेनानी के बाण से प्रथम वह वरुण मर्म के ऊपर वींथा गया । वरुण ने भी दो-तीन कदम अपने रथ को चलाकर और उसे मारकर युद्ध से निकल गया । वरुण दर्भ के संधारे के ऊपर बैठकर आलोचना और प्रतिक्रमण कर तथा समाधि से मरकर अरुणाभ विमान में चार पल्योपम की आयुवाला देव हुआ और विदेह में मोक्ष को प्राप्त करेगा । विशेष से यह वृत्तांत पंचम अंग से जाने । चेटक के द्वारा छोड़ा हुआ बाण कोणिक के आगे इन्द्र के द्वारा वज्र से कीये हुए कवच से टकराकर पृथ्वी पर गिर पड़ा । सत्य प्रतिज्ञाधारी चेटक ने फिर से भी द्वितीय बाण को नहीं छोड़ा । द्वितीय दिन भी बाण व्यर्थ हुआ । तब चेटक ने विशाला में प्रवेश किया ।

रात्रि के समय सेचनक पर चढ़े हुए हल्ल-विहल्ल उसके सैन्य को मारकर शीघ्र वापिस लौट आते थे । कोणिक ने उन दोनों के द्वारा बहुत ही हनन की जाती हुई अपनी सेना को देखकर रहस्य में अपनी सेना के चारों ओर खादिर-अंगार से पूर्ण खाई बनाई । वे दोनों भी हाथी के ऊपर बैठे हुए उस खाई के समीप में गये । उस हाथी ने विभंग ज्ञान से जलती हुई खाई को ढंकी हुई देखकर-इन दोनों का विनाश न हो, इस प्रकार विचारकर उसने आगे पैर भी नहीं रखा । वे दोनों हाथी को अंकुश से मारकर कहने लगे कि- रे दुरात्मन् ! अब प्रतिकूलता धारण कर रहे हो, वह योग्य नहीं हैं । उस वाक्य के अनंतर हल्ल-विहल्ल को अपने कुंभ स्थल से नीचे उतारकर खुद को खाई में गिरा दिया । उसके ताप से गज मरण को प्राप्त हुआ और प्रथम स्वर्ग में गया ।

हाथी को मरा हुआ देखकर विलक्ष हुए वे दोनों सोचने लगे कि- अहो ! पशु से भी हम दोनों अधन्य हैं, जो हमारी ऐसी बुद्धि हैं और हम दोनों अनेक पापों से कैसे छूटेंगे ? इस प्रकार संवेग में लीन वे दोनों शासनदेवी के द्वारा वीरविभु के पास में छोड़े गये और उन्होंने संयम ग्रहण किया । तप से तपकर वे दोनों सर्वार्थ-सिद्ध में गये ।

कोणिक ने मन में प्रतिज्ञा की कि-यदि मैं हलों से युक्त गधेड़ों के द्वारा विशाला को नही खुदाता हूँ तो अग्नि में प्रवेश करूँगा । इस प्रकार प्रतिज्ञा कर नगरी को लेने में असमर्थ हुआ वह विषाद करने लगा । उस समय गुरु-आज्ञा के लोप से कुलवालक मुनि पर रुष्ट हुई शासन देवी आकाश में स्थित होकर राजा से कहने लगी- जब कूलवालक मुनि मागधिका वेश्या के समीप में गमन करेगा, तब राजा अशोकचंद्र वैशाली नगरी को ग्रहण करेगा ।

राजा ने मागधिका वेश्या को बुलाकर उसे वह कहा ।

मागधिका ने उसे स्वीकारा । पश्चात् वह कपट श्राविका होकर और वन में उस मुनि को प्रणाम कर कहने लगी- मैं स्थान-स्थान में चैत्य और साधुओं को वंदन कर भोजन करती हूँ । मैंने आपको यहाँ पर स्थित सुना था, इसलिए वंदन करने के लिए आयी हूँ । आप अनुग्रह करो और प्रासुक एषणीय भक्त को ग्रहण करो । इस प्रकार कहकर उसने नेपाल के गोटक चूर्ण से मिश्रित मोदक दीये । उससे अतिसार हुआ । उस वेश्या ने अन्य छोटी स्त्रियों के साथ वैसे मुनि की वैयावच्च की, जिससे कि वह वश में हुआ । पश्चात् वेश्या उसे कोणिक के समीप में ले गयी ।

राजा ने उसे कहा- वैसा करो जिससे कि नगरी ग्रहण की जाये । राजाज्ञा प्रमाण हैं, इस प्रकार कहकर वह नगरी के मध्य में गया । सर्वत्र भ्रमण करते हुए उसने मुनिसुव्रत-स्वामी के स्तूप को देखकर सोचा कि- इसके प्रभाव से शत्रु सैन्यों के द्वारा यह नगरी भग्न नहीं की जा रही है । मैं इस स्तूप के भंग का उपाय करता हूँ । नागरिकों ने उस मुनि को देखकर पूछा-नगर का रोध कब दूर हटेगा ? उसने कहा- जब तुम इस स्तूप को गिराओँगे तब । उन्होंने वैसा किया । भग्न कीये जाते हुए स्तूप को देखकर वह पापी जाकर विश्वास के उत्पादन के लिए शत्रु सैन्य को दो कोश दूर दूसरी ओर भिजवाया । उस प्रत्यय के अनुसार से कूर्म पर्यंत शिला को गिरा दी । इस प्रकार बारह वर्ष के अंत में लोगों ने गोपुर को उद्घाटित कीये । सहसा ही कोणिक ने आकर उसे तोड़ डाला । जो कि इस अवसर्पिणी में पहले भी ऐसा निवृत्त हुआ रण नहीं हुआ था, क्योंकि उस युद्ध में एक करोड़ और अस्सी लाख सुभट मरण को प्राप्त हुए थे । वहाँ एक मछली की कुक्षि में दस हजार उत्पन्न हुए । एक देवलोक में, एक सुकुल में और शेष तिर्यंच तथा नरक गति में उत्पन्न हुए ।

चेटक राजा नगरी से बाहर निकलता हुआ कोणिक के द्वारा कहा गया कि-हे पूज्य नाना ! आप कहो, मैं किस आदेश को करूँ ? चेटक ने कहा- हे दोहित्र ! तुम एक क्षण विलंब करो, मैं वापी के जल में स्नान कर आता हूँ । कोणिक के द्वारा स्वीकार करने पर, चेटक गले में लोह की पुतली को बाँधकर और समाधि में लीन हुआ जब वापी के अंदर गिरा, तब धरणेन्द्र ने अपने दोनों हाथ रूपी संपुटों से गिरते हुए उसे धारण कर अपने भवन में ले गया । वहाँ चेटक अनशन कर सहस्रार कल्प में इन्द्र के समान हुआ । उसका दोहित्र और सुज्येष्ठा का पुत्र सत्यकि विद्याधर समग्र नगरी के जन को नीलवंत पर्वत के ऊपर ले गया । कोणिक ने भी अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण कर चंपा में प्रवेश किया । देव और गुरु की आशातना में तत्पर कूलवालक भी मागधिका के संग से उत्पन्न हुए पाप से अनेक दुर्गतियों का भागी हुआ ।

इस प्रकार हे भव्य-मनुष्यों ! सम्यक् प्रकार से अति-दुरन्तवाले कूलवालक साधु के इस चरित्र को सुनकर, जो तुम्हें मोक्ष की इच्छा हो तो सद्-गुरुओं की विषम विष के समान आशातना को मत करो । (अथवा यदि तुम्हारे मन में मोक्ष की इच्छा हो, तो सद्-गुरुओं की आशातना का त्याग करो) ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में इस प्रथम स्तंभ में चौदहवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



पन्द्रहवाँ व्याख्यान

अब विनय के कथन के अनंतर चतुर्थ त्रिशुद्धि द्वारा कहा जाता है -

मन-वचन-काया की संशुद्धि सम्यक्त्व को शुद्ध करनेवाली होती हैं। वहाँ पहले मन की शुद्धि है वह जिन-मत को सत्य जानना यह है।

जिन-मत अर्थात् अहंत् द्वारा प्रणीत और सकल भावों को प्रकट करनेवाला द्वादशांगी रूप शास्त्र सत्य हैं। अन्य सर्व लौकिक और पर-तीर्थियों का शासन असार जानना वह मन-शुद्धि, यह अर्थ है। इस विषय में जयसेना का प्रबन्ध कहा जाता है-

उज्जयिनी में संग्रामशूर राजा था। वहाँ वृषभ श्रेष्ठी रहता था। सम्यक्त्व-गुण से विशिष्ट और पति का अनुसरण करनेवाली उसकी जयसेना नाम की पत्नी थी। परंतु वह बन्ध्यत्व दोष से युक्त थी। उसने एक दिन अपने स्वामी से कहा कि- हे स्वामी! आप संतान के लिए विवाह करो! पुत्र के बिना हमारा कुल नहीं शोभता। क्योंकि-

जहाँ पर स्वजनों की संगति नहीं है और जहाँ पर छोटे-छोटे शिशु नहीं हैं, जहाँ पर गुण-गौरव की चिन्ता नहीं है, हन्त! वे गृह भी गृह नहीं हैं।

श्रेष्ठी ने कहा कि- हे भद्रे! तेरे द्वारा सत्य कहा गया है, परंतु मेरा चित्त विषय आदि सुख से निरपेक्ष है। उसने कहा कि- हे स्वामी! संतान के लिए यह दुष्ट नहीं है। तब श्रेष्ठी मौन कर स्थित हुआ। उसने किसी श्रेष्ठी की गुणसुन्दरी कन्या की याचना कर विवाहित किया। धीरे-धीरे से जयसेना ने सपत्नी पर सर्व गृह के भार का आरोपण कर स्वयं धर्माभिमुख हुई। क्रम से गुणसुंदरी को पुत्र हुआ।

एक बार बन्धुश्री ने अपनी पुत्री से पूछा कि- हे पुत्री! तुझे

सुख हैं ? गुणसुंदरी ने कहा कि- हे माता ! सपत्नी के ऊपर मुझे देकर क्यों तुम सौख्य पूछ रही हो ? प्रथम मुंडन कर पश्चात् नक्षत्र को पूछ रही हो और जल पीकर गृह को । मुझे लेश-मात्र भी सौख्य नहीं हैं । मेरा प्रिय भी सपत्नी में रक्त हैं । बन्धुश्री ने कहा कि- हे वत्से ! यदि यह वृद्ध तेरा पति राग से और कला से उसके द्वारा मोहित किया जाता हैं, तो अन्य की तो बात ही क्या ? जो कहा गया है कि- जहाँ पर साईंठ वर्षवाले हाथी वायु के द्वारा ले जाये जाते हैं, वहाँ पर गाईयाँ नहीं गिनी जाती और मच्छरों की बात ही क्या ?

फिर भी हे पुत्री ! तुम स्वस्थ बनो, मैं तेरी सपत्नी के विनाश के उपाय को करूँगी । तुम पति के घर जाओ ।

एक बार रुद्र की मूर्ति के समान अतिशय से युक्त और भिक्षा के लिए आये हुए कापालिक को देखकर स्व-कार्य करने के लिए उसे अनेक रस से युक्त अन्न दिया । क्योंकि-

संसार में किसी का कोई प्रिय नहीं हैं सभी स्वार्थ से युक्त है । स्वार्थ की पूर्ति हेतु एक दूसरे की सेवा करते हैं । स्वार्थ की पूर्ति न हो तो जैसे दूध के क्षय को देखकर वत्स माता को छोड़ देता हैं ।

वह कापालिक भी नित्य भिक्षा के लिए आता हैं । वह उसे नित्य नयी-नयी भिक्षा देती हैं । एक बार प्रत्युपकार करने के लिए उसे कहा कि- हे माता ! जो तुम्हारा कार्य हो, वह मुझसे कहो जैसे कि मैं उसे करूँ । उसने गद्-गद् कंठ सहित पुत्री-दुःख को कहा । वह सुनकर योगी ने कहा कि- हे माता ! यदि मैं मंत्र से जयसेना को मारकर मेरी भगिनी को सुखी नहीं करूँगा तो अग्नि में प्रवेश करूँगा । इस प्रकार प्रतिज्ञा कर वह स्व-स्थान पर चला गया ।

चतुर्दशी में प्रेत-वन में जाकर और एक मृतक को लाकर और पूजा कर वैताली-विद्या के जाप से योगी ने उस शव में वैताली

को प्रत्यक्ष की। वेताली ने उसे कहा कि- हे योगी ! जो कार्य हैं, उसे आदेश करो। उसने कहा कि-हे महाविद्ये ! तुम जयसेना को मारो। वैसे ही इस प्रकार स्वीकार कर और उसके समीप में आकर जब वह देखती है, तब सम्यक्त्व में स्थिर चित्तवाली और कायोत्सर्ग में स्थित उसे देखकर, धर्म की महिमा से अमर्ष रहित हुई वह वेताली उसे प्रदक्षिणा देकर वापिस लौटकर वन में गयी। उसे विकराल देखकर योगी ने भय से पलायन किया। अन्य दिन फिर से भी द्वितीय बार उसके द्वारा प्रेरित की गयी भी जयसेना में विरूप करने में असमर्थ हुई अट्ट-हास को छोड़कर चली गयी। इस प्रकार तीसरी बार भी हुआ।

चतुर्थ-वेला में अपने अवसान से भय-भीत हुए योगी ने कहा कि-हे देवी ! उन दोनों के बीच जो दुष्ट हैं, उसे तुम शीघ्र से मार डालो। उसने देव-गुरु में भक्त जयसेना को छोड़कर देह-चिन्ता के लिए उठी हुई उस प्रमादिनी गुणसुंदरी का तलवार से विनाश कर साधक की आज्ञा से स्व-स्थान पर चली गयी। तब कायोत्सर्ग को समाप्त कर बाहर आयी हुई जयसेना ने वैसी बनी हुई उस सपत्नी को देखकर सोचने लगी कि- अहो ! पूर्व के कर्म से मुझे यह कलंक आया है। इस प्रकार सोचकर उपद्रव के क्षय के लिए फिर से भी स्मरण किया। इस ओर प्रातः काल में बन्धुश्री रात्रि के समय में क्या हुआ था ? इस प्रकार गवेषणा करने के लिए उत्सुक हुई पुत्री के गृह में आयी। काल की हुई पुत्री को देखकर और पूत्कार कर उसने राजा से कहा कि- हे राजन् ! मेरी पुत्री यह सपत्नी है, इस प्रकार के मत्सर से जयसेना के द्वारा मारी गयी है। तब रुष्ट हुए राजा ने उसे बुलाया। जब पूछने पर भी जयसेना ने उत्तर नहीं दिया तब शासनदेवी के द्वारा प्रेरित किया जाता हुआ योगी नगर के मध्य में कहते हुए और राज-

सभा में सहसा अपने रौद्र रूप को प्रकट कर कहने लगा कि- निष्कलंक ऐसी जयसेना को छोड़कर मत्सर से युक्त गुणसुन्दरी मेरे द्वारा ही मारी गयी है, इस प्रकार कहकर सर्व स्वरूप कहा । पुष्प आदि से वह देवता के द्वारा पूजित की गयी । बन्धुश्री नगर से निकाली गयी ।

राजा ने जयसेना से कहा कि- हे साध्वी ! कहो, जगत् में कौन-सा धर्म श्रेष्ठ हैं ? उसने कहा- जैन-धर्म को छोड़कर दूसरे-एकान्तिक, स्याद्वाद-शास्त्र से अज्ञ और न्याय युक्त नहीं हैं, बहुत दोषों से दूषित होने के कारण । यह सुनकर राजा ने फिर से पूछा कि- हे शील-सुगन्धे ! गंगा, प्रयाग आदि तीर्थों के मध्य में कौन-सा तीर्थ तारक है ? उसने कहा कि-हे राजन् ! लोक में अडसठ तीर्थ है, वे स्व-आत्म धर्म के समर्थक नहीं हैं । एक सिद्धाचल ही तीर्थ है, जिस गिरि के ऊपर कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा के दिन द्रविड-वारिखिल्ल दस करोड़ मुनियों के साथ में मोक्ष गये थे । फाल्गुन शुक्ल दशमी के दिन नमि-विनमि दो करोड़ मुनियों के साथ में सिद्ध हुए थे । फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन श्रीयुगादिदेव यहाँ पर पूर्व नव्वाणु बार आये थे । यहाँ श्री अजित जिन और श्रीशांतिजिन ने चातुर्मास किया था । तब सत्तरह करोड़ नर मुनि-लिंग से तथा गृही-लिंग से सिद्ध हुए थे । तथा यहाँ वर्षा-काल में पंचानवें हजार द्वितीय जिन के हस्त दीक्षित साधु स्थित हुए थे । उनके मध्य कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा के दिन दस हजार साधु केवल प्राप्त कर सिद्ध हुए थे । आश्विन शुक्ल पूर्णिमा के दिन पाँच पांडव बीस करोड़ मुनियों के साथ में सिद्ध हुए थे । फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी के दिन शाम्ब-प्रद्युम्न कुमार साढे तीन करोड़ मुनियों के साथ में सिद्ध हुए थे । श्रीकालसमुनि(श्रीकालिकमुनि) हजार संयमीयों के साथ में सिद्ध हुए थे । श्रीसुभद्रमुनि सात सो यतियों

के साथ में सिद्ध हुए थे । श्री रामचन्द्र पाँच करोड़ मुनियों के साथ, श्री राम के भाई भरत तीन करोड़ के साथ, श्रीवसुदेव की बहोत्तर हजार स्त्रियों के मध्य में पैंतीस हजार स्त्रियाँ सिद्धगिरि के ऊपर मुक्ति को प्राप्त हुई हैं । सैंतीस हजार स्त्रियाँ अन्यत्र सिद्धि को प्राप्त हुई हैं । आगामी-काल में देवकी और रोहिणी जिनत्व को प्राप्त करेंगी । व्याघ्री के द्वारा कीये उपसर्ग से सुकोशल मुनि पंगुलगिरि ऊपर सिद्ध हुए थे । इत्यादि अनंत साधु यहाँ पर सिद्ध हुए थे और सिद्ध होंगे । तथा श्री चैत्र पूर्णिमा के दिन यहाँ सिद्धगिरि के ऊपर श्रीपुंडरीक गणधर पाँच करोड़ मुनियों के साथ में सिद्ध हुए थे । इसलिए हे राजन्! समस्त तीर्थों की यात्रा का फल एक बार शत्रुञ्जय-तीर्थ को देखने से होता है । यह सुनकर राजा आदि सर्व ने भी श्रीजिनशासन-धर्म को और श्रीसिद्धाचल-तीर्थ को स्वीकार किया । तब राजा ने उसे महोत्सव पूर्वक घर भेजा । क्रम से प्रब्रज्या ग्रहण कर उसने मुक्ति पद को प्राप्त किया ।

स्याद्वाद-सिद्धान्त में विचार से युक्त चित्तवाली और कुदर्शन के आशंसन में मुक्त रागवाली उस जयसेना ने मन की प्रशस्ति से क्रम से अनंत सुख को प्राप्त किया ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में और इस प्रथमल स्तंभ में पंद्रहवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।

इस प्रकार श्रीउपदेश-प्रासाद में प्रथम स्तंभ समाप्त हुआ ।



द्वितीय स्तंभ

सोलहवाँ व्याख्यान

मन-शुद्धि का ही वर्णन किया जाता है -

जो मन की शुद्धि को धारण कीये बिना मुक्ति के लिए तपस्या करते हैं, वे नाँव को छोड़कर दोनों भुजाओं से बड़े समुद्र को तैरने की इच्छा करते हैं। उससे सिद्धि के इच्छुक के द्वारा अवश्य मन-शुद्धि करनी चाहिए। बहुत आरंभ में भी शुद्ध मन से आत्मा मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस विषय में आनन्द-श्रावक का प्रबन्ध जानें और वह यह है-

राजगृह में एक दिन गुणशील चैत्य में समवसरण में पधारें हुए जिनेश्वर को सुनकर आनन्द नामक कौटुम्बिक स्वजनों के साथ पैदल चलकर जाता हुआ केवली को नमस्कार कर और अनेकान्त व्यवस्थापिक वाणी को सुनकर प्रतिबोधित हुआ सम्यक्त्व पूर्वक देश संयम को ग्रहण किया। प्रथम उसने द्विविध त्रिविध से स्थूल-प्राणातिपात आदि पाँच अणुव्रतों को ग्रहण कीये। चतुर्थ व्रत में स्व-द्वारा विना विरति को स्वीकार किया। पाँचवें व्रत में स्व इच्छा से द्रव्य-मान किया। निधि में रक्षण के लिए चार करोड़ स्वर्ण, चार करोड़ स्वर्ण व्याज के लिए, चार करोड़ स्वर्ण व्यापार में और उससे अधिक का नियम लिया। तथा दश हजार गायों से एक गोकुल होता है, इस प्रकार से चार गोकुल, हजार बैल-गाड़ियाँ, कृषि के लिए पाँच सो हल और चार वाहनों को, उससे अधिक की विरति ग्रहण की। दिग् व्रत का वर्णन व्रताधिकार में किया जायगा। सातवें व्रत में अनन्तकाय, अभक्ष्य, और पंद्रह कर्मादान विरति को ग्रहण की। तथा यष्टि मधुक के दन्त-धावन को और मर्दन में सहस्रपाक और शतपाक तैल के बिना अन्य तैल को नहीं, उबटन में गेहूँ से बनें चूर्ण

के सिवाय अन्य पिष्ट को नहीं, स्नान में उष्ण पानी के आठ मिट्टी के कलशों को, ऊँचे और नीचे परिधान में दो पट्टकूल वस्त्र, विलेपन में चंदन, अगर, कर्पूर और कुंकम के बिना अन्य नहीं, पुष्पों में पुंडरीक और मालती-पुष्प, आभूषण में नाम से युक्त अंगूठी और कानों के दो आभरण, तथा धूप में अगुरु और तुरुष्क । पेय में आहार-प्रकार में काष्ठ-पेय नामक जो मूंग से युक्त हैं, घी में तले हुए चावलों से बने पेय को, पक्वान में घेबर और शष्कुली आदि, ओदनो में कलम-शालि से निष्पन्न हुए, द्विदलों में मुझे मूंग, उडद, काले चने के आकारवाले हो, घी में शरद्-ऋतु में उत्पन्न हुआ गाय का घी ही, सागों में चूचू, सौवस्तिक और मंडूकिका हो, मधुरों में मुझे पल्यंक का साग हो, अन्नो में वडें, फलों में क्षीरामलक, जलों में आकाश का पानी ही हो, मुखवास के लिए मुझे जाईफल, लविंग, इलायची, कक्कोल और कर्पूर, इन पाँचों से संस्कृत किया गया तांबूल हो । जिन के समीप में इस व्रत को अंगीकार किया, इस प्रकार उसने अन्तिम व्रत तक स्वीकार किया । व्रत का स्वरूप आगे कहा जायगा । तत्त्व को जाननेवाला वह स्व-भवन में आकर शिवानन्दा से कहने लगा-मैंने परम आर्हत-धर्म को स्वीकार किया है । तुम भी सम्यक् प्रकार से जिन के समीप में धर्म को अंगीकार करो । इसे सुनकर वह सखीयों से घेरी हुई वहाँ जाकर और प्रभु को नमस्कार कर जिन के द्वारा कहे धर्म को प्राप्त किया । देश-चारित्र में तत्पर उन दोनों को चौदह वर्ष व्यतीत हुए ।

वह अन्य दिन रात्रि के समय में निद्रा रहित हुआ धर्म-चिन्ता को करने लगा कि-अहो ! मेरा आयुष्य राग-द्वेष से व्यतीत हुआ है । जैसे कि-

लोक मेरी वार्ता को पूछते हैं कि तुझे शरीर में कुशल है ? कहाँ से कुशल ? हमारी आयु दिन-दिन घट रही है ।

उससे मैं प्रमाद को छोड़कर और उपासक प्रतिमाओं का अंगीकार कर जिन की भक्ति से पालन करता हूँ । प्रभात में अपने ज्ञाति कुल को वस्त्र, आहार आदि से संतुष्ट कर और ज्येष्ठ-पुत्र पर गृह के भार का आरोपण कर स्वयं ने प्रतिमा वहन की । प्रथम छह आकारों से रहित और शंका आदि अतिचारों से रहित हुए उसने मास पर्यन्त सम्यक्त्व प्रतिमा का आचरण किया । उसे पूर्व-क्रिया से युक्त इस प्रकार सर्वत्र जोड़ें । उसने दो मास पर्यंत द्वादश-व्रत का पालन किया । तत्पश्चात् वह तीन मास तक सामायिक-प्रतिमा में स्थित हुआ था । वह चार मास तक चारों पर्व में पौषध का पालन करता था । उसने पौषध से ही चार प्रहरोंवाली रात्री में पाँच मास तक कायोत्सर्ग को किया । पूर्व की क्रियाओं में तत्पर उसने छद्मी प्रतिमा में छह मास तक ब्रह्मचर्य का पालन किया । पूर्व की क्रियाओं में तत्पर उसने सातवी प्रतिमा में सचित्त-वर्जन किया । उसने आठवी प्रतिमा में आठ मास पर्यंत स्वयं ने आरंभ का त्याग किया । उसने नवमी प्रतिमा में नव मास पर्यंत नौकरों का प्रेषण रूपी आरंभ का वर्जन किया । दसवी प्रतिमा में वह अपने लिए बनें हुए भोजन को नहीं लेता था । ग्यारहवी प्रतिमा का स्वरूप यह है—

उत्तरें से अथवा लोच से मुंड होकर, रजोहरण और पात्र को लेकर श्रमण के समान हुआ धर्म को काया से स्पर्श करता हुआ विहार करता है ।

इस प्रकार ग्यारह मास पर्यंत किया । इस तरह से इन ग्यारह प्रतिमाओं को भी करता हुआ वह पाँच वर्ष और पाँच महिनों से बाहर तथा अंदर से कृश हुआ । तब उसने दुर्बलत्व को जानकर चार शरण पूर्वक अनशन को ग्रहण कर स्थित हुआ । तब उसे मन की शुद्धि से अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ ।

तब वहाँ समवसरण कीये हुए प्रभु को नमस्कार कर और पूछकर गौतम वाणिज्य ग्राम में भिक्षा के लिए आये । वहाँ से एषणीय आहार को लेकर वापिस आते हुए बहुत जनों से आनन्द की वार्ता को सुनकर उससे सुख को पूछने के लिए वहीं पर आये । वहाँ पर आये उन स्वामी-पाद युगल को प्रणाम कर उसने भी पूछा कि- हे भगवन् ! क्या श्रावक को भी अवधिज्ञान होता है ? गौतम ने कहा कि- सुश्रावक में होता है । यह सुनकर उसने कहा कि- हे प्रभु ! मुझे ज्ञान हुआ है, जिससे मैं ऊर्ध्व में सौधर्म को, नीचे में लोलुक को तिर्यग् में लवण-समुद्र को, तीन दिशाओं में पाँच-पाँच सो योजनों तक और उत्तर दिशा में क्षुद्रहिम-पर्वत तक वस्तुओं को देख रहा हूँ । इस प्रकार कहने पर गौतम ने कहा कि- ऐसा गृहस्थों को संभवित नहीं है, उससे तुम मिथ्या दुष्कृत करो । उसने कहा कि- हे भगवन् ! मिथ्या कहने पर मिथ्या दुष्कृत होता है, उससे आपके द्वारा ही वह कहना चाहिए ।

शंकित हुए गौतम ने वहाँ जाकर तीर्थंकर को पूछा । तब प्रभु ने भी वैसे ही कहा । उसे सुनकर और वहाँ आकर गौतम ने मिथ्या दृष्कृत दिया । अब आनन्द पंच-नमस्कार का स्मरण करता हुआ सौधर्म कल्प में अरुणाभ विमान में चार पल्लोपम की आयुवाला देव हुआ । वहाँ से च्यवकर महाविदेह में मोक्ष-पुरी को प्राप्त करेगा । विशेष से यह प्रबंध उपासक सूत्र से जानें ।

इस प्रकार से आनन्द के चरित्र को सुनकर आनन्द से भरे हुए श्रावक प्रति-दिन मन की शुद्धि के लिए आदर सहित हो ।

इस प्रकार आनन्द का चरित्र सोलहवाँ हुआ ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में द्वितीय स्तंभ में सोलहवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।

“सतरहवाँ व्याख्यान”

अब “द्वितीय वचन-शुद्धि” के स्वरूप को कहतें हैं कि-

जीव, अजीव आदि तत्त्वों के प्ररूपक सद्-आगम के विरुद्ध न कहें, वह मध्यम शुद्धि होती हैं। अब इस प्रकार से इसकी स्तुति करते हैं-

दान से गृह का आरंभ, विवेक से गुण-व्रत और वचन-शुद्धि से ही मोक्ष-सौख्य का अंग सम्यग् दर्शन जाना जाता हैं।

इस विषय में संप्रदाय से आया हुआ यह कालिकसूरि का प्रबन्ध है- संकट में भी महान् पुरुष दत्त के मामा सुकालिक-आर्य के समान झूठ न बोलें। पत्थर पर घिसने पर भी चंदन सुगंधि होता हैं और ईक्षु भी पीलने पर अद्भुत रसवाला होता हैं।

तुरमणि नगरी में कालिक ब्राह्मण रहता था। उसकी भद्रा नाम की बहन थी। उसे दत्त नामक भानजा था। कालिक ने क्रम से गुरु के समीप में धर्मोपदेश को सुनकर वैराग्य से संयम को ग्रहण किया। उस शासक के बिना दत्त अत्यंत निरर्गल हुआ। वह सप्त-व्यसनी होकर क्रम से जितशत्रु राजा का सेवक हुआ। सेवा के द्वारा प्रसन्न कीये गये राजा ने उसे प्रधान पद दिया। क्रम से सर्व राज-वर्ग को वश कर और राज्य से राजा को निर्वासित कर स्वयं राज्य का प्रभु हुआ। निःशंक और पर-लोक से अभीरु उसने आश्रव कर्मों में द्रव्य-व्यय किया।

इस ओर बहु-श्रुत होकर कालिक-कुमार ने गुरु से सूरि-पद को प्राप्त किया। याग को कराता हुआ वह दत्त बहुत जीवों को मारने लगा। राजा यज्ञ में मारे जाते हुए पशुओं को देखकर हर्षित हुआ। एक दिन वहाँ कालिकाचार्य आये। वह दुष्ट बुद्धिवाला माता के अनुरोध से गुरु को वंदन करने के लिए गया। दत्त मामा-सूरि को

वंदन कर आगे बैठा और उसने गुरु से पूछा कि- हे मामा ! आप मुझे कहो कि यज्ञ का फल क्या होता है ? इस प्रकार पूछने पर गुरु ने प्राणीरक्षा रूपी धर्म को कहा । उसने कहा कि- हे प्रभु ! मैं धर्म नहीं पूछ रहा हूँ, किंतु फल पूछ रहा हूँ । इस प्रकार बार-बार पूछने पर गुरु ने कहा कि- हे दत्त ! क्या तुम नहीं जानते हो ? यज्ञ का फल महा-नरक ही है । तुझे नरक-गति होगी । क्योंकि-

अस्थि में रुद्र रहता है, मांस में जनार्दन है । ब्रह्मा शुक्र में निवास करता है, उससे मांस का भक्षण न करें । तिल-सरसों जितने मात्र मांस को जो मनुष्य भक्षण करता है, वह चन्द्र और दिवाकर पर्यंत नरक में जाता है ।

हे राजन् ! तुम इस दिन से सातवाँ दिन होने पर कुंभीपाक से पकाये जाते हुए नरक में जाओगे । यहाँ पर कौन-सा प्रत्यय है ? इस प्रकार उसके पूछने पर सूरि ने कहा कि- मृत्यु क्षण के पूर्व क्षण में तेरे मुख में मनुष्य की विष्टा गिरेगी । उसने पूछा कि- हे मामा ! आपकी कौन-सी गति होगी ? गुरु ने कहा- मैं स्वर्ग में जाऊँगा- इसे सुनकर उनको तलवार से मारने की इच्छा करता हुआ सोचने लगा कि- यदि मैं सात दिनों के बाद जीवित रहूँगा, तो इसे मार डालूँगा । दत्त ने उन सूरि को पहरेदार से नियंत्रित कर और अपने महल में प्रवेश कर संनद्ध हुए करोड़ भट्टों से घेरा हुआ छह दिनों को व्यतीत कीये । इस ओर जितशत्रु राजा के भक्त जनों ने राज्य के दान के लिए राजा को प्रकट किया । यहाँ राज-मार्गों के रक्षण कीये जाने पर और अशुचियों को दूर कीये जाने पर आनंदित हुआ दत्त राजा सातवें दिन में आठवें दिन की भ्रान्ति से घोड़े पर चढ़ा हुआ राज-मार्ग पर निकला ।

इस ओर माली फूलों से पूर्ण करंडक से युक्त राज-मार्ग में आया । भेरी आदि शब्दों को सुनने मात्र से ही अकस्मात् उस माली

को अत्यंत ही मल-उत्सर्ग की चिन्ता हुई । लोगों की बहुलता से अन्यत्र जाने में असमर्थ हुआ उस माली ने लब्ध-लक्ष्यपने से शीघ्र वही मल-उत्सर्ग कर और उसके ऊपर पुष्प-पुञ्ज को रखकर आगे चला ।

तब उस मार्ग पर जाते हुए दत्त राजा के मुख में घोड़े के खुर से उछाला गया विष्ठा का लेश गिरा । वह दत्त राजा जब उस प्रत्यय से वापिस गृह के अभिमुख आता है, तब मंत्री के द्वारा नियुक्त कीये हुए सेवकों के द्वारा बाँधकर वह जितशत्रु को समर्पित किया गया । आनंदित हुए उसके द्वारा वह कुंभीपाक से पकवाया गया ।

वह मरकर नरक के दुःखों के अतिथिपने को प्राप्त हुआ और आयु के क्षय से सूरीन्द्र भी स्वर्ग के भूषण हुए । इस प्रकार से दूसरों के द्वारा भी विदूर से मृत्यु के भय की अवगणना कर यथा स्थित वाक्य ही कहना चाहिए जिससे कि इस जन्म में अनेक लोगों के द्वारा मान्य ऐसे नृपपने को प्राप्त करता है और पर-भव में देवों के सौख्य प्रमुख संपदाएँ मिलती हैं ।

इस प्रकार वाक्-शुद्धि में कालिकाचार्य का प्रबन्ध हैं ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में द्वितीय स्तंभ में सत्तरहवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



अठारहवाँ व्याख्यान

अब अन्तिम काय-शुद्धि का प्रकाशन किया जाता है-

जो खड्ग आदि से भेदित किया जाता हुआ और बंधनों से पीड़ित किया जाता हुआ भी जिनेश्वर के बिना अन्य देवों को नमस्कार न करें, उसे काय शुद्धि कहते हैं । तलवार आदि से भेदा जाता हुआ,

रस्सी, जंजीर आदि बंधनों से पीड़ित किया जाता हुआ भी- महान् संकट में गिरा हुआ भी, जिनेश्वर के बिना अन्य शाक्य, शंकर, स्कन्द आदि देवों को नमस्कार नहीं करता, उस सम्यक्त्ववन्त प्राणी को वह तीसरी काय-शुद्धि होती है, यह अर्थ है और भावार्थ तो वज्रकर्ण के प्रबन्ध से कहा जाता है-

अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न दशरथ नामक राजा था । उसने प्रियतमा कैकेयी को वर दिया था और उस वर से उसने राम-लक्ष्मण और सीता का बारह वर्ष का वनवास कराया । अनुक्रम से वे पञ्चवटी मार्ग से अवन्ती देश के एक ग्राम को प्राप्त हुए । वहाँ पर दूकानें व्यापार के योग्य वस्तुओं से परिपूर्ण थी, गृह धन-कांचन से पूर्ण थे, धान्य को नहीं ग्रहण कीये हुए बैल आदि दीखायी दे रहे थे, परंतु कोई मनुष्य नहीं दिख रहा था ।

राम ने लक्ष्मण से पूछा-यह शून्य कैसे है ? लक्ष्मण ने अति बड़े वृक्ष के ऊपर चढ़कर चारों दिशाओं में देखा । उतने में ही एक पुरुष दिखायी दिया, उसने भी आकर के प्रणाम किया । लक्ष्मण उसे लेकर अग्रज के पास में आया । राम के पूछने पर उसने कहा कि-

हे स्वामी ! दशपुर में सत्त्वशाली वज्रकर्ण राजा था, परंतु वह लोक में प्रसिद्ध चंद्र के समान शिकार के व्यसन से दूषित था । एक दिन उसने वन में शिकारीयों की सहायता से सगर्भिणी हरिणी को बाण से मार डाला । तब उसका गर्भ पृथ्वी पर गिर पड़ा । छिपकली की कटी हुई पूंछ के समान पीड़ित उसे देखकर करुणा उत्पन्न होने से वह अपनी निन्दा करने लगा कि- हा ! मैंने नरक पाप का अर्जन किया है । इस प्रकार से निर्दयता को छोड़कर परिभ्रमण करते हुए राजा ने एक स्थान पर शिला-तल के ऊपर आसीन, शान्त, दान्त साधु को देखकर प्रणाम किया । उसने नमस्कार कर पूछा कि-

आप यहाँ अरण्य में क्या कर रहे हो ? यति ने कहा कि- आत्म-हित ! उसने कहा कि- हे स्वामी ! आप मुझे भी आत्म-हित कहो । मुनि ने कहा- सम्यग्-दर्शन पूर्वक हिंसा आदि का त्याग करना ही आत्म-हित है । जो कि-

जिनेन्द्र देव जो राग-द्वेष रहित है, गुरु भी चारित्र रहस्य के कोष के समान हैं और जीव आदि तत्त्वों की श्रद्धा, इस प्रकार से सम्यक्त्व प्रधान कहा गया है । अरिहंत और मुनि-सत्तमों को छोड़कर, जिसका सिर दूसरों को नमस्कार नहीं करता, निर्वाण सुखों का निधान-स्थान ऐसा यह सम्यक्त्व उसी का विशुद्ध होता है ।

इत्यादि धर्म के उपदेश से प्रतिबोधित हुए उसने सम्यक्त्व मूल द्वादश व्रतों को लीये । उसमें भी विशेष से जिनेश्वर और सुगुरु के बिना मैं अन्य को नमस्कार नहीं करूँगा, इस प्रकार से नियम को ग्रहण कर वह स्व-नगर में आया । उसने निज चित्त में सोचा कि- मैं अवन्ती के स्वामी सिंहरेथ का सेवक हूँ । इसलिए अवश्य ही प्रति-दिन मुझे प्रणाम विधेय है और उससे मेरे नियम का भंग होगा, इस प्रकार से विचारकर उसने अंगूठी की मुद्रिका के ऊपर श्रीमुनिसुव्रत स्वामी के बिंब को कराया । उसे आगे कर वह मन से जिन-प्रणाम और बाह्य से राज-प्रणाम को करता था ।

एक बार किसी दुर्जन ने राजा से सर्व भी वृत्तान्त की विज्ञप्ति की । तब राजा ने सोचा कि- अहो ! वज्रकर्ण कृतघ्नों का स्वामी है जो मेरे राज्य को भोग रहा है और मुझे नमस्कार भी नहीं करता । इस दुष्ट को दंड ही न्याय है, इस प्रकार विचारकर उसने संग्राम के लिए भेरी बजवायी । उतने में ही एक पुरुष ने आकर के कहा कि- हे वज्रकर्ण ! हे साधर्मिक-श्रेष्ठ ! तुझे जो इष्ट है, उसे करो । राजा ने पूछा- तुम कहाँ पर रहते हो ? तब उसने कहा कि- हे देव ! मैं

कुंडनपुर का निवासी वृश्चिक नामक श्रावक हूँ । एक बार बहुत क्रयाणक वस्तुओं को लेकर मैं उज्जयिनी में आया था । तब वसन्त महोत्सव में अनंगलता गणिका को देखकर मोहित हुए मैंने उसे सर्वस्व अर्पित किया । मैं विषय सुख को भोगने लगा ।

एक बार वह वेश्या रानी के आभूषणों को देखकर के अपने आभूषणों की निन्दा करती हुई रोने लगी कि- यदि तुम मेरे सत्य पति हो तो मुझे रानी के आभूषण दो । मैंने भी उसे स्वीकार किया । रात्रि के समय उन्हें चुराने के लिए मैं राजा के वास-मंदिर में गया था और वहाँ मैंने उन दंपतीयों का आलाप सुना । रानी ने उसे पूछा कि- हे स्वामी ! आज आपको कौन-सी चिन्ता हैं ? राजा ने कहा कि- हे प्रिये ! जब प्रभात में वज्रकर्ण मेरी हाथ की तलवार से महा-बन्धन को प्राप्त करेगा, तब मेरे चित्त में सौख्य होगा । तब मैं उसके वाक्य से तुम्हारी दृढ़ता को सुनकर अब्रह्म से निवृत्त हुआ शीघ्र ही उसे कहने के लिए आया हूँ । तुम अपने इच्छित को करो । वज्रकर्ण उसे द्रव्य आदि से सन्मानित कर और स्वयं भी सज्जित होकर स्थित रहा, इन गांवों के लोग दशपुर नगर में चले गये है और वज्रकर्ण भी नगर के द्वार बंध कर नगर के मध्य में रहा हुआ है ।

प्रभात में सिंहरथ ने नगर को वेष्टित किया । उसने दूत भेजा । दूत आकर के कहने लगा कि- हे वज्रकर्ण ! हमारें चरण नमस्कार से राज्य भोगो, अन्यथा तुझे मार डालूँगा । वज्रकर्ण ने कहा कि- रेरे दूत ! मुझे राज्य से प्रयोजन नहीं हैं, परंतु तुम मुझे धर्म-द्वार दो जिससे कि मैं अन्यत्र जाकर स्व-नियम का पालन करूँगा । इस प्रकार से कहने पर दूत ने वह सिंहरथ से कहा । दूत के वाक्य से क्रोधित होकर वह सिंहरथ नगर को रोककर रहा हुआ है । इस प्रकार उस पुरुष ने देश के उज्जड होने का कारण कहा ।

राम ने लक्ष्मण से कहा कि- हे वत्स ! हम वहाँ जाकर आश्चर्य को देखें । वज्रकर्ण का साधर्मिक वात्सल्य किया जाय । तब दशपुर के बाहर अग्रज को छोड़कर लक्ष्मण नगर के मध्य में गया । वज्रकर्ण ने भोजन के लिए निमंत्रण किया । तब लक्ष्मण ने कहा कि- पत्नी सहित मेरा भाई बाहर देव गृह में हैं । तब वज्रकर्ण ने राम को निमंत्रित कर सभी को भोजन कराया ।

राम ने लक्ष्मण को सिंहरथ के पास में भेजा । वहाँ जाकर उस राजा से कहा- मैं राम के द्वारा भेजा गया हूँ । अयोध्या पति भरत की आज्ञा है तुम वज्रकर्ण के साथ में युद्ध मत करो । सिंहरथ ने कहा- मैं भरत की आज्ञा का स्वीकार नहीं करता हूँ । लक्ष्मण ने कहा- तुम युद्ध के लिए तैयार बनो । सिंहरथ भी गज पर चढ़कर संग्राम के लिए आया । लक्ष्मण ने जीतकर उसे पृथ्वी के ऊपर गिराया । तब सिंहरथ ने विज्ञप्ति की- मुझ अज्ञानी ने आप स्वामी को नहीं जाना, अब यथा- इच्छित करो । वज्रकर्ण को उज्जयिनी का राज्य देकर और सिंहरथ को सेवक कर छोड़ दिया । पश्चात् सभी स्व-स्थान पर चले गये । वज्रकर्ण भी नियम का परिपालन कर और सभी जीवों से क्षमा माँगकर स्वर्ग में गया, पश्चात् मोक्ष में जायगा । श्रीवज्रकर्ण राजा के वर्णन को सुनकर, काय-शुद्धि के धारक भव्य मनुष्यों के द्वारा जिनेन्द्र को छोड़कर अन्य को नमस्कार नहीं करना चाहिए, जिससे कि मुक्ति रूपी स्त्री शीघ्र से आलिंगन करती हैं ।

इस प्रकार से काय-शुद्धि में वज्रकर्ण राजा का दृष्टांत है ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में द्वितीय स्तंभ में अठारहवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



उन्नीसवाँ व्याख्यान

अब पाँचवाँ पाँच दोषों का परिहार का स्वरूप लिखा जाता है ।

यें पाँचों भी सम्यक्त्व को दूषित करते हैं- शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि-प्रशंसन और उनका संस्तव ।

यहाँ पहले शंका है और वह यह है कि- श्रीमद्-अर्हत् के धर्म में संदेह सहित बुद्धि का होना । वह दो प्रकार से हैं- देश से और सर्व से । वहाँ देश-शंका एक-एक पदार्थ में होती है, जैसे कि- जीव है, किन्तु वह सर्व व्यापी है अथवा सर्व व्यापी नहीं है । स-प्रदेश है अथवा प्रदेश रहित है । दूसरी सर्व-शंका सर्व पदार्थों में अप्रत्यय रूप से होती है । दोनों प्रकार से भी शंका सम्यक्त्व को दूषित करनेवाली होती है । यहाँ पर पेय-पीलानेवाली नारी का यह उदाहरण है कि-

किसी स्थान पर किसी नारी को दो पुत्र हुए थे । एक सपत्नी का पुत्र था और द्वितीय खुद का था । लेख-शाला से आये उन दोनों को उसने उडद का पेय दिया । सपत्नी के पुत्र ने सोचा कि- यह पेय मक्खी से युक्त है । इस प्रकार आशंकित हुआ नित्य वमन करता हुआ वल्गुलि व्याधि से मरण प्राप्त हुआ । द्वितीय ने सोचा कि- माता मक्खी को नहीं देती है । इस प्रकार निःशंकपने से वह सुख का भोगी हुआ । इस लिए शंका का परिहार करना चाहिए ।

इस विषय में श्रीवीर के केवलज्ञान की उत्पत्ति से सोलह वर्ष के व्यतीत होने पर उत्पन्न यह द्वितीय तिष्यगुप्त का प्रबन्ध इस प्रकार से है-

राजगृह में गुणशील चैत्य में चौदह-पूर्वी वसु नामक आचार्य आये थे । उनका शिष्य तिष्यगुप्त था ।

एक बार आत्म-प्रवाद पूर्व का अध्ययन करते शिष्य को यह सूत्र का आलाप आया- हे भगवन् ! एक जीव के प्रदेश में जीव है, इस प्रकार से कहना चाहिए । नहीं, यह अर्थ समर्थ नहीं हैं । एवं दो, तीन, संख्येय अथवा असंख्येय एक प्रदेश से न्यून बिना का जीव हैं, इस प्रकार से जीव नहीं है, ऐसा कहना चाहिए किस कारण से ? क्योंकि संपूर्ण प्रतिपूर्ण लोक-आकाश प्रदेश के समान जीव, जीव है ऐसा कहना चाहिए । इत्यादि पढ़ते हुए उस शिष्य को शंका हुई कि एक अन्त्य प्रदेश में जीव हैं, शेष में नहीं है, इस सूत्र के आलापक के प्रमाण से । इस प्रकार से प्ररूपणा करते हुए उस शिष्य को मित्र होकर के गुरु कहने लगे कि- हे शिष्य ! यदि प्रथम आदि प्रदेशों में जीवत्व इष्ट नहीं हो, तो अन्त्य प्रदेश में भी वह इष्ट नहीं हो क्योंकि समान प्रदेश के होने से । जैसे धूल के हजार कणों में तैल नहीं है तो एक अन्त्य कण में भी तैल कहाँ से आयगा ? अंतिम प्रदेश में जीव मानने से जीव का अभाव ही होता है और यह अर्थ अनिष्ट हैं ।

शिष्य ने कहा कि- निश्चय से यह वचन आगम-बाधित है, क्योंकि अनंतर कहे हुए श्रुत में प्रथम आदि प्रदेशों के बिना चरम प्रदेश में जीवत्व की अनुज्ञा होने से । जगत्-बन्धु के द्वारा प्रणीत किया हुआ कैसे निषेध किया जाता है ? गुरु कहने लगे कि- हन्त ! यदि तुम सूत्र को प्रमाणित करते हो, तो वहीं पर कहा गया है- संपूर्ण प्रतिपूर्ण लोक-आकाश प्रदेश के समान जीव है, इसलिए श्रुत की प्रमाणता की इच्छा करते हुए तुम्हारे द्वारा आपत्ति नहीं करनी चाहिए । किंतु समुदित कीये हुए सर्व जीव-प्रदेश भी जीव हैं । जैसे कि समस्त ही धागों के समुदाय से वस्त्र का सूचन प्राप्त किया जाता है, लेकिन एक धागे में समस्त वस्त्र नहीं होता ।

इत्यादि रीति से गुरुओं के द्वारा समझाने पर भी जब लेश-

मात्र भी स्वीकार नहीं किया, तब उसे गच्छ से बाहर किया। वह शिष्य विहार करता हुआ आमलकल्या नगरी में जाकर वन में स्थित हुआ। वहाँ मित्रश्री श्रावक ने उसे-यह निहव है, इस प्रकार से जानकर, उसके प्रतिबोध के लिए वहाँ जाकर उसे निमंत्रित किया कि आज आहार के लिए मेरे घर में आप स्वयं ही आये। वह शिष्य उसके घर पर गया। और वहाँ उसे बिठाकर बड़े हर्ष को दिखाते हुए उस श्रावक ने उसके आगे भक्ष्य, भोज्य, अन्न-पान, व्यञ्जन, वस्त्र आदि वस्तुओं के समूह को विस्तारित कीये। उनके मध्य में से एक-एक अन्त्य अवयव को लेकर के उस शिष्य को प्रतिलाभित किया। वस्त्र के एक तन्तु को निकालकर और उसे देकर के नमस्कार किया। वह अपने स्वजनों को कहने लगा कि- तुम वंदन करो, साधु प्रतिलाभित कीये गये हैं। मैं धन्य हूँ, पुण्यवान् हूँ जो मेरे घर पर स्वयं ही गुरु आये हैं।

तब वह शिष्य कहने लगा कि- हे श्रावक ! इस प्रकार से तो हम तेरे द्वारा अवमानित कीये गये हैं ? उसने कहा कि- हे स्वामी ! जो आपका मत प्रमाण है, तो यह सत्य ही है कि चावल का अन्त्य अवयव तृप्ति के लिए होगा और शीत से रक्षण के लिए वस्त्र का तन्तु होगा। और यदि नहीं तो आपका समस्त भी कहा हुआ मिथ्या होगा। इस प्रकार से सुनकर वह शिष्य कहने लगा कि- हे श्रावक ! हम तुम्हारे द्वारा सुंदर रीति से प्रतिबोधित कीये गये हैं और श्रीवीरविभु के वाक्य में निःशंकित कीये गये हैं।

पश्चात् उस श्रावक ने उनको अत्यंत भक्ति की विधि से प्रतिलाभित किया। तथा वह शिष्य भी आलोचना और प्रतिक्रमण कर श्रीजिन की आज्ञा से विहार करने लगा। पश्चात् गुरु-पाद मूल से सम्यग् मार्ग को स्वीकार किया और क्रम से स्वर्ग को प्राप्त हुआ।

श्रीतिष्यगुप्त के इस चरित्र को सुनकर-शंका सुबुद्धि को मलीन करती है, इस प्रकार से भव्य पुरुषों के द्वारा सदा ही जिन सूत्र और वाक्य में वह कभी-भी नहीं करनी चाहिए ।

मति-दौर्बल्य आदि से अथवा कोई समय मोह के वश से जहाँ पर भी संशय होता है, वहाँ भी यह अप्रतिबाधित अर्गला है, जैसे कि-

कहीं पर मति की दुर्बलता से अथवा उस प्रकार के आचार्य के विरह से और ज्ञेय के गहनपने से तथा ज्ञानावरण के उदय से, हेतु-उदाहरण के संभव होने पर भी जो अच्छी प्रकार से समझ न सकें, तो भी मतिमान् उसे विचार करें कि सर्वज्ञ का मत सत्य ही हैं ।

केवल आगम-गम्य जो पदार्थ हैं, वें हमारे आदि प्रमाण परीक्षा से निरपेक्ष हैं और वें आत्म-प्रमाण से संदेह करने योग्य नहीं हैं ।

इस प्रकार से उपदेश-प्रासाद में द्वितीय स्तंभ में सम्यक्त्व का प्रथम दूषण उच्चार रूप उन्नीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



विसर्वा व्याख्यान

अब द्वितीय आकांक्षा दोष को स्पष्ट करते हैं-

देश से अथवा सर्व से भी पर-दर्शन की अभिलाषा, वह सम्यक्त्व में आकांक्षा नामक दोष हैं, इस प्रकार जिनेश्वरों के द्वारा कहा गया हैं ।

किसी स्थान में किसी जीव-दया आदि गुण को देखकर उसी दर्शन की आकांक्षा करता हैं । वहाँ देश से एक दर्शन की अभिलाषा है और सर्व से सर्व पाखंडी धर्मों की अभिलाषा का होना । जैसे कि

सौगत ने क्लेश से रहित धर्म को कहा हैं। तथा कपिल ब्राह्मण आदि भी विषयों का उपभोग करते हुए ही पर भव में भी सुख से युक्त होते हैं यह धर्म भी अत्यंत श्रेष्ठ हैं, इस प्रकार की विचारणा सम्यग् दर्शन को दूषित करती हैं, यह अर्थ हैं। भावार्थ जितशत्रु राजा और मंत्री के दृष्टांत से जानें और वह यह है -

कल्याणों से युक्त वसंतपुर हैं। वहाँ जितशत्रु राजा था और उसका मतिसागर नामक मंत्री था।

एक बार राजा ने चंद्र किरण के समान धवल दो घोड़ों को देखकर प्रसन्न हुआ उनके स्वामी को मूल्य देकर ग्रहण कीये। उनकी परीक्षा के लिए राजा मंत्री के साथ में घोड़े के ऊपर बैठकर मंडली भ्रम आदि गति को कराने लगा। तब पवन के वेग का तिरस्कार करनेवालों और कुशिष्य के समान विपरीत शिक्षित कीये हुए उन दोनों घोड़ों ने राजा और मंत्री को भयंकर अरण्य में गिरा दिया। वहाँ श्रम से पीड़ित हुए और भूखें उन दोनों ने वर्ति फल और कन्द आदि का आहार करते हुए बहुत दिन व्यतीत कीये। कितने ही दिनों के बाद स्व-सैनिकों के मिल जाने पर वे दोनों अपने नगर में गये। राजा ने जड़पने से रसोईयों को सर्व धान्य आदि पकाने को कहा। रसोईयों ने भी अलग-अलग सर्व अन्न पका कर राजा के आगे रखा। जैसे वाड़वा-अग्नि जल को वैसे ही स्वेच्छा से भूख से कृश उदरवाला वह राजा भी आहार करता हुआ असुर के समान तृप्ति को प्राप्त नहीं हो रहा था।

राजा अत्याहार से रात्रि में शूल से मरण को प्राप्त हुआ और मंत्री पथ्य का भोजन करनेवाला वान्ति और विरेचन आदि कर सौख्य-भागी हुआ। अर्थात् निराकांक्ष पथ्य अन्न से सुख-भागी हुआ था।

यहाँ पर उपनय इस प्रकार से हैं- जैसे राजा और अमात्य थे, वैसे जीव हैं। वहाँ जो कुछ-भी तपश्चरण आदि बाह्य गुण को देखकर अन्यान्य दर्शन की कांक्षा करते हैं, वें ही राजा के समान तृप्त नहीं होने से दुर्गति के भाजन होते हैं। जो स्याद्वाद सुपक्ष में अत्यंत निश्चल होते हैं वें मंत्री के समान सुख को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार से आकांक्षा में राजा और मंत्री का प्रबन्ध है।

इस विषय में यह अन्य भी वृत्तांत हैं-

गुण-दोषों को जाने बिना जो सर्व देवों में भक्तिमान् होता है, वह श्रीधर के समान सुख को प्राप्त नहीं करता।

गजपुर में प्रकृति से भद्रिक श्रीधर नामक व्यापारी रहता था। एक दिन उसने मुनि के समीप में धर्म को सुना। वह तीनों सन्ध्याओं में परमात्मा की पूजा करने लगा। एक बार जिन-मंदिर में धूप डालकर उसने अभिग्रह को ग्रहण किया कि यह धूप जल रहा है तब तक मैं इस स्थान से नहीं चलूँगा। दैव से वहाँ पर सर्प निकला। फिर भी निश्चल रहा जब उसे वह सर्प डँसने लगा, तब उसके सत्त्व से संतुष्ट हुई देवी ने उस दुष्ट सर्प को दूर निकालकर, उसे मणि दिया। उस मणि से वर्षा ऋतु में लता के समान उसकी लक्ष्मी चारों ओर से बढ़ने लगी।

एक दिन स्व-कुटुंब में किसी रोग की उत्पत्ति होने पर किसी ने कहा कि- गोत्र-देवी की पूजा से गोत्र में कुशल होता है। उसने भी वैसा ही किया। कभी अपने शरीर में रोग की उत्पत्ति से किसी के वचन से उसने यक्ष की पूजा की। इस प्रकार लोगों के वचन से शान्ति-लाभ के लिए और भावी रोग से निवृत्ति के लिए वह नित्य पूजा करता था। भव्य-जीव सत्-असद् की संगति से गुण-दोषों को प्राप्त करता है। जैसे कि-

एक कोई यतियों के हाथ में रही हुई तूम्बीयाँ पात्र-लीला को भजती हैं । अन्य शुद्ध बाँस में विलग्न हुई सरस-मधुर गा रही हैं । अन्य कोई डोरी से गूँथी हुई दुस्तर को भी तीरती हैं । तूम्बीयाँ उनके मध्य में ज्वलित हुई हृदयवाली रक्त को पीती हैं ।

एक दिन चोरों ने उसके गृह के सर्वस्व को चुराया । उससे क्षुभित हुआ वह भोजन के भी संदेह में गिरा । अति दुःखित हुआ वह उन देवताओं के आगे अट्टम कर स्थित हुआ । तृतीय दिवस होने पर वें देव कहने लगे तू ने किस लिए हमारा स्मरण किया है ? उसने कहा- तुम मुझे संपत्ति दो । तब कुल-देवी कहने लगी कि- रेदुष्ट ! तू शीघ्र से मेरे आगे से उठ जाओ । जिनकी तुम अपने घर में पूजा करते हो, वें ही देंगे । वे देव हँसकर परस्पर कहने लगे । वहाँ गणेश ने चंडिका से कहा कि- हे भद्रे ! भक्त के ऊपर अभीष्ट-प्रद हो । चंडिका भी कहने लगी कि- यक्ष इसका अभीष्ट देगा, जो प्रौढ आसन के ऊपर निवेशित किया गया मेरे पूर्व में पूजित किया जाता है । यक्ष भी कहने लगा कि- इसके अभीष्ट को शासन-देवता ही देगी । इस प्रकार से परस्पर उपहास सहित सभी ने उसकी उपेक्षा की । तब अतीव खेदित और किंकर्तव्यता से मूढ़ हुए उसे शासन-देवी ने कहा कि तुम निद्रा, विकथा, हास्य में रक्त अन्यो को छोड़कर श्रीसर्वज्ञ, देवाधिदेव, अष्ट कर्मों का क्षय करनेवाले, कृपा-अवतार और त्रिकालज्ञ की ही आराधना करो, जिससे कि दोनों भवों में भी वें सौभाग्य- श्री प्रदान करने वाले हो । उसे सुनकर के श्रीधर ने वैसे ही किया । शासन-देवी ने दृढ़ निराकांक्ष उसे वह रत्न दिया । फिर से भी उसने अधिक समृद्धि प्राप्त की और मरण प्राप्त कर वह पुन आसन्न मोक्ष-गतिवाला हुआ ।

श्रुत से गर्हित उस कांक्षा नामक दोष का आचरण करता हुआ

यहाँ उपासक श्रीधर के समान उपहास का पात्र होता हैं, उससे जिनशासन को जाननेवाले यहाँ अन्य देव-गुरु धर्म के प्रति श्रद्धा न करें सुदेवादि के प्रति दृढ़ श्रद्धावान् रहे ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में द्वितीय स्तंभ में द्वितीय दूषण के त्याग में श्रीधर वणिक् का विसर्वा उदाहरण संपूर्ण हुआ ।



एकविसर्वा व्याख्यान

अब तृतीय विचिकित्सा दोष का प्ररूपण किया जाता है-

देश से अथवा सर्व से भी, की हुई धर्म क्रिया के फल के प्रति हृदय में संदेह किया जाता हैं, वह विचिकित्सा नामक दोष हैं ।

विचिकित्सा नामक दोष-सामायिक आदि क्रियाओं के फल के प्रति संदेह हैं, वह किसानों के समान ही हैं । निश्चय से यह शंका से भिन्न नहीं है । जैसे कि-शंका सकल पदार्थ के विषय में द्रव्य-गुण विषयवाली है और विचिकित्सा क्रिया-विषयवाली ही हैं । और मुनिजन में मल मलिन शरीर को देखकर जुगुप्सा, सदाचारी-मुनियों की निन्दा जैसे कि यें प्रासुक-जल से यदि अंग का प्रक्षालन कर ले तो कौन-सा दोष हैं इत्यादि ! यह विचिकित्सा भी भगवान् के धर्म में अन्विश्वास रूप से होने से सम्यग्दर्शन में दोष हैं, यह इसका भावार्थ हैं ।

इस विषय में दुर्गन्धा रानी का प्रबन्ध जानें, -

राजगृह में श्रेणिक राजा था । एक बार उस नगर में समवसरण में श्रीवीरविभु को नमस्कार करने के लिए सर्व-ऋद्धि से जाते हुए उस राजा ने दुर्गन्ध के पराभव से वस्त्रों के आँचल से नाक को ढँकते हुए सैनिकों को देखकर यह क्या है, इस प्रकार किसी अपने

सेवक से इस दुर्गन्ध का कारण पूछा । तब उसने कहा कि- मार्ग में एक जन्म-मात्र प्राप्त बालिका पड़ी हुई है । तब राजा ने कहा कि- यह पुद्गलों का परिणाम है । तथा-रूपवाली गिरी हुई उस बालिका को देखकर और समवसरण में जाकर श्रीवीर को प्रणाम कर राजा ने अवसर पर उसके पूर्व चरित्र को पूछा । भगवान् कहने लगे-

वाणिज्यशालि ग्राम में धनमित्र श्रेष्ठी की धनश्री पुत्री थी । एक बार ग्रीष्म-ऋतु के समय में उसके विवाह के प्रारब्ध हो जाने पर, तब भिक्षा के लिए उसके घर में साधु आये । तब वह पिता के द्वारा आदेश दी गयी प्रतिलाभित करने लगी । तब अप्रतिकर्मित शरीरवाले महात्माओं के पसीने और मल के दुर्गन्ध से अपने मुख-कमल को मरोड़कर, यौवन-बलवाली, सर्व आभरणों को धारण की हुई और मनोहर विलेपन के तांडव से सुंदर वह धनश्री सोचने लगी कि- अहो ! निष्पाप ऐसे श्रीजिन मार्ग में स्थित ये साधु यदि प्रासुक जल से भी स्नान कर ले तो उसमें कौन-सा दोष हैं ? इस प्रकार जुगुप्सा से उत्पन्न कर्म की आलोचना कीये बिना मरकर वह इस राजगृह में वेश्या के उदर में पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई हैं । उस दुष्कर्म से माता के गर्भ में रही हुई वह अत्यंत अरति को करने लगी । वह वेश्या उस गर्भ से उद्विग्न हुई गर्भपात की औषधियों को लेती हुई भी समय पूर्ण होने पर जन्म को प्राप्त उस दुर्गन्धा पुत्री को विष्टा के समान बाहर छोड़ दिया । अब इसकी क्या गति होगी ? इस प्रकार राजा के पूछने पर प्रभु ने कहा कि-

हे राजन् ! इसने मुनि जुगुप्सा से उत्पन्न हुए उस कर्म विपाक को संपूर्ण भोग लिया है । अब सुपात्र के दान से भोग-फल का उपार्जन कर कस्तूरी, कर्पूर आदि से भी अधिक सुगंधि देहवाली यह आठ वर्षीय तेरी अग्र महिषी होगी । उसकी पहचान यह है कि पासों

की क्रीड़ा में तुझे जीतकर यह तेरी पीठ के ऊपर बैठेगी । इस प्रकार से यह सुनकर आश्चर्य-चकित हुआ राजा श्रीजिन को नमस्कार कर महल में आया ।

इस ओर अपने दौर्गन्ध्य कर्म की निर्जरा कर वह बालिका किसी संतान रहित गोपालक स्त्री के द्वारा ग्रहण की गयी । क्रम से उसने यौवन को प्राप्त किया । एक बार कौमुदी उत्सव के प्राप्त होने पर राजा अभय के साथ स्त्रियों के समूह को देखने के लिए आया । तब श्याम, यौवनशाली, सुवचनवाली, सौभाग्य-भाग्य की उदयवाली, कर्ण के समीप तक विस्तृत नेत्रोंवाली, कृश हुई कमरवाली, होशियारी के गर्व से युक्त, सुंदर, बाल हँस के समान मन्थर गतिवाली, मत्त हाथी के कुंभ समान स्तनवाली, बिंब फल सदृश होंठोंवाली, परिपूर्ण चन्द्र के समान मुखवाली, भँवरों के समूह के समान श्याम केशोंवाली ऐसी उस गोवालियों की पुत्री को देखकर काम उत्पन्न होने से राजा ने अपनी अंगूठी को उसके उत्तरीय के आँचल में बाँधकर उसकी गवेषणा करने के लिए राजा ने अभय से कहा कि- मेरी अंगूठी गिर पड़ी है और किसी ने अपहरण की है ।

अभय भी पिता के वचन को दंभ रहित मानता हुआ सर्व भी वन के द्वारों को रोककर और एक द्वार से बाहर निकलती हुई स्त्रियों के हाथ, वस्त्र, आँचल को देखता हुआ उसके उत्तरीय के आँचल से निकली हुई उस अंगूठी को देखकर पूछने लगा- राजा की अंगूठी को तूने कैसे ग्रहण की है ? तब उसने अपने दोनों कानों को ढंककर कहा कि- मैं कुछ-भी नहीं जानती हूँ । उसके वचन से और ईंगित से उसे औदार्य-सहित मानकर मंत्री ने सोचा कि- यह चोरी करनेवाली नहीं है, किंतु राग से युक्त हुए पिता ने ऐसा किया है । तब उसके साथ में राजा के समीप में जाकर मंत्री ने कहा कि- हे देव ! इसने आपके चित्त

को चुराया हैं, उससे अंगूठी की कथा से पर्याप्त हुआ। श्रेणिक ने भी-यह इस प्रकार से ही है, ऐसा कहकर उसे अग्र महिषी बनाई।

एक दिन श्रेणिक को जीतकर वह निःशंक से उसके पीठ पर बैठी। क्योंकि-

निचकुल में जन्म को प्राप्त सन्मानित किया जाता हुआ भी स्व कृत्यों से कुल को प्रकटित करता हैं। वेश्या से उत्पन्न होने से दुर्गन्धा ने श्रीश्रेणिक की भुजा के ऊपर पैर को रखा था।

तब वीर के वचन को स्मरण कर राजा हँसने लगा। उसने भी तत्काल उसकी पीठ से नीचे उतरकर अप्रस्ताव में हास्य का कारण पूछा। तब पूर्व भव से आरंभ कर हास्य पर्यन्त उस स्वामी के द्वारा कहे हुए को सुनकर वैराग्य से उसने वीर के समीप में दीक्षा ग्रहण की।

श्रीश्रेणिक की स्त्री के चरित्र को चित्त में रखकर, जो जीव कदापि कष्ट में यति-संयतियों की जुगुप्सा को नहीं करते हैं, वे अनुत्तर सिद्धिगति को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में द्वितीय स्तंभ में तृतीय विचि-कित्सा दोष के त्याग में दुर्गन्धा का एकविसवाँ प्रबंध संपूर्ण हुआ।



बाविसवाँ व्याख्यान

अब सम्यक्त्व का चौथा दूषण इस प्रकार से है-

जो अन्य लिंग-धारक अतीत में हुए हैं, भविष्य में होनेवाले हैं और जो वर्तमान में हैं उनकी प्रशंसा करना यह आशंसा नामक चतुर्थ दोष हैं।

यह दो प्रकार से है- सर्व-विषयक और देश-विषयक। वहाँ सभी भी दर्शन सत्य हैं, इस प्रकार माध्यस्थ्य से स्तुति करना वह

सर्व-विषय है। यह ही बुद्ध-वचन अथवा सांख्य-वचन सत्य हैं- यह देश-विषय हैं। यह विशेषार्थ है कि दोनों प्रकार से भी सम्यक्त्व के दोषों का वर्जन करना चाहिए।

इस विषय में मैं महानिशीथ सूत्र के अनुसार से सुमति-नागिल के प्रबन्ध को कहता हूँ।

मगध देश में कुशस्थलपुर में जीव-अजीव आदि तत्त्वों को जाननेवाले सुमति और नागिल नामक दो धनाढ्य भाई रहते थे।

अन्य दिन किसी कर्म से उन दोनों के निर्धनत्व को प्राप्त होने पर परस्पर सोचा कि- हम दोनों धन के अभाव में देशांतर चलते हैं। वहाँ से शुभ दिन होने पर प्रयाण किया।

एक बार मार्ग में प्रयाण करते हुए उन दोनों ने एक श्रावक के साथ जाते हुए पाँच साधुओं को देखा। उनको सुसार्थ जानकर उन दोनों ने उनके साथ में गमन किया।

एक बार उनकी चेष्टा से और भाषण से उनके कुशीलत्व को चित्त में धारण कर नागिल ने सुमति से कहा कि- इनके साथ में हम दोनों का गमन करना योग्य नहीं है। क्योंकि श्रीनेमि-जिन के मुख से सूत्र सुना था, जैसे कि- इस प्रकार से अनगार रूप से होते हैं और वे कुशील हैं। उनको दृष्टि से भी देखना नहीं कल्पता हैं। इसलिए इन कुशीलों को छोड़कर हम दोनों आगे चलते हैं।

तब सुमति वक्र-दृष्टि से कहने लगा- ये साधु गुणवाले दीखायी दे रहे हैं, इसलिए इनके साथ में आलाप-गमन आदि योग्य ही है। तब नागिलने कहा- मैं मन से भी साधुओं के दोष को ग्रहण नहीं करता हूँ, किंतु मैंने भगवान् तीर्थकर के समीप से ऐसा अवधारण किया था कि कुशील अदर्शनीय होते हैं। तब सुमति ने कहा कि- जैसे तुम निर्बुद्धिशाली हो, वैसा ही वह तीर्थकर भी है,

जिससे कि तुम्हें इस प्रकार से कहा है । इस प्रकार से कहते उसके मुख को नागिल ने स्व-हाथ से ढंक दिया और कहने लगा कि- अरे बंधु! अनंत संसार का यह कारण है, तुम इस प्रकार से मत कहो । मैं इन साधुओं के मध्य में बाल तपस्वीपने को जानता हूँ क्योंकि अनेक गुप्ति विषय आदि दोष के दूषितपने से । इसलिए मैं संग को छोड़कर जा रहा हूँ । सुमति ने कहा- मैं इनके संग को प्राण के अंत तक नहीं छोड़ूँगा । पश्चात् सुमति ने उनके पास में दीक्षा ग्रहण की । अब उनके मध्य में चार संसार में भ्रमण कर मुक्ति को प्राप्त करेंगे । उनमें से पाँचवाँ अभव्य है ।

अब गौतम ने प्रभु से पूछा कि-हे स्वामी ! सुमति भव्य है ? अथवा अभव्य है ? भगवान् ने कहा कि- हे इन्द्रभूति ! सुमति भव्य है । गौतम ने पुनः पूछा-तब वह कौन-सी गति में गया है ? भगवान् ने कहा कि- हे गौतम ! कुशील की प्रशंसा से और जिनेश्वर की अति आशातना से परमाधार्मिक देवपने से उत्पन्न हुआ है । गौतम ने कहा कि- हे भगवन् ! आगे इसका स्वरूप क्या है ? भगवान् ने कहा कि- हे गौतम ! उसने अनंत संसारीत्व का अर्जन किया है । फिर भी तुम उसे संक्षेप से सुनो -

लवण-समुद्र में गंगा- सिन्धु दोनों महा-नदीयाँ प्रवेश कर रही हुई हैं । उस प्रदेश से दक्षिण भाग में वेदिका से पचपन योजन अतिक्रमण कर वहाँ साढ़े बारह योजन प्रमाणवाला और साढ़े तीन योजन ऊँचा हाथी के कुंभ के आकारवाला द्वीप है । वहाँ काजल, केश, बादलों की पंक्ति और भ्रमर की आभाओं को तिरस्कार करनेवाली सैंतालीस गुफाएँ हैं । उन गुफाओं के अंदर भगंदर रोग के अनुकारी, जलचारी, प्रथम संघयणवाले, मद्य पीनेवाले, मांस-भक्षी, मसी-कूर्चक(ब्रश) की आभावाले, दुर्गन्धी ऐसे अंतर

अंडगोलिक नामक मनुष्य रहते हैं। उन मनुष्यों से अंतर अंडगोलिक को निकालकर और उनको चमरी के पूंछ के केशों से गूँथकर तथा अपने दोनों कानों में बाँधकर जो समुद्र में प्रवेश करते हैं, उनके ऊपर जलचर-जन्तु प्रभाव से युक्त नहीं होते और वे समुद्र के अंदर रहे हुए रत्न आदि को ग्रहण कर स्व-स्थल पर आ जाते हैं।

गौतम ने पूछा कि- हे भगवन् ! किस उपाय से ग्रहण करते हैं ? प्रभु ने कहा कि- हे गौतम ! लवण-समुद्र में रत्न नामक अन्तर्द्वीप हैं। वहाँ के निवासी रत्न व्यापारी जहाँ समुद्र के निकट में चक्की की आकृतिवाले वज्रशिला के संपुट हैं, वहाँ आकर और उनको खोलकर उनके मध्य में चार महा-विगईयों को डालते हैं। वहाँ से वे अंतर अंडगोलिक मनुष्य जहाँ निवास करते हैं, वहाँ वे व्यापारी मांस आदि को ग्रहण कर आते हैं। वे अंतर अंडगोलिक मनुष्य दूर से ही उनको देखकर मारने के लिए दौड़ते हैं। व्यापारी भी उनके भक्षण के लिए पद-पद पर मांस आदि से भरे हुए पात्रों को रखकर शीघ्र ही वापिस लौटते हैं। वे भी व्यापारी के पीछे वज्रशिला के संपुट तक दौड़ते हैं। वहाँ आकर वे मांस आदि भक्षण के लिए उनके मध्य में प्रवेश करते हैं। व्यापारी अपने स्थान पर चलें जाते हैं।

जब वे अंतर अंडगोलिक मनुष्य मांस आदि का भक्षण करते हुए सात, आठ, दस अथवा पंद्रह दिनों को व्यतीत करते हैं, तब कवच और तलवार से युक्त वे व्यापारी आकर वज्रशिला के संपुटों को सात-आठ मंडलों से वेष्टित करते हैं। अन्य व्यापारी पूर्व में उद्घाटित कीये हुए को ढंक देते हैं। कदाचित् एक भी अंतर अंडगोलिक मनुष्य उसके मध्य में से बाहर निकले तो उन सभी को मार डालें। ऐसे बलशाली वे उसके मध्य में संवत्सर पर्यन्त अ-मृत

रहते हैं। महा-वेदना से पीड़ित उन मनुष्यों के अवयव बाहर के प्रदेश में पिष्ट के समान गिरते हैं। वें व्यापारी उनको शोधकर गोलिकाओं को ग्रहण करते हैं।

हे गौतम ! वह सुमति परमाधार्मिक से च्यवकर अंतर अंडगोलिक मनुष्य होगा। फिर से भी उसी देवत्व को प्राप्त करेगा। इस प्रकार इसे सात भव पर्यंत जानों। पश्चात् व्यंतरत्व, वृक्षत्व, पक्षीत्व, स्त्रीत्व, छट्टे नरकत्व और कुष्ठी नरत्व। इस प्रकार से अनंत काल पर्यंत भ्रमण कर अशुभ कर्म-क्षय होने पर चक्रवर्ती पद को प्राप्त कर और प्रव्रज्या को ग्रहण कर मुक्ति में जायगा। नागिल ने बावीसवें जिन के समीप में दीक्षा ग्रहण कर मुक्ति प्राप्त की है।

विशेष से यह प्रबन्ध महानिशीथ के चतुर्थ अध्ययन से जानें।

सदास्तिक जन सुमति के इस वृत्तांत को सुनकर सज्जन को अमान्य ऐसी कुशील-प्रशंसा को छोड़ दें। तथा विशुद्ध सम्यक्त्व से विभूषित नागिल ने सुसंग से मोक्ष को प्राप्त किया।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में द्वितीय स्तंभ में कुशील-प्रशंसा के ऊपर नागिल का दृष्टान्त संपूर्ण हुआ।



तेइसवाँ व्याख्यान

अब मिथ्यादृष्टि-संस्तव नामक पाँचवाँ दोष कहा जाता है-

मिथ्यात्वीयों के साथ में आलाप, गोष्ठी और परिचय, यह संस्तव नामक दोष हैं और यह सम्यक्त्व को दूषित करता है।

उनके साथ में परिचय दोष के लिए होता है। उनकी क्रियाओं का श्रवण और अवलोकन से अनेकान्त से अज्ञ मन्दबुद्धिवालों पुरुष को दर्शन-भेद की संभावना होती है, किंतु संपूर्ण स्याद्वाद को

जाननेवाले महान् पुरुषों को वह नहीं होता । जैसे कि कुविकल्पवालों के परिचय में भी कोई गुणज्ञ पुरुष विपरीत ही उनके सम्यग्दर्शन को अत्यंत निर्मल करते हैं ।

इस विषय में यह धनपाल कवि का प्रबन्ध है—

धारा नगरी में लक्ष्मीधर नामक ब्राह्मण को धनपाल और शोभन नामक दो पुत्र थे ।

एक बार घर में रखी हुई निधि बहुत देखने पर भी उसे नहीं मिल रही थी । एक दिन वेदों के भी ज्ञाता जिनेश्वर सूरि वहाँ पर आये और लक्ष्मीधर के पूछने पर उन्होंने कहा— यदि तुम एक पुत्र हमको दोगे, तब तुझे हम निधि दीखायेगें । लक्ष्मीधर के द्वारा भी इसे स्वीकार करने पर पूज्य गुरुओं ने अहि वलय चक्र आम्नाय से निधि दीखायी । क्रम से लक्ष्मीधर ने अपने अन्त्य अवसर में दोनों पुत्रों को स्व प्रतिज्ञा का ज्ञापन किया । खेद सहित पिता को देखकर शोभन ने कहा— मैं आपको ऋण रहित करूँगा । लक्ष्मीधर के मरण प्राप्त होने पर स्व-जन से पूछे बिना ही शोभन ने गुरु के समीप में दीक्षा ग्रहण की । गुरु ने धनपाल के भय से मालव में विहार निषेध किया ।

शोभन महा-विद्वान् और जिन-स्तुति करण में व्यग्र मनवाले गोचरी के लिए गये । वें धारण कीये हुए पात्र को नीचे रखने के समय में पाषाण-पात्र को लेकर गुरु के समीप में आये । उसे देखकर मुनि के स्पर्धा-कारी हँसने लगे कि— अहो ! इसको महा-लाभ का उदय हुआ है । तब शोभन ने गुरु से यथास्थित कहा । उसे सुनकर और काव्यों को देखकर गुरु हर्षित हुए ।

एक दिन गुरु कहने लगे कि— हे शिष्य ! तुम वहाँ जाकर जैन-द्वेषी धनपाल को प्रतिबोधित करो । शोभन उसे अंगीकार कर वहाँ गये और अवन्ती के द्वार पर प्रवेश करते हुए धनपाल के द्वारा देखे

गये । धनपाल ने उनसे हास्य से कहा- गर्दभ के समान दाँतवाले हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो । साधु ने कहा- मर्कट के समान मुखवाले हे मित्र ! तुझे सुख है ? मुनि के वचन-चातुर्य से मैं जीता गया हूँ, इस प्रकार से विचार कर धनपाल ने कहा कि- हे साधु ! किसके गृह में आपकी वसति है ? साधु ने कहा- जिनकी रुचि है, उसके गृह में मेरी वसति है । उनको विद्वान् मानकर धनपाल ने स्व-गृह में उतारा । अपने घर में भोजन करने के लिए बैठे हुए धनपाल ने मुनि का स्मरण किया और भोजन के लिए बुलाया । उसी दिन किसी वैरी ने मोदक में विष डाला था । मोदक के दीये जाने पर मुनि ने कहा कि- यह नहीं कल्पता है । धनपाल ने कहा कि- क्या मोदक के अंदर विष है ? साधु ने कहा कि- ऐसा ही है । धनपाल ने परंपरा से वैरी के द्वारा डाले गये विष को जानकर स्व-जीवित का रक्षण करनेवाले मुनि से कहा कि- आपने इसे कैसे जाना ? मुनि ने कहा कि- पूर्व सूरि के वचन से जाना है । जैसे कि-

विष सहित अन्न को देखकर चकोर-पक्षी दोनों आँखों में विराग को धारण करता है, हँस कूजता है, सारिका वमन करती है, पोपट शीघ्र ही चीकता है, बंदर विष्टा करता है, कोयल क्षण में ही मृत्यु को प्राप्त करती है, क्रौञ्च प्रसन्न होता है, नकुल हर्षवान् होता है और कौआ प्रीति को धारण करता है ।

उससे इस मोदक को देखकर पिंजरे में रहे हुए इस चकोर ने दोनों आँखों को मूंद ली थी, इत्यादि से मैंने इसे जाना है । यह सुनकर धनपाल विस्मित हुआ । पुनः उसने दही लाया । साधु ने कहा कि- यह त्रिदिवसीय का है, इसप्रकार से कह कर साधु ने दही में लाख-रस को डालकर जीव दीखाएँ । पश्चात् उसने प्रासुक दही दिया । तब उसने मुनि से कहा कि- हे भगवन् ! आपको देखकर मुझे बार-बार

भाई का स्मरण हो रहा है। साधु ने कहा कि- हे मित्र ! तेरे समीप में तेरा भाई ही हैं। इस प्रकार के वाक्य से विश्वास से युक्त बना वह आनंदित हुआ। शोभन ने उसे निश्चल श्रावक बना कर अन्यत्र विहार किया। धनपाल पाँच सो पंडितों में मुख्य बना।

एक दिन पाँच सो पंडितों से युक्त भोज शिकार के लिए गया। वहाँ एक हिरण को एक बाण से मारा। तब पलायन करते हुए हिंसक प्राणियों को देखकर राजा ने कविराज से कहा कि-हैं कविराज ! क्या कारण है कि जो ये मृग आकाश में उछल रहे हैं और सूअर पृथ्वी को कूरेद रहे हैं ? कविराज ने कहा कि- हे देव ! आपके अस्त्र से चकित हुए एक चन्द्र के मृग का और अन्य आदिवराह का आश्रय लेने के लिए जा रहे हैं। राजा ने धनपाल से कहा कि- तुम मेरे शिकार का वर्णन करो। धनपाल ने कहा-

यहाँ जो पौरुष है, वह पाताल में जाये। यह कुनीति है जो यहाँ पर बलवान्, अशरण, दोष-रहित और अति-दुर्बल प्राणी को मारता हैं। हाहा ! महा-कष्टकारी है। यह जगत् राजा-बिना का है। यहाँ रण में उत्कट भट पद-पद पर हैं लेकिन उनमें यह हिंसा-रस पूर्ण नहीं किया जा सकता हैं। उससे राजा के कु-विक्रम को धिक्कार है, जो कृपा के आश्रय मुझ मृग पर कृपण हैं।

इस प्रकार के तिरस्कार से क्रोधित हुए राजा ने धनपाल की दृष्टि में दृष्टि देकर कहा कि- यह क्या है ? इस प्रकार से कहने पर धनपाल ने कहा- तृण के भक्षण से प्राणांत में वैरी भी छोड़ दीएँ जातें हैं। सदा ही तृण का आहार करनेवाले ये पशु कैसे मारे जाएँ ? यह सुनकर कृपा के उत्पन्न होने से धनुष-बाण को तोड़कर और शिकार नहीं करने की प्रतिज्ञा कर वह स्व-निर्मित सरोवर में गया। वहाँ पर भी राजा के वाक्य से कविराज के द्वारा सरोवर का वर्णन किया गया।

जैसे कि-

श्रेष्ठ हँसों से, आन्दोलन करते हुए कमलों से, विभिन्न रंगों से युक्त तरंगों से, अंदर गंभीर पानी से, चपल बगलों के समूह के द्वारा ग्रास कीये जाते हुए मछलियों से, किनारों में उगे हुए वृक्ष समूह के नीचे सोये हुए पुत्र के लिए स्त्रीयों के द्वारा गाये जाते हुए गीतों से, और क्रीड़ा करती हुई स्त्रीयों से हे राजन् ! आपका चलते हुए चक्रवाकवाला यह सरोवर शोभ रहा है ? तब राजा की आज्ञा से सम्यग्-धर्मी ऐसा धनपाल कहने लगा कि-

यह सरोवर के बहाने से श्रेष्ठ दान-शाला है, जहाँ पर मछलियाँ आदि रसोई के रूप में व्यवस्थित की गयी है और बगलें, सारस और चक्रवाक पक्षियाँ पात्र हुए हैं । वहाँ पर कितना पुण्य हो रहा है, यह हम नहीं जानते हैं । राजा ने फिर से भी द्वितीय दृष्टि में दृष्टि डाली ।

राजा ने यज्ञ में मारने के लिए लाये हुए बकरे के दीन वचन को सुनकर पूछा कि- यह पशु क्या कह रहा है ? कविराज कहने लगा-

स्थान-स्थान पर हमको बलि के लिए मारें । खाये हुए तृणों से हमारी कुक्षि जल रही है । अरक्ष और दक्ष मनुष्यों से हम पशु नाम से कहे जाते हैं । हम बहन, स्त्री के भेद से विकल हैं और सदा ही भूख-प्यास से युक्त हैं, उससे हे देव ! आप हमको स्वर्ग में ले जाओ, इस प्रकार से ये बकरें आपसे प्रार्थना कर रहे हैं । तब राजा ने धनपाल से पूछा कि- हे पंडित ! यह क्या कह रहा है ? धनपाल ने कहा-

मैं स्वर्ग-फल के उपभोग के लिए तृषित नहीं हूँ और न ही मैंने आपसे प्रार्थना की है । सतत ही तृण-भक्षण से मैं संतुष्ट हूँ, हे साधु ! तुझे यह योग्य नहीं है । यदि यज्ञ में तेरे द्वारा मारे हुए प्राणी

निश्चय से स्वर्ग में जाते हैं, तो तुम माता, पिता, पुत्र तथा बांधवों से क्यों यज्ञ को नहीं करते हो ?

यह सुनकर राजा ने क्रोध से धनपाल से कहा कि- अरे ! तुम क्या कह रहे हो ? उसने कहा कि- हे स्वामी ! मैं सत्य कह रहा हूँ । यूप कर, पशुओं को मारकर और रुधिर के कीचड़ को कर जो इस प्रकार से स्वर्ग में जाया जाय तो नरक में कौन गमन करेगा ? और अधिक यह है कि- हे देव ! मांस में लुब्ध और राक्षस के समान ब्राह्मणों ने ऐसे यज्ञ की प्रशंसा कर आपको कुमार्ग में ले गये हैं । ऐसे पशुओं के वध में कोई धर्म नहीं है और विपरीत केवल महा-पाप ही हैं । शास्त्रों में भी सत्य यज्ञ इस प्रकार से कहा गया है-

सत्य ही यूप है, तप ही अग्नि हैं और मेरे कर्म ही ईंधन है, अहिंसा रूपी आहुति को दें, इस प्रकार का यज्ञ सज्जनों को मान्य हैं । यदि यज्ञ करनेवालों को कर्तृ, क्रिया, द्रव्य के विनाश में स्वर्ग हैं, तो दावाग्नि से जलाएँ हुए वृक्षों को बहुत फल हो । यदि यज्ञ में मारे हुए पशु की स्वर्ग की प्राप्ति इष्ट है, तो यज्ञ करनेवाले के द्वारा अपना पिता उस यज्ञ में क्यों नहीं मारा जाता है ?

यह सुनकर क्रोधित हुआ राजा उसे परीवार सहित मारने का विचार करने लगा । धनपाल ने राजा के मन में रहे हुए सर्व को भी जान लिया, परंतु स्व-नियम को नहीं छोड़ा । राजा शिव के मंदिर में गया । धनपाल पंडित के बिना सभी ने शिव को प्रणाम किया । तब राजा ने उसे पूछा- किस लिए तुम शिव को प्रणाम नहीं कर रहे हो ? धनपाल ने कहा-

मैं जिनेन्द्र-चन्द्र के प्रणाम में लालस अपने सिर को अन्य को झुकाता नहीं हूँ । गजेन्द्र के गाल स्थल के मद में लोलुप हुआ भ्रमर का समूह कुत्ते के मुख में स्थित नहीं होता है ।

यह सुनकर राजा विशेष कर क्रोध से लाल-नेत्रोंवाला हुआ । जब वह नगर के द्वार में आया, तब एक वृद्ध नारी बालिका के हाथ को पकड़ी हुई और काँपती हुई संमुख आयी । राजा ने उसे देखकर पंडितों से पूछा- यह सिर, हाथ आदि को किस लिए हिला रही है ? तब पंडित ने कहा- यह वृद्धा हाथ काँपा रही है और सिर को हिला रही है, यह क्या कह रही है ? वह यह कह रही है कि- जो अहंकार है, उसे तुम मत करो, मत करो । अन्य पंडित ने यह कहा कि-

यह वामन-स्त्री वृद्धा-अवस्था रूपी यष्टि-प्रहार से कुब्ज हुई पद-पद पर गये तारुण्य रूपी माणिक्य को देख रही है ।

राजा ने पूछा कि- हे वक्र-मतिवाले धनपाल कवि ! यह बालिका वृद्धा से क्या पूछ रही हैं ? राजा के क्रोध के त्याग के लिए उसने कहा कि- हे स्वामी ! यह वृद्धा इस कन्या के प्रति प्रश्नों का उत्तर दे रही हैं । जैसे कि-

क्या यह शिव हैं, क्या विष्णु है ? क्या काम-देव है ? क्या नल है ? अथवा क्या कुबेर है ? अथवा क्या यह विद्याधर है ? अथवा क्या इन्द्र है ? क्या चन्द्र है ? अथवा क्या यह ब्रह्मा है ?

यह नहीं है, यह नहीं है और यह नहीं है, नहीं, नहीं और नहीं, यह भी नहीं है, यह नहीं है और यह नहीं है, किन्तु हे सखी ! स्वयं ही यहाँ क्रीड़ा करने के लिए प्रवृत्त हुए राजा भोज-देव है ।

इस काव्य को सुनकर प्रसन्न हुए राजा भोज ने कहा कि- हे पंडित ! तुम माँगों ! धनपाल ने कहा कि- मेरी अपहरण की हुई दृष्टि आदि मुझे दो । राजा ने कहा- मैंने तुम्हारा कुछ-भी ग्रहण नहीं किया है । उसने कहा कि- हे स्वामी ! आपने हिरणी के वध में और सरोवर के वर्णन आदि में एक आदि नेत्र का कर्षण सोचा था, इसलिए आपने भाव से ग्रहण की है । तब आनंदित हुए राजा ने कोटि का दान दिया

और कहा कि- श्रावक होने से तुम ज्ञान से सर्वज्ञ-पुत्र हुए हो ।

एक बार भोज राजा ने उसे पूछा कि- अब तुम्हारा मन व्यग्र क्यों है ? पंडित ने कहा कि- मैं अब श्रीयुगादि चरित्र को निबद्ध कर रहा हूँ । चरित्र के पूर्ण होने पर, उसे सुनते हुए राजा ने सोचा कि- इस चरित्र का अर्थ रस भूमि के ऊपर न गिरे । इस प्रकार की बुद्धि से उसने पुस्तक के नीचे स्वर्ण पात्र को रखा । अमृत के समान उसके अर्थ रस को पीते हुए व्यतीत हुए दिन-रात्रि को भी नहीं जानता था । पूर्ण सुनकर राजा ने कहा कि- यदि विनीता के स्थान पर अवंति स्थापित की जाती है और भरत के स्थान पर मैं स्थापित किया जाऊँ तथा आदिदेव के स्थान में ईश्वर स्थापित किया जाएँ तब यह ग्रंथ अत्यंत श्रेष्ठ हो जैसे कि सुगंधि स्वर्ण के समान और यदि तुम इस प्रकार से करोगें तो तुझे कोटि द्रव्य दिया जाएगा । यह सुनकर धनपाल ने कहा कि-

हे राजन् ! मेरु और सरसव में, हँस और काक में तथा गधे और गरुड़ में जैसे अंतर हैं, वैसे ही अवन्ति आदि और अयोध्या आदि का अंतर है ।

अहो ! इस प्रकार से कहते हुए तुम्हारी जीभ शत खंड को क्यों प्राप्त नहीं हुई ? तब रोष से पुनः पंडित ने कहा-

हे दो-मुख ! हे निरक्षर ! हे लोभ मतिवाले ! हे बाण सदृश ! हम और कितना कहें ? गुंजा फलों के साथ स्वर्ण की तुलना करते हुए आप पाताल में नहीं गये ?

इस प्रकार से निज-निन्दा को सुनकर क्रोधित हुए राजा ने उस मूल ग्रन्थ को भस्मसात् किया । अब दोनों प्रकार से निर्वेद को प्राप्त हुआ वह शोक सहित अपने गृह में आया । पुत्री तिलकमंजरी ने पूछा कि- हे पिताजी ! क्या दुःख है ? उसने सर्व कहा । पुत्री ने कहा- आप ग्रन्थ को लिखो, मेरे मुख में स्थित है । तब आनंदित हुए

उसने पुनः पुस्तक को लिखकर उसका तिलकमञ्जरी नाम दिया । अन्य दिन धनपाल दूसरे गाँव में गया । एक बार किसी पंडित ने भोज की सभा में सभी पंडितों को भी तिरस्कृत किया । उससे खेदित हुआ राजा स्वयं जाकर और धनपाल का सन्मान कर ले आया । धनपाल को आया जानकर वह विद्वान् रात्रि के समय में भागकर चला गया । उससे जैन धर्म की प्रशंसा हुई । धनपाल भी सुख-पूर्वक स्थित हुआ और धर्म की आराधना कर क्रम से स्वर्ग में गया ।

द्रव्य से परिचय होने पर भी भाव से पाप-संगति निवारण की स्पृहावाला और जैन-धर्मी ऐसे धनपाल सत्कवि ने सर्व दोषों से रहित दर्शन को धारण किया था ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में द्वितीय स्तंभ में पंचम दोष के त्याग में धनपाल कवि का कथानक संपूर्ण हुआ ।



चौवीसवाँ व्याख्यान

अब छठे प्रभावक अधिकार को प्रकाशित करते हैं, वहाँ पहले यह प्रवचन-प्रभावक का स्वरूप है-

जो कालोचित और जिनेश्वर द्वारा कहे हुए आगम को जानते हैं, वे तीर्थ को शुभ में प्रवर्तक प्रावचनिक कहे जाते हैं ।

काल में- सुषम-दुःषम आदि में, उचित-योग्य, श्रीजिन के द्वारा कहे हुए सिद्धान्त को गौतम आदि के समान जो सूरि जानते हैं, वे तीर्थ के- चतुर्विध संघ के शुभ मार्ग में-धर्म मार्ग में प्रवर्तन करानेवाले प्रवचनवान् जानें जाय ।

यह भावार्थ वज्रस्वामी के चरित्र से ही कहा जाता है ।

पालने में रहे हुए जिन्होंने श्रुत को पढ़ा था, छह मासवाले जो

चारित्र की अभिलाषावाले हुए थे और तीन वर्षवाले जिन्होंने संघ का सत्कार किया था, वें श्रीवज्र-नेता कैसे नमस्करणीय न हो ?

तुंबवन ग्राम में सुनन्दा भार्या को गर्भ सहित छोड़कर धनगिरि श्रेष्ठी ने दीक्षा ग्रहण की । सुनन्दा का पुत्र स्व जन्म के समय में ही पिता की दीक्षा को सुनकर जाति-स्मरण ज्ञान को प्राप्त कर माता के उद्वेग के लिए सतत ही रोने लगा । उसकी माता उस दुःख से पीड़ित हुई सोचने लगी कि- यदि इसके पिता आते हैं, तो उनको देकर मैं सुख से रहूँ ।

इस ओर धनगिरि से युक्त सिंह गुरु वहाँ पर आये । मध्याह्न के समय में आहार के लिए जाते हुए धनगिरि को गुरु ने कहा कि- आज आप सचित्त-अचित्त ग्रहण में विचार न करे । यह सुनकर वें क्रम से सुनन्दा के गृह में गये । उसने मुनि को देखकर कहा कि- हे पूज्य ! आप अपने पुत्र को ग्रहण करो । इस प्रकार कहकर उस बालक को पात्र में रखा । वें धर्म-लाभ देकर गुरु के समीप में गये । गुरु ने दूर से महा-भार को देखकर और गोद में लेकर उसका वज्रकुमार नाम दिया । साध्वीयों की शाला में पालने में स्थित हुआ वह शिशु श्राविकाओं के द्वारा पालन किया जाता हुआ और साध्वीयों के द्वारा पढे जाते अग्यारह अंगों को वह पढ़ने लगा । इस ओर वज्र वहाँ तीन वर्षवाला हुआ । साधु भी वहाँ पर आये ।

एक बार सुनन्दा ने उनके समीप में पुत्र की याचना की । उन्होंने बालक को नहीं दिया । वह और श्रीसंघ राजा के पास में गये । राजा ने कहा कि- सभा के समक्ष बुलाया गया यह बालक जिसके समीप में जाता है, उसका यह पुत्र जानें । सुनन्दा ने द्राक्ष, शर्करा आदि को ग्रहण कर कहा कि- हे पुत्र ! आओ, आओ और इसे तुम लो । इस प्रकार प्रलोभन कीये जाते वज्र ने सोचा कि- इह-लोक में

सुखकारी होती है, और गुरु भव-भव में सुखकारी होते हैं, ऐसा विचारकर और उछलकर उसने रजोहरण को ग्रहण किया और तब तीन वर्षीय वज्र ने दीक्षा ग्रहण की। क्रम से आठ वर्ष व्यतीत होने पर और सूरि के भिक्षा के लिए चले जाने पर स्वयं वज्रमुनि ने साधुओं को वाचना दी। वज्र को महा-विद्वान् जानकर गुरु ने उनको समस्त शास्त्र पढ़ाएँ। गुरु ने योग्य जानकर वज्रमुनि को सूरि-पद दिया। वाणी से पाँच सो यति प्रतिबोधित हुए। अनेक भव्योंने व्रतों को स्वीकार किया।

इस ओर पाटलीपुत्र में धनश्रेष्ठी की पुत्री रुक्मिणी ने साध्वीयों से वज्रमुनि के अनेक गुणों को सुनकर कहा कि- मैं इस भव में वज्रस्वामी को ही प्राणनाथ करूँगी। एक बार स्वामी के समागमन को सुनकर धनश्रेष्ठी ने गुरु को नमस्कार कर विज्ञप्ति की - कोटि द्रव्य के साथ मेरी पुत्री से आप विवाह करो। नहीं तो वह मृत्यु प्राप्त करेगी। वज्रमुनि ने कहा- हम मल से भीगी हुई शरीरवाली स्त्री की वांछा नहीं करते हैं। इत्यादि प्रकार से कन्या को प्रतिबोधित कर दीक्षित किया।

एक बार बारह वर्षवाले दुर्भिक्ष के उत्पन्न होने पर व्याकुल संघ को देखकर वज्रस्वामी संघ को पट के ऊपर संस्थापित कर सुभिक्षवाली नगरी में ले आये। अन्य दिन वहाँ पर्युषण-पर्व के आने पर बौद्ध राजा ने जिन-चैत्यों में पुष्प का निषेध किया। तत्पश्चात् पर्युषण में श्रावकों के द्वारा विज्ञप्ति कीये गये वज्रस्वामी ने आकाश-गामिनी विद्या से माहेश्वरी नगरी में स्व-पिता के मित्र माली के समीप में जाकर पर्वोत्सव के बारे में कहा। माली ने इक्कीस कोटि पुष्प दीये। पश्चात् हेमवन्त पर्वत के ऊपर गये। वहाँ लक्ष्मीदेवी ने महापद्म दिया। हुताशन यक्ष के वन से पुष्पों को लेकर और जृम्भक देवों के द्वारा कीये हुए विमान में स्थित हुए वज्रस्वामी ने वहाँ आकर महोत्सव किया। उन्होंने जिनधर्म की प्रभावना करते हुए बौद्ध राजा को श्रावक किया।

एक दिन कफ का रोग होने पर वज्रस्वामी के द्वारा भोजन के पश्चात् भक्षण करने के लिए कर्ण में स्थापित की हुई वह सूट प्रतिक्रमण में भूमि के ऊपर नीचे गिर पड़ी । उस प्रमाद से स्व-मृत्यु को समीप जानकर और स्व-शिष्य को गच्छ देकर रथावर्त पर्वत के ऊपर अनशन को ग्रहण कर स्वर्ग को प्राप्त किया । तत्पश्चात् श्री वज्रसेन सोपारक में जिनदत्त श्रावक के गृह में आयें । तब श्रेष्ठी ने मुनि से कहा कि- लाख द्रव्य से इतना धान्य लाया गया है । इसके बीच में विष को डालकर और भक्षण कर कुटुंब सहित मेरे द्वारा दीर्घ निद्रा की जायगी । गुरु ने कहा कि- कल धान्य से पूर्ण बहुत वाहन आर्येंगे, उससे तुम इस कार्य को मत करो । प्रभात में सर्वत्र सुभिक्ष के फैल जाने पर उसने प्रव्रज्या ग्रहण की । सूरि चार गणों को संस्थापित कर जिन-शासन के प्रभावक हुए । विशेष से यह प्रबन्ध आवश्यक बृहद्-वृत्ति से जानें ।

इस प्रकार श्री वज्रसूरि के इस सच्चरित्र को भ्रमर के समान हृदय रूपी कमल में धारण कर, भव्य सदा ही सुगुणों के एक सार ऐसे सिद्धांत के पाठ में प्रयत्न करें ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में द्वितीय स्तंभ में प्रभावक अधिकार में श्री वज्रस्वामी का प्रबन्ध संपूर्ण हुआ ।



पच्चीसवाँ व्याख्यान

अब धर्म-कथा का स्वरूप लिखा जाता है-

जो उपदेशक व्याख्यान के अवसर में लब्धि का प्रयोग कर उपदेश देता है, वह भी धर्मकथक नामक द्वितीय प्रभावक है ।

जो अनुयोग के समय में स्व-शक्ति को प्रकटित कर हेतु-

युक्ति-दृष्टान्तों से दूसरों को प्रतिबोधित करता है, वह ही धर्म-कथानुयोग के योग्य है, और पुनः घट के प्रदीपक के समान स्व का ही प्रबोधक नहीं, यह अर्थ है ।

इस विषय में यह सर्वज्ञ-सूरि का उदाहरण है-

श्रीपुर में श्रेष्ठ दर्शन को धारण करनेवाला श्रीपति श्रेष्ठी था । परंतु उसका कमल नामक पुत्र धर्म से पराङ्मुख, व्यसनी और गुरुदेवों को देखना पाप हैं इस प्रकार से वह मानता था । एक बार पिता ने उसे शिक्षा दी-

बहोत्तर कलाओं में पंडित पुरुष भी अपंडित ही है, जो सर्व कलाओं में भी प्रवर धर्म-कला को नहीं जानते हैं ।

उसे सुनकर कमल ने कहा कि- हे पिताजी ! जीव कहाँ है ? स्वर्ग कहाँ है ? और मोक्ष कहाँ है ? यह सर्व भी गगन के आलिंगन प्रायः और घोड़े के सींग के समान हैं । जो पूज्यों के द्वारा तप और संयम अनुष्ठान की प्रशंसा की गयी है, वह अज्ञ जीवों को ठगने के लिए है, इस प्रकार से रटते हुए वह नगर के अंदर घूमने लगा ।

एक बार पिता उसे शंकरसूरि के समीप में ले गये । तब गुरु ने- हमारे संमुख ही देखो, इस प्रकार से कहकर धर्म-कथा के अनंतर उन्होंने पूछा कि- हे वत्स ! तूने अल्प भी जाना है ? उसने कहा कि- हे भगवन् ! थोड़ा जाना है और थोड़ा नहीं । क्या कारण है ? इस प्रकार गुरु के द्वारा पूछने पर उसने कहा- आपके धर्म-कथा के कहने पर मैंने एक सो आठ बार चलती हुई गले की उपजिह्वा को गिनी है । कोई गड़बड़ी से युक्त शब्द शीघ्र-शीघ्र ही पढ़े गये थे, उससे मैंने उसके मध्य में वायु-नाड़ी चलने की संख्या को नहीं जाना था । इस प्रकार यह सुनकर लोग हर्षित हुए कि- अहो ! यह श्रेष्ठ श्रोता है । यह अयोग्य है, इस प्रकार से पूज्यों से उपेक्षित किया गया ।

एक दिन वह फिर से भी अन्य सूरि के समीप में ले जाया गया। पूर्व की वार्त्ता को सुनकर गुरु ने कहा कि- तुम नीचे देखते हुए हमारे व्याख्यान के ऊपर चिन्तन करो। इस प्रकार से कहकर और व्याख्यान के अंत में वैसे ही बुलाया गया उसने कहा कि- इस छिद्र में से एक सो आठ कीटिकाएँ निकली हैं। इस प्रकार से उसे हास्य-पर देखकर अन्य श्रावकों ने निषेध किया। एक बार वहाँ पर उपदेश लब्धि से युक्त सर्वज्ञसूरि आये। पूर्व की वार्त्ता को सुनकर सूरि ने उसे प्रतिबोधित करने के लिए बुलाया। वहाँ उसके आजाने पर सूरि ने सोचा कि- इसे साम से समझाया जाएँ। ऐसा विचारकर उन्होंने पूछा कि- हे भद्र ! तुम कुछ-भी काम रहस्य को जानते हो ? उसने कहा-मैं क्या जानता हूँ ? पूज्य किसी सार का आदेश करें। गुरु कहने लगे कि- हे कमल ! प्रथम तुम इन स्त्रीयों के भेदों को जानो, जैसे कि-

पद्मिनी, तत्पश्चात् चित्रिणी, तत्पश्चात् शंखिनी और हस्तिनी को जानो। प्रथम कही हुई स्त्री उत्तम है और उसके बाद में उत्तरोत्तर हीन है।

युवती राज-हँसी के समान मृदु और लीला-पूर्वक चलती है, तीन झुरियों से युक्त मध्य-भागवाली, हँस के समान वाणी से युक्त, सुंदर वेष को धारण करनेवाली, वह मानिनी मृदु, पवित्र और अल्प आहार को भोजन करती है, गाढ लज्जावाली, सफेद कुसुम के समान वस्त्रवाली प्रिया पद्मिनी होती है।

यह सुनकर ये पंडित है, इस प्रकार से विचार करते हुए वह अपने गृह चला गया। द्वितीय दिन होने पर वह स्वयं ही आकर स्थित हुआ। सूरि चित्रिणी के स्वरूप को कहने लगे-

इस स्त्री का वर्तुल और ऊँच वृन्त अंदर से मृदु, मदन-जल से आद्य, रोमों से अति-सान्द्र नहीं होता हुआ और मदन का घर है। चित्रिणी प्रकृति से चपल दृष्टिवाली, बाह्य संभोगों में रक्त, मधुर

वचनवाली और चित्रों में रक्त हुई आनंदित करती हैं ।

इस प्रकार से तृतीय दिवस होने पर शंखिनी का स्वरूप कहा और चौथे दिन हस्तिनी के स्वरूप को कहा ! उसके बाद गुरु ने कहा कि- हे कमल ! स्त्रीयों के अंगों में स्मरावस्थिति के बारे में सुनो-

स्त्रीयों के अंगूठे में, पैर के टखने में, घुटने में, कमर में, नाभि में, वक्ष-स्थल पर, बगल में, कंठ में, कपोल में, ओष्ठ में, नेत्र में, बाल में और मस्तक में शुक्ल-कृष्ण के विभाग से दोनों पक्षों में स्त्रीयों के ऊर्ध्व-अधो गमन से अनंग की स्थिति को जानें ।

और स्मर-स्थान के ऊपर मर्दन की गयी वह शीघ्र ही वश में होती हैं । जैसे कि-

वह लज्जा भी दोनों नेत्रों को झुकाती हुई और पति के वक्ष-स्थल पर पात को रोकती हुई, स्त्री की विभूषा को उत्पन्न करने लगी और संगति में विराम को प्राप्त हुई ।

इस प्रकार से कभी शृंगार के वर्णन से और कभी इन्द्रजाल से श्रीपूज्य ने उसे रागवान् किया । मासान्त में विहार का अवसर होने पर सूरिने उसे कहा कि- हे कमल ! किसी नियम को लो ! उसने हास्य-रुचि से कहा- मुझे बहुत नियम हैं । वें जिस तरह से है- मैं अपनी वांछा से न मरूँ, पक्वान्न में केलुक आदि का भक्षण न करूँ, दूधों में थूहर पेड़ के दूध को न पीऊँ, अक्षत श्रीफल को मुख में न डालूँ, पर धन को ग्रहण कर अर्पण न करूँ, स्वयंभूरमण समुद्र से आगे न जाऊँ, अन्त्यज स्त्री का गमन न करूँ, इत्यादि ।

यह सुनकर गुरु ने कहा- हमारें साथ में भी हास्य अनेक भवों का निदान है । जैसे स्वर्णकार ने स्वर्ण को कुंडल आदि आकार से अनेक प्रकार से किया है, वैसे ही गुरु-आशातना भी जीव को गायपने से, नारकपने से, पानी के रूप से, पृथ्वी के रूप से, इत्यादि

अनेक रीति से दुःख-भागी करती है । इसलिए यह हास्य का अवसर नहीं है, तुम किसी नियम को ग्रहण करो ।

कमल ने भी लज्जा से कहा- मैं पड़ोसी वृद्ध कुम्हार के गंजे सिर को देखकर भोजन करूँगा, अन्यथा नहीं । गुरु ने उससे भी धर्म की प्राप्ति को जानकर-ऐसा हो, इस प्रकार से कहकर अन्यत्र गये । वह भी लोक लज्जा से पालन करने लगा ।

एक दिन वह राजकुल में रुद्ध हुआ संध्या के समय गृह में गया । जब वह भोजन करने के लिए बैठने लगा, तब माता ने उसे नियम का स्मरण कराया । तब कुम्हार को गृह में नहीं देखकर वह खान के प्रति चला । नीचे खोदते हुए निधि प्राप्त करनेवाले कुम्हार के गंजे सिर को दूर से ही देखकर, देख लिया है, देख लिया है, इस प्रकार से कहते हुए और मुट्ठी बाँधकर वापिस दौड़ते हुए उस कमल को शंकित हुए कुम्हार ने-आधा अथवा सर्व तेरा ही है, परंतु तुम इस प्रकार से गाढ़ से मत कहो, ऐसा कहकर और उसे बुलाने पर कमल ने उस निधि को प्राप्त की । फिर से भी दया से उसने कुम्हार को थोड़ा धन दिया ।

घर आकर कमल सोचने लगा कि- अहो ! जिनधर्म ही पृथ्वीतल पर श्रेष्ठ हैं, मिथ्यात्व से पर्याप्त हुआ । पश्चात् हृदय में शुद्ध भक्ति से उसने विज्ञप्ति पूर्वक गुरु को निमंत्रित किया और उनके समीप में द्वादश व्रत स्वरूपवाले धर्म को ग्रहण कर और उसकी आराधना कर स्वर्ग को प्राप्त किया ।

शास्त्र युक्ति के कथन से सूरि ने नास्तिक भी कमल को विज्ञप्ति किया था । ऐसे गुरु भव्य-प्राणियों की जड़ता के नाश के लिए समर्थ होते हैं ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में द्वितीय स्तंभ में नास्तिक प्रबोधक सर्वज्ञसूरि का प्रबन्ध संपूर्ण हुआ ।

छब्बीसवाँ व्याख्यान

अब उपदेश लब्धि गुणवाले नन्दिषेण मुनि का प्रबन्ध कहा जाता है-

किसी सन्निवेश में धन के समूहों से कुबेर की स्पर्धा करनेवाले किसी ब्राह्मण ने यज्ञ का प्रारंभ किया था । उसने लाख ब्राह्मणों की भोजन सामग्री को सज्जित कर रखी थी । वहाँ सहायता के लिए किसी जैन दान रुचिवाले निर्धन ब्राह्मण से- लक्ष ब्राह्मणों की भोजन की समाप्ति में, मैं तुझे अवशिष्ट अन्न, घी आदि दूँगा, इस प्रकार से प्रतिज्ञा कर स्थापित किया । क्रम से लाख ब्राह्मणों की भोजन की समाप्ति होने पर शेष रहे हुए अन्न आदि को न्याय से आये और प्रासुक जानकर उस निर्धन ब्राह्मण ने सोचा कि- यह उचित है, जो यह किसी सत्पात्र को दिया जाय, तब बहुत फल होगा । जो कृपावर्तों के द्वारा कहा गया है कि-

न्याय से प्राप्त हुए और कल्पित अन्न-पान आदि द्रव्यों का श्रेष्ठ भक्ति से आत्मा-अनुग्रह की बुद्धि से संयतों को अतिथि-संविभाग मोक्ष-फल दायक होता है । तत्पश्चात् उसने दया-ब्रह्मचर्य आदि गुणों से युक्त कितने ही साधर्मिकों को भोजन के लिए निमंत्रित किया । उस भोजन के अवसर पर कोई महाव्रती मासक्षमण के पारणे में आये । उस ब्राह्मण ने सत्कार और श्रद्धा-पूर्वक-इन ब्राह्मणों से भी यह यति विशेष पात्र है, इस प्रकार से निश्चय कर वह अन्न-पान आदि उनको दिया । कहा गया है कि-

हजार मिथ्यादृष्टियों में एक अणुव्रती श्रेष्ठ हैं, हजार अणुव्रतियों में एक महाव्रती श्रेष्ठ है, हजार महाव्रतियों में एक तात्त्विक श्रेष्ठ है, तात्त्विक समान पात्र नहीं हुआ है और नहीं होगा ।

काल में आयु की समाप्ति होने पर सत्पात्र दान की महिमा से

प्रथम कल्प में देव हुआ । वहाँ से च्यवकर राजगृह में श्रेणिक का नन्दिषेण नामक पुत्र हुआ । यौवन में पाँच सो राज-कन्याओं के साथ में पाणिग्रहण कर दोगुन्दक देव के समान सुंदर विषय सुख रूपी समुद्र में मग्न हुआ ।

इस ओर वह लाख ब्राह्मणों को भोजन करानेवाला और पापानुबन्धि-पुण्य का पोषण करनेवाला वह ब्राह्मण उस प्रकार के निर्विवेक दान से बहुत भवों में थोड़े भोग आदि सुख को भोगकर किसी अरण्य में हाथी हुआ । पूर्व में यूथ के स्वामी के द्वारा अनेक हाथियों के विनाशित करने पर हथिनी ने यूथ के स्वामी को ठगकर जन्म को प्राप्त हुए उस हाथी को तापस-आश्रम में छोड़ा । वहाँ तापस कुमारों के साथ में वृक्षों का सिंचन करने से तापसों ने उसका सेचनक नाम रखा । एक दिन यूथ के स्वामी पिता हाथी को मारकर उसने हथिनी यूथ को ग्रहण किया । माता के प्रपञ्च को जानकर उसने तापसाश्रम को तोड़ दिया । उसने सोचा कि तापस आश्रम के तोड़ डालने पर गुप्त-वृत्ति से भी कोई नूतन यूथ का स्वामी उत्पन्न नहीं होगा । खेद और आर्त हुए तापसों ने श्रेणिक को वह हाथी दिखाया । वह हाथी इस प्रकार से था-

चार सो और चालीस सुलक्षणोंवाला, भद्र-जातीय वह हाथी सप्त अंग में स्थापित करने योग्य हैं ।

राजा श्रेणिक ने भी किसी प्रकार से उस हाथी को ग्रहण कर पट्ट हस्ती किया । राज-योग्य आहार, बिछौने आदि से सेवित किया जाता हुआ वह हाथी सुखी हुआ ।

एक दिन तापसों के द्वारा- हमारें आश्रम को तोड़ने का यह फल हैं, इस प्रकार से मर्म की स्मृति कराने पर वह हाथी स्तंभ को उखाड़कर निकल गया और फिर से भी तापस-आश्रम को तोड़ दिया ।

उसे नियंत्रित करने के लिए श्रेणिक परिवार सहित उसके पीछे चलने लगा, परंतु वह दुर्मती हाथी किसी के द्वारा भी वश करने में समर्थ न हो सका। तब राजा के आदेश से नन्दिषेण कुमार ने उसे शिक्षा दी-आत्मा का ही दमन करो, इत्यादि से संबोधित कीये जाने पर उस कुमार को देखकर-किसी स्थान में यह मेरा कोई संबंधी था, इस प्रकार ऊहापोह के वश से जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त कर शान्त ही रहा। तब कुमार ने उसे लाकर आलान स्तंभ में बाँधा। उसे देखकर श्रेणिक आदि को विस्मय हुआ।

इस बीच श्रीवीर जिन का वैभार-पर्वत पर समवसरण हुआ। श्रेणिक, अभय और नन्दिषेण आदि वन्दन करने के लिए गये। देशना के अंत में श्रेणिक ने स्वामी के आगे हाथी के उपशान्ति के विषय में प्रश्न पूछा। जिनेश्वर ने पूर्व भव के लाख ब्राह्मणों का भोजन और साधु दान आदि का व्यतिकर कहा। पुनः आगामी भव के प्रश्न के कीये जाने पर जिन ने कहा कि- हे राजन् ! न्याय से प्राप्त हुए वित्त का सुपात्र-दान के विनियोग से नन्दिषेण कुमार अनेक दिव्य भोगों को भोगकर और संयम का पालन कर तथा स्वर्ग को प्राप्त कर क्रम से सिद्धि सुख को प्राप्त करेगा। किन्तु हाथी का जीव पात्र-अपात्र के विवेक रहित दान से भोगों को प्राप्त कर और मरण प्राप्त कर प्रथम नरक गामी होगा। यह सुनकर प्रतिबोधित हुए नन्दिषेण कुमार ने श्रावक धर्म को स्वीकार किया। क्रम से दीक्षा को ग्रहण करता हुआ वह देवता के द्वारा-तुझे अभी बहुत भोग कर्म हैं, इस प्रकार के वचन से निषेध करने पर भी प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रभु के द्वारा निषेध करने पर भी वह आग्रह से विरमित नहीं हुआ। आनंद से दीक्षा को स्वीकार कर दुष्कर तपों के द्वारा प्रभु के साथ विहार करने लगे। क्रम से अनेक सूत्र और अर्थ के जानकार हुए। उत्पन्न हुई भोग इच्छा को रोकने की इच्छा से

विशेष आराधना करने लगें । तो भी विकार से प्रबल इन्द्रिय को जानकर चारित्र्य की रक्षा के लिए पर्वत पर चढ़कर और झंपापात में तत्पर उनको हाथ में पकड़कर तथा अन्यत्र रखकर देवी ने कहा- व्यर्थ ही मरण का प्रयत्न कर रहे हो, भोग को भोगे बिना मरण प्राप्त नहीं करोगे ।

एक दिन छट्ट के पारणे में अनाभोगपने से अकेले ही गणिका के घर में प्रवेश किया । उन्होंने धर्म-लाभ का उच्चार किया । वेश्या ने हास्य पूर्वक कहा- हमें धर्म-लाभों से कार्य नहीं, केवल द्रव्य-लाभ हो । यह भी मेरा उपहास कर रही है ? इस प्रकार के गर्व समूह से मुनि ने छत के ऊपर से तृण को खींचकर लब्धि से दश करोड़ मित रत्न गिराये । तब वेश्या भी उनके पैरों में भ्रमरी के समान विलग्न हुई कहने लगी कि- हे प्राणप्रिय ! अनाथ और अनुरागी मेरा त्याग आपको योग्य नहीं है । महात्मा भी उसके उल्लाषों से रागी हुए और भोग फल को जानकर उस वेश्या को स्वीकार किया । वहाँ-में प्रति दिन धर्म के उपदेश से दस नये विट पुरुषों को प्रतिबोधित कर और दीक्षा ग्रहण कराकर भोजन करूँगा, इस प्रकार का अभिग्रह लिया ।

मुनि वेष का त्याग कर और उस वेश्या के साथ में भोगों को भोगते हुए प्रति दिन दस-दस लोगों को प्रतिबोधित कर दीक्षा को ग्रहण कराते थे । एक दिन बारह वर्ष के अंत में भोजन वेला के हो जाने पर भी जब दसवाँ स्वर्णकार पुरुष प्रतिबोधित नहीं हुआ, तब दो-तीन बार सिद्ध हुए अन्न के भी विरस हो जाने पर वह वेश्या उनको बार-बार आह्वान करने लगी । तब उसने कहा- आज दसवाँ पुरुष प्रतिबोधित नहीं हो रहा है । वेश्या ने हास्य पूर्वक कहा कि- हे स्वामी! आज आप ही दसवें पुरुष बनो । उसने हाँ कहा ।

आग्रह करती हुई उस वेश्या को तृण के समान छोड़कर पुनः

जिन के समीप में दीक्षा और तपस्या ग्रहण की। अपने पाप की आलोचना कर स्वर्ग में गये।

इस प्रकार से जो आगम-वाक्य से अज्ञ और भवाभिनन्दी जनों को प्रतिबोधित करते हैं, वे नन्दिषेण आदि के समान भोगों को प्राप्त कर क्रम से सिद्धि-लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में द्वितीय स्तंभ में छव्वीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।



सत्ताइसवाँ व्याख्यान

अब तृतीय प्रभावक का लक्षण प्रकट किया जाता है-

प्रमाण ग्रन्थों के बल से अथवा सिद्धांतों के बल से जो परमत का उच्छेदन करते हैं, वे वादी-प्रभावक कहे जाते हैं।

बौद्ध आदि के द्वारा कहे हुए केवल प्रमाण हैं। जो कि-

चार्वाक एक प्रत्यक्ष को, सुगत और कणभुज अनुमान और सशब्द इन दोनों को, पारमार्थ ऊपर के दोनों मतों को, आक्षपाद उपमा के साथ तीनों मतों को, प्रभाकर अर्थापत्ति से कहते हैं और भट्ट इन समस्तों को ही मानते हैं। जिनपति द्वारा कहे गये स्वाभाविक स्पष्ट और अस्पष्ट के भेद से दो प्रमाण हैं।

जो उनके द्वारा कहे हुए ग्रन्थ हैं, उनके बल से प्रतिवादी जीतने योग्य होता है, यह तात्पर्य है। भावार्थ तो मल्लवादी के चरित्र से जाने और वह इस प्रकार से है-

भृगुकच्छ में राजा के समक्ष वाद करने पर जितानन्द सूरि वितंडा से बौद्ध के द्वारा जीते गये और लज्जा से वलभी में चले गये। वहाँ उन्होंने अपनी बहन दुर्लभदेवी और उसके तीनों पुत्रों को-

अजित, यशोयक्ष और मल्ल को प्रतिबोधित कर प्रव्रज्या ग्रहण करायी । नयचक्रवाल के बिना उन्होंने सर्व शास्त्र पढ़ें । उन तीनों के मध्य में विशेष से मल्ल प्राप्त हुए थें । पाँचवें पूर्व से उद्धृत और स-अधिष्ठायक द्वादश-आर नयचक्र ग्रन्थ जो प्रति-आरे से बड़े उत्सव से पढ़ने योग्य और कोश में स्थित है, वह किसी को भी मत दिखाना, इस प्रकार से बहन साध्वी को अच्छी प्रकार से भलामन कर गुरु ने अन्यत्र विहार किया । मल्ल ने कुतूहल से रहस्य में उस पुस्तक को खोलकर जब-

विधि, नियम, भंग और वृत्ति के व्यतिरिक्तपने से अनर्थ कहा है । जैन से अन्य शासन असत्य है, इस प्रकार से विधर्मता हैं ।

इस प्रथम आर्य को पढ़ा तब श्रुतदेवी ने पुस्तक हरण कर ली और वें उससे अति-खेदित हुए । वें माता और संघ के द्वारा उपालंभ दीये गये । ग्रन्थ की प्राप्ति तक उन्होंने विगई का निषेध किया । इस प्रकार से वें केवल वल्ल अन्न से पारणा करते हुए तप करने लगे । चातुर्मासी के पारणे में संघ ने अति आग्रह कर विगई ग्रहण करायी । संघ के द्वारा आराधना करने पर रात्रि के समय में परीक्षा करने के लिए श्रुतदेवी ने पूछा-कौन मधुर है ? मल्ल ने उत्तर दिया-वल्ल ! छह मास के अंत में पुनः पूछा-कौन नहीं हैं ? तब उन्होंने कहा- गुड और घी नहीं हैं । उनकी धारणा से संतुष्ट हुई श्रुतदेवी ने कहा- वर माँगो, तब मल्ल ने कहा- नयचक्र पुस्तक दो । देवी के द्वारा दी गयी पुस्तक को प्राप्त कर वें अधिक शोभित होने लगे । गुरु ने मल्ल को सूरि पद पर स्थापित किया । उन्होंने चौबीस हजार श्लोक मित पद्मचरित्र की रचना की ।

भृगुकच्छ में शिलादित्य राजा के समीप में छह मास पर्यंत (किसी ग्रन्थ में छह दिन तक) बुद्धानन्द के साथ वाद किया । नयचक्र

के अभिप्राय से पूर्व पक्ष के करने पर, उसके अवधारण में असमर्थ हुए बौद्ध ने वादी के द्वारा कहे हुए की स्मृति के लिए खड़ी हाथ में लेकर लिखने लगा और उसकी विस्मृति से खेदित हुआ हृदय के स्फोटन से मरण को प्राप्त हुआ ।

प्रातः शासनदेवी ने उस स्वरूप का ज्ञापन कर मल्लाचार्य के ऊपर पुष्प वृष्टि आदि की । राजा ने उनको वादि मद भंजक बिरुद दिया । उस राजा के द्वारा उस देश से निर्वासित कीये बुद्ध पुनः नहीं आये थे ।

यह संबंध अन्यत्र राजशेखरसूरि द्वारा कीये हुए ग्रन्थ में इस प्रकार से हैं—

खेटकपुर में देवादित्य ब्राह्मण की पुत्री विधवा हुई थी । उसने किसी गुरु से सौर मंत्र को प्राप्त कर ध्यान किया । तब सूर्य ने आकर उसका उपभोग किया । उससे दिव्य-शक्ति से वह गर्भिणी हुई थी । गर्भ सहित उसे पिता ने उपालंभ दिया । सत्य स्वरूप कहने पर लज्जा से उसे वलभी में भेजा । वहाँ उसने पुत्री और पुत्र को जन्म दिया । लेख-शालकों ने पढ़ते हुए उन दोनों को— यें पिता रहित है इस प्रकार से कहा । तब पुत्र ने माता से पूछा— मेरे पिता कौन है ? माता ने कहा— मैं नहीं जानती हूँ । खेद से मरने की इच्छावाले पुत्र से साक्षात् होकर सूर्य ने कहा कि— हे वत्स ! मैं तेरा पिता हूँ । जो तेरा पराभव करता है, वह इस कंकर से वध्य है । पश्चात् पुनः यह कंकर तेरे समीप में आयगा । उस प्रकार से वह सभी बालकों को मारता हुआ वलभी के स्वामी के द्वारा तर्जित किया गया । उस राजा को भी उससे मारकर स्वयं राजा हुआ । जैन और शत्रुंजय उद्धारकारी शिलादित्य ने अपनी बहन भृगुपुर के स्वामी को दी । उसका पुत्र मल्ल था ।

एक दिन देश-त्याग प्रतिज्ञा पूर्वक वलभी में वाद होने पर भाग्य से बौद्धों के द्वारा जीतने पर सर्व जैन-मुनि विदेश में चले गये । राजा बौद्ध हुआ । पति की मृत्यु से विरक्त हुई उसकी बहन ने पुत्र सहित दीक्षा ग्रहण की । किसी प्रकार से मल्ल ने नयचक्र ग्रन्थ को प्राप्त कर तथा बौद्धों को जीतकर शिलादित्य को स्व शिष्य किया ।

हे भव्य-प्राणियों ! जिन-शासन के तेज की समुन्नति से पवित्र इस श्रीमल्लवादी के चरित्र को सुनकर कवित्व, वचन आदि विचित्र लब्धि से आर्हत् जिन-शासन को दीप्तिमंत करो ।

इस प्रकार से संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में सत्ताईसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



अष्टाईसवाँ व्याख्यान

इस विषय में अन्य भी प्रबन्ध प्रकट किया जाता है-

बुद्धिशाली महात्मा के द्वारा तर्क से कर्कश वाक्य से शासन की उन्नति के लिए शीघ्र ही वादी जीतें जाएँ ।

भावार्थ तो इस प्रबंध से चिन्तन किया जाय-

पाटण में श्रीसिद्धराज की सभा में दिगंबर कुमुदचन्द्र वादी आये । ये नाना के गुरु हैं, इत्यादि से राजा ने उनका सत्कार किया और वें राजा प्रदत्त आवास में ठहरें । राजा ने हेमचन्द्रसूरि को वाद करने के लिए पूछा । उन्होंने श्रीदेवसूरि को वादी-विद्या के जानकार और वादी रूपी हाथी के लिए सिंह के समान कहा ।

राजा ने चर पुरुषों से श्रीदेवसूरि को आह्वानित किया । पाटण में आकर राजा के अनुरोध से उन्होंने वाग्-देवी की आराधना की । उसने कहा- वादी वैताल श्रीशांतिसूरि कृत उत्तराध्ययन की वृत्ति में

दिगंबर वाद स्थल में आपके द्वारा चौरासी विकल्प जालों का उपन्यास कीये जाने पर उस दिगंबर का मुख मुद्रित होगा ।

किस शास्त्र में यह कुशल है, यह जानने के लिए देवसूरि ने रत्नप्रभ नामक प्रथम शिष्य को गुप्त वृत्ति से कुमुदचन्द्र के समीप में भेजा । वें रात्रि के आरंभ में गुप्त वेष से वहाँ पर गये । कुमुदचन्द्र ने पूछा-तुम कौन हो ? उसने कहा- मैं देव हूँ । देव कौन है ? मैं हूँ । मैं कौन हूँ ? तुम कुत्ते हो । कुत्ता कौन है ? तुम ! तुम कौन हो ? मैं देव हूँ । इस प्रकार चक्र के भ्रमण के समान घूमाते हुए अपने को देव तथा दिगंबर को कुत्ते के रूप में संस्थापित कर जैसे आये थे वैसे ही चलें गये । उस चक्र दोष के प्रादुष्करण से विषाद के संपर्क से -

हे श्वेत वस्त्र-धारी ! क्यों यह मुग्ध जन विकट आडंबर से युक्त उक्ति रूपी टाँकनों से अति-विकट इस संसार रूपी आवट के कोटर में गिराया जाता हैं ? जो तुम्हें लेश-मात्र में भी तत्त्व-अतत्त्व की विचारणाओं में उत्कण्ठा हैं, तो तुम सत्य ही दिन-रात कुमुदचन्द्र के चरण युगल का ध्यान करो ।

इस प्रकार उसके उचित कविता का निर्माण कर कुमुदचन्द्र ने सूरि के प्रति भेजा । तत्पश्चात् उनके चरण के परमाणु समान और बुद्धि वैभव से चाणक्य से अधिक पंडित माणिक्य ने लिखा-

कौन पैर से सिंह के कंठ के केसर सटा भार को स्पर्श कर सकता हैं ? कौन तीक्ष्ण भाले से नेत्र-कुहर में खुरचने की इच्छा करता हैं ? नागेन्द्र के शिरो-मणि आभूषण रूपी लक्ष्मी के लिए कौन तैयार होता है ? जो वन्दनीय श्वेतांबर शासन की यह निन्दा कर रहा है ।

रत्नाकर ने इस प्रकार से लिखा-

युवति-जन को मुक्ति-रत्न जो प्रकट तत्त्व हैं, वह नगनों के

द्वारा रोका गया है। तो क्यों वृथा ही कर्कश तर्क रूपी क्रीड़ा में यह अनर्थ की मूलवाली तेरी अभिलाषा है ?

इस प्रकार से उपहास-पूर्वक कुमुदचन्द्र के प्रति भेजा। राज-पत्नी भी नग्न पक्ष से सहमत हुई नित्य ही कुमुदचन्द्र के जय के लिए सभ्यों से उपरोध करती हुई उसके पक्षपात को उज्ज्वल करने लगी। तत्पश्चात् कुमुदचन्द्र ने इस प्रकार से भाषा में लिखकर भेजा कि-

केवली होकर भोजन नहीं करते हैं, वस्त्र सहित को निर्वाण है और स्त्री होकर भी सिद्ध नहीं होती है, यह कुमुदचंद्र का मत है।

तब श्वेतांबरों ने उत्तर दिया-

केवली होकर भी भोजन करते हैं, वस्त्र सहित को भी निर्वाण नहीं है और स्त्री होकर के सिद्ध होती है, यह देवसूरि का मत है।

निर्णय वाद स्थल और दिन के हो जाने पर तथा श्रीसिद्धराज के समीप में षड्दर्शन-प्रमाण के जानकार सभ्यों के उपस्थित हो जाने पर जिसके आगे ढोल बज रहा है ऐसे कुमुदचन्द्र वादी राज-सभा में राजा के द्वारा अर्पित कीएँ हुए सिंहासन पर बैठा। सभा में हेमचन्द्र मुनीन्द्र के साथ प्रभु श्री देवेन्द्रसूरि ने एक ही सिंहासन को अलंकृत किया।

आयु में बड़े स्वयं दिगंबर-वादी ने लेश-मात्र से शिशु अवस्था को व्यतीत करनेवाले श्रीहेमचन्द्र से पूछा-तुमने छाश पीली है। श्रीहेमाचार्य ने उससे कहा कि- हे जड़-मतिवालें ! क्यों तुम असमञ्जस कह रहे हो ? छाश सफेद होती है और हल्दी पीली होती है। इस प्रकार के वाक्य से नीचे कीये गये कुमुदचन्द्र ने पूछा- तुम दोनों में कौन वादी है ? उसके तिरस्कार के लिए श्रीदेवसूरि ने कहा- यह तुम्हारा प्रतिवादी हैं। तब कुमुदचन्द्र ने कहा- मुझ वृद्ध

का इस शिशु के साथ कौन-सा वाद ? यह सुनकर श्रीहेमाचार्य ने कहा- मैं ही बड़ा हूँ और तुम ही शिशु हो जो अब भी कमर के डोरे को भी नहीं लेते हो और निर्वस्त्र हो ।

इस प्रकार राजा के द्वारा उन दोनों के वितंडा के निषेध करने पर परस्पर शर्त-बंध हुआ कि-पराजित हुए श्वेतांबरों के द्वारा दिगंबरत्व अंगीकार करना चाहिए और दिगंबरों के द्वारा देश-त्याग । इस प्रकार शर्त-बंध के पश्चात् स्व-देश के कलंकसे भयभीत, सर्व अनुवाद के परिहार में तत्पर और देश अनुवाद में परायण देवाचार्य ने प्रथम उससे कहा कि- तुम पक्ष को कहो ! तब उसने-

सूर्य जहाँ जुगनू के समान कान्ति को कर रहा है, जहाँ चन्द्र जीर्ण हुए मकड़ी के जाल की छाया का आश्रय ले रहा है और जहाँ पर पर्वत मच्छरपने को प्राप्त कर रहा है, इस प्रकार हे राजन् ! आपके यश समूह का वर्णन करते हुए आकाश स्मृति के गोचर हो आया, और वह आपके यश-समूह में भ्रमर के समान आचरण कर रहा है, उससे वचन मुद्रित हो गये ।

इस प्रकार से कुमुदचन्द्र ने राजा को आशिष दी । वचन मुद्रित हो गये, इस प्रकार के उसके अपशब्द से सभ्य उसे स्व-हस्त का बंधन मानते हुए आनंदित होने लगे । तब देवाचार्य ने कहा-

नारीयों को मुक्ति-पद का विधान करता हूँ तथा श्वेतांबरों से उज्ज्वल होता हुआ, वृद्धि प्राप्त करती हुई कीर्ति से मनोहर, नय-पथ के विस्तार भंगी का गृह और जिसमें पर वृद्धि का निर्माण करनेवाले केवली हैं ऐसा वह जिन-शासन और जिसमें सदा हाथी अत्यंत बहाव का निर्माण कर रहें हैं ऐसा आपका राज्य हे चौलुक्य ! चिर समय तक जीये ।

इस प्रकार से राजा को यह आशिष दी । स्खलित होती हुई

वाणी से युक्त वादी ने कितने ही स्व-पक्ष के उपन्यास के प्रान्त में श्रीदेवपाद से पूछा । उन्होंने बृहद् उत्तराधयन की वृत्ति से चौरासी विकल्पों का उच्चार किया । उनके वचनों को अवधारण करने में असमर्थ हुए दिगंबर-वादी ने फिर से भी उसी उपन्यास की प्रार्थना की । श्रीदेवाचार्य ने अनेक युक्तियों से उसका तिरस्कार किया, उससे मैं जीता गया हूँ इस प्रकार से स्वयं ने उच्चार किया । सिद्धराज के द्वारा पराजित व्यवहार पद से अपट्टार से निकाला जाता हुआ आर्त्तध्यान को प्राप्त कर क्रम से मरण प्राप्त हुआ । राजा ने बड़े उत्सव-पूर्वक सूरि की प्रशंसा की और वैजिन-शासन की प्रभावना करने लगे ।

वादी रूपी हाथी के लिए सिंह के समान और स्याद्वाद रत्नाकर ग्रंथ के निर्माता श्रीदेवसूरि यहाँ वाद में कुमति से युक्त और दिगंबर कुमुदचन्द्र को जीतकर जिन-शासन की शोभा को प्राप्त की थी ।

इस प्रकार से संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में द्वितीय स्तंभ में अट्टाईसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



उन्तीसवाँ व्याख्यान

अब वाद के योग्य पुरुष का स्वरूप प्रकाशित किया जाता है- शासन में जो नय, न्याय और प्रमाण कहें हुए हैं, उनको वैसे ही जो जानता हैं, वह वाद में कुशल होता है ।

इस विषय में वृद्धवादिसूरि का उदाहरण हैं ।

विद्याधर गच्छ में श्रीपादलिसूरि के कुल में स्कन्दिलाचार्य

के समीप में मुकुन्द नामक वृद्ध ब्राह्मण दीक्षा को ग्रहण कर रात्रि में अत्यंत ऊँचे स्वर से पढ़ते हुए गुरु के द्वारा इस प्रकार से निषेध कीये गये कि- हे वत्स ! रात्रि में ऊँचे स्वर से अध्ययन करना उचित नहीं है । अब वें दिन में भी ऊँचे शब्द से पढ़ते हुए श्रावकों के द्वारा कहे गये- क्या यें मूसल को पुष्पित करेंगे ? उससे अत्यंत खेदित हुए और विद्या की स्पृहावाले उन्होंने सरस्वती देवी के आगे इक्कीस उपवास कीये । देवी ने संतुष्ट होकर कहा- सर्व विद्याएँ सिद्ध हो, मैं तप से तुझ पर संतुष्ट हुई हूँ । चौराहें पर मूसल को प्रासुक जलों से अभिषेक कर मुनि ने कहा-

हे सरस्वती ! तेरी कृपा से जो हमारें जैसे भी जड़, वादी और पंडित होते हैं, तब यह मूसल पुष्पित हो । इस प्रकार के मंत्र से उसे पत्र, पुष्प और फल से युक्त किया । जैसे गरुड़ के नाम से सर्प आतंकित होते हैं वैसे ही तब उनके नाम से ही वादी भय-ग्रस्त होने लगे । गुरु ने उनको स्व-पद के ऊपर स्थापित किया ।

इस ओर विक्रमार्क को मान्य देवर्षि ब्राह्मण है और उसकी पत्नी देवश्री है । उन दोनों का सिद्धसेन नामक पुत्र बुद्धि के निधानपने से और मिथ्यात्वीपने से जगत् को भी तृण के समान गिन रहा था । क्योंकि-

बिच्छू विष मात्र से भी कंटक को ऊँचा करता हैं और हजार-भार विष के होने पर भी वासुकि नागराज गर्वित नहीं होता ।

जो मुझे वाद में जीतेगा, मैं उसका शिष्य बनूँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा को वहन करता हुआ, क्रम से वृद्धवादी की कीर्ति को सुनकर और उसे सहन नहीं करते हुए उनके संमुख सुखासन पर बैठकर तथा अनेक छात्रों से घेरा हुआ भृगुपुर के समीप में गया । वहाँ मार्ग में वृद्ध-वादी मिलें । परस्पर आलाप होने पर सिद्धसेन ने

कहा- वाद दो ! सूरि ने कहा- ऐसा ही हो ! परंतु यहाँ पर कोई सभ्य नहीं हैं और उनके बिना वाद में कैसे जय-पराजय की व्यवस्था हो ? तब गर्व से उच्छृंखल सिद्धसेन ने कहा- ये गोपालक हो ! गुरु ने कहा-तो तुमे जो इष्ट है उसे कहो ! सिद्धसेन ने ऊँच स्वर में तर्क से कठिन संस्कृत में अत्यधिक वाद किया । क्रम से गोवालियों ने कहा कि- अहो ! यह वाचाल है और कुछ-भी नहीं जानता हैं, केवल भैंस के समान पूत्कार करते हुए कानों को पीड़ित कर रहा हैं । उससे इसको धिक्कार हो । हे वृद्ध ! तुम कानों को सुखकारी ऐसा बोलो । अब अवसर को जाननेवाले सूरि गण-छंद से नृत्य के लिए अधिक ही ताली दान पूर्वक इस प्रकार से कहने लगे-

नहीं मारो, नहीं चोरी करो, पर-दार गमण का निवारण करो, अल्प में से भी अल्प दो और इस प्रकार से टग-टग कर स्वर्ग में जाओ । गेहूँ, गोरस, गोरड़ी, गज, गुणि-जन और गान, जो यहाँ पर यें छह ग-ग मिलें तो स्वर्ग से क्या काम है ? चूड़ा, चमरी, चूंदड़ी, चोलि, चरणो और चीर-ये छह च-च सदा ही शोभते हैं और यें शरीर के सौभाग्य हैं ।

उस छन्द के दोधक शब्द से नाचते हुए गोवालियों ने कहा- इस सूरि ने इस ब्राह्मण को जीता हैं । इस प्रकार से गोपालकों के द्वारा निन्दित कीयें गयें सिद्धसेन ने कहा कि-हे भगवन् ! आप मुझे प्रव्रजित करो । गुरु ने कहा- हम दोनों वादकरने के लिए राज-सभा में जायें । वें दोनों वहाँ पर गयें । वहाँ पर भी जीते जाने पर सत्य प्रतिज्ञाधारी उसने दीक्षा ग्रहण की । क्रम से सिद्धसेन दिवाकर इस प्रकार से बिरुद को देकर सूरि ने स्व-पद के ऊपर स्थापित किया ।

भव्य-प्राणी रूपी कमलों को विकसित करते हुए और अवन्ती में आते हुए वादीन्द्र-सूरि ऐसे सिद्धसेन को देखकर उन

सर्वज्ञ-पुत्र की परीक्षा के लिए विक्रमार्क ने मन से ही नमस्कार किया। सूरि ने उनके धर्म-लाभ कहा। तब राजा ने कहा कि- हे सूरिन्द्र ! नमस्कार नहीं करनेवाले मुझे भी आप धर्म-लाभ कैसे दे रहे हो ? सूरि ने कहा- करोड़ों चिन्तामणियों से भी यह दुर्लभ है और तुमने मन से ही हमको नमस्कार किया था, उससे मैंने तुमको धर्म-लाभ दिया है।

यदि तुम दीर्घ आयुवान् हो इस प्रकार से वर्णन किया जाता है, तो वह नारकों को भी है। यदि तुम संतान के लिए पुत्रवान् हो इस प्रकार से कहा जाये तो वह मुर्गों को भी है। म्लेच्छ कुल का आश्रय करनेवाले राजा में भी संपूर्ण धन दिखायी देता है, उस कारण से सर्व सुख-प्रद श्री धर्म-लाभ तुम्हारी समृद्धि के लिए हो।

दूर से ही हाथ को ऊँचा कर सिद्धसेनसूरि के द्वारा धर्मलाभ के कहने पर संतुष्ट हुए राजा ने कोटि द्रव्य दिया। निःसंगी उन गुरुओं के द्वारा उस द्रव्य का अंगीकार नहीं करने पर, संघों के द्वारा जीर्णोद्धार आदि में उपयोग किया गया।

अब सूरि चित्रकूट में गये। वहाँ पर एक स्तंभ है। उसके मध्य में पूर्व आम्नाय की पुस्तक गुप्त की गयी थी। उस स्तंभ को जल आदि से अभेद्य और औषधमय देखकर, सूरि ने उसकी गंध को ग्रहण कर और प्रति-औषधियों के द्वारा सिंचन कर उसे कमल के समान विकसित किया। वहाँ एक पुस्तक को खोलकर पढ़ते हुए उनके द्वारा आद्य पत्र में दो विद्याएँ देखी गयी। एक सर्षप-विद्या थी, जैसे कि यहाँ कार्य के उत्पन्न होने पर मांत्रिक जितने सरसवों को अभिमंत्रित कर जलाशय में डालता है, उतने ही अश्ववार निकलकर और पर-सैन्य को जीतकर अदृश्य हो जाते हैं। और द्वितीय चूर्ण के योग से कोटि स्वर्ण निष्पन्न होते हैं। आगे वांचते हुए उनको निषेध कर देवी ने

पुस्तक को अपहरण कर ली और स्तंभ भी मिल गया ।

सूरि कुमारपुर में गये । वहाँ देवपाल राजा गुरु को नमस्कार कर कहने लगा- मेरे राज्य को ग्रहण करने की इच्छावालों सीमा के राजा आ रहे हैं । यदि आप मुझ पर कृपा करो तो राज्य स्थिर होगा । हों इस प्रकार से कहकर आचार्य ने विद्या से युद्ध में शत्रु बल को भग्न किया । उससे राजा जैन और सूरि में एकान्त भक्त हुआ । प्रति-दिन राजा के आग्रह से सुखासन में बैठे हुए और स्तुति-पाठकों के द्वारा स्तुति कीये जाते हुए आचार्य राज-कुल में जानें लगे । प्रमाद से युक्त उनको सुनकर वृद्धवादी वेष का परावर्तन कर वहाँ पर आये । राज-कुल में जाते हुए उनको देखकर एक सुखासन के दंड पर अपना स्कंध दिया । तब मद से भरे हुए चित्तवालों श्रीसिद्धसेन ने श्लोक के दो पदों को इस प्रकार से कहा-

बहुत भार के वजन से आक्रान्त हुआ यह तेरा स्कंध बाधित हो रहा है । वृद्धवादी ने कहा-

वैसे स्कंध बाधित नहीं हो रहा है जैसे कि बाधति का प्रयोग बाधित कर रहा है ।

तब शंकित हुए आचार्य ने सोचा- मेरे गुरु के बिना मेरे द्वारा कहे हुए में कौन दोष को कह सकता है ? इस प्रकार से विचारकर और आसन से उतरकर उनके चरणों में गिरें । अपने प्रमाद की आलोचना कर और राजा से पूछकर गुरु के साथ में विहार किया ।

वृद्धवादी के स्वर्ग प्राप्त करने पर एक दिन मग्न-दयाणं इत्यादि प्राकृत के पाठ में लोक के उपहास से लज्जित हुए, बाल्य अवस्था से भी संस्कृत के अभ्यास से और कर्म-दोष से गर्वित होते हुए सिद्धसेन ने संघ प्रति कहा- मैं संघ की अनुमति से सिद्धान्त को संस्कृत में करता हूँ । संघ ने भी निर्दोष वचन से कहा- बाल, स्त्री,

मन्द, मूर्ख और चारित्र की कांक्षावाले मनुष्यों के अनुग्रह के लिए तत्त्वज्ञों ने सिद्धान्त को प्राकृत में किया है । प्रज्ञावंत के योग्य चौदह पूर्व भी संस्कृत में ही सुने जाते हैं । इस प्रकार जिन आदि की आशातना से प्रौढ प्रायश्चित्त को प्राप्त किया है ।

उसे सुनकर साधु-वेष को गुप्त कर और अवधूत का रूप कर, मौन को धारण कर तथा संयम से युक्त, संघ की अनुज्ञा से और जन की आज्ञा से ही विहार करते हुए सात वर्ष के अंत में उज्जयिनी में महाकाल-ईश के मंदिर में अधिष्ठित हुए । शिव के सम्मुख पैर देकर शिव को नहीं प्रणाम किया और नहीं वंदन किया । उससे कौतुक से भरा हुआ राजा वहाँ आकर उनसे कहने लगा- तुम शिव को वंदन क्यों नहीं करते हो ? सूरि ने कहा- जैसे ज्वर से पीडित व्यक्ति मोदक को सहन नहीं कर सकता, वैसे ही यह देव हमारे स्तवन आदि को सहन नहीं कर सकता है । राजा ने कहा कि- हे जटाधारी ! यह तुम क्या कह रहे हो ? तुम स्तुति करो । तब उन्होंने-

स्वयंभू, हजार नेत्रों के धारक, अनेक, एकाक्षर भाव-लिंग से युक्त, अव्यक्त, विश्व के लोगों को अबाधित करनेवाले, आदि-मध्य और अंत से रहित तथा पुण्य और पाप से रहित उनको ।

इत्यादि वीर की स्तुति रूप द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका की । पश्चात् महिमा से युक्त श्री पार्श्वनाथ की स्तुति की । वहाँ कल्याण-मंदिर की ग्यारहवें वृत्त के विधान के अवसर में शिव-लिंग दो भागों में होकर झटकार-पूर्वक अवन्ति पार्श्वनाथ का बिंब प्रकट हुआ । विस्मित हुए विक्रमार्क ने पूछा-किसने इस देव का निर्माण किया है ? गुरु ने कहा-

अवन्ति में भद्र सेठ और भद्रा सेठानी से उत्पन्न अवन्तिसु-कुमाल बत्तीस पत्नीयों का स्वामी था । एक बार गवाक्ष में बैठे हुए उसने आर्यसुहस्ती से नलिनीगुल्म वर्णनवाले अध्ययन को सुनकर

जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त किया और गुरु के समीप में जाकर पूछा- क्या आप उस विमान से यहाँ आये हो ? आर्य सुहस्ती ने कहा- सर्वज्ञ के वचन से हम उस विमान के स्वरूप को जानते हैं । उसने कहा- किससे वह विमान प्राप्त किया जाता है ? गुरु ने कहा-चारित्र से । यह सुनकर उसने दीक्षा को ग्रहण की । सदा तप से असमर्थ हुए बड़े श्मशान में अनशन के द्वारा स्थित हुए । तब पूर्व-भव की अपमानित की हुई पत्नी सियाली हुई शिशु से युक्त वहाँ पर आयी । तीन प्रहरों से भक्षण कीये जाते हुए चौथे प्रहर के हो जाने पर उस विमान में गये । उस वैराग्य से भद्रा ने एक गर्भवती वधू को छोड़कर शेष वधूओं के साथ में प्रव्रज्या ग्रहण की उस गर्भवती के पुत्र ने अपने पिता के मृत्यु-स्थान में इस मंदिर को किया है । उसके मध्य में इस बिंब को स्थापित किया था और क्रम से ब्राह्मणों ने यहाँ लिंग को स्थापित किया । अतः यह मेरी कही हुई स्तुति को कैसे सहन कर सकते हैं ?

यह सुनकर विक्रमार्क ने उस बिंब की पूजा के लिए सो गाँव दीये । उसने महर्षि से कहा- आपके समान कौन महर्षि हैं ? क्योंकि- मेंढक के भक्षण में दक्षिण बहुत सर्प हैं, किन्तु पृथ्वी को धारण करने में समर्थ एक वह शेष-नाग ही हैं ।

इस प्रकार से स्तुति कर सम्राट् अपने महल में चला गया । उनकी इस प्रभावना से संतुष्ट हुए संघ ने आलोचना के शेष पाँच वर्षों को प्रसाद-पद पर छोड़कर सूरीन्द्र किये । पश्चात् कुवादी रूपी अंधकार के लिए सूर्य सदृश सिद्धसेन दिवाकर ने ओंकारपुर को प्राप्त किया । वहाँ पर श्रावकों ने उनसे विज्ञप्ति की- हे स्वामी ! यहाँ मिथ्यात्वी अर्हत्-चैत्य को करने नहीं दे रहें हैं । तब वादीन्द्र हाथ में चार श्लोकों को रखकर विक्रमार्क राजा के द्वार पर गये । पहरेदार ने

सूरि के द्वारा प्रदत्त श्लोक राजा को दिया । जैसे कि-

देखने की इच्छावाला भिक्षु आया हुआ है और निवारण करने से हाथ में चार श्लोकों को रखकर द्वार पर स्थित हैं, क्या वह आये अथवा चला जाये ?

तब राजा ने इस प्रकार से प्रति-श्लोक को भेजा-

दस लाख द्रव्य और चौदह शासन दीये जायेंगे । हाथ में चार श्लोकों को रखकर वह भिक्षु आय अथवा चला जाय ।

सभा के मध्य में गये सूरि ने दीये हुए आसन में स्थित होकर चारों श्लोक चारों दिशाओं में पढे -

आपने इस अपूर्व धनुर्विद्या को कहाँ से सीखी है ? जिससे कि बाणों का समूह संमुख होता है और धनुष् की डोरी अन्य दिशा में जाती है । मुख में सरस्वती स्थित है और कर-कमल में लक्ष्मी स्थित है । हे राजन् ! क्या कीर्ति कुपित हो गयी है जिससे कि देशान्तर में चली गयी है । तुम सर्वदा सभी को देते हो, इस प्रकार जो तुम पंडितों के द्वारा स्तुति कीये जाते हो, वह मिथ्या है क्योंकि नारीयों ने तुम्हारे पीठ को प्राप्त किया है और पर-स्त्रियाँ वक्ष को प्राप्त नहीं करती हैं । हे राजन् ! चार समुद्रों में डूबकी लगाने से शीतल हुई के समान तेरी कीर्ति गर्मी के लिए सूर्य-मंडल में गयी है ।

यह सुनकर संतुष्ट हुए राजा ने कहा- आप चारों दिशाओं के राज्य को ग्रहण करो । गुरु ने कहा- हम निर्ग्रन्थों को राज्य से क्या कार्य हैं ? तब राजा ने कहा- तो आप क्या चाहते हो ? गुरु ने कहा- ओंकारपुर में शिव-मंदिर से ऊँचा और चार द्वारवाले जिन-मंदिर को कराओ । वहाँ पर पार्श्वनाथ प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराओ । राजा ने सिद्धसेन का कहा कराया ।

सूरीन्द्र दक्षिण में प्रतिष्ठान में आये । स्व-आयु का अंत

जानकर अनशन के द्वारा स्वर्ग को अलंकृत किया । संघ ने उनके गच्छ के उस वृत्तान्त को ज्ञापन करने के लिए वाक्-पटु भट्ट को चित्रकूट में प्रस्थापित किया । उनके गच्छ में पुनः पुनः श्लोक के पूर्वार्ध को पढ़ने लगा, जैसे कि-

वादी रूपी जुगनू अब दक्षिण-पथ में चमक रहें हैं ।

तब सिद्धसारस्वता सूरि की बहन ने कहा-

निश्चय से वादी सिद्धसेन दिवाकर अस्त हो चुके हैं ।

पश्चात् भट्ट ने अच्छी प्रकार से कहा ।

वादी ऐसे श्रीवृद्धवादी गुरु और सिद्धसेन के नाम को सुनकर तर्क के जानकार भी अवश्य ही मद को छोड़ देते हैं, जैसे कि श्रेष्ठ हाथी के शत्रु ऐसे सिंह के शब्द को सुनकर अवश्य ही हाथी मद को छोड़ते हैं ।

इस प्रकार से संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में इस द्वितीय स्तंभ में उन्तीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



तीसवाँ व्याख्यान

अब निमित्त का स्वरूप लिखा जाता है-

जो शासन की उन्नति के लिए अष्टांग निमित्तों का प्रयोग करता है, वह चतुर्थ प्रभावक होता है ।

इस विषय में भद्रबाहु-स्वामी का उदाहरण है और वह इस प्रकार है-

दक्षिणपथ में प्रतिष्ठानपुर में चतुर ऐसे भद्रबाहु और वराहमिहिर इन दोनों भाईओं ने यशोभद्र गणधर (आचार्य) के

समीप में प्रव्रज्या ग्रहण की। क्रम से अग्रज चौदह-पूर्वी और सूरि हुए। उन्होंने दशवैकालिक, आवश्यक आदि दस ग्रंथों की निर्युक्ति की। वराह ज्ञान के गर्व से अग्रज के पास में सूरि-पद की याचना करने लगे। गुरु ने कहा- गर्व से युक्त विद्वान् को सूरि-पद नहीं दिया जाता। उसे यह पसंद नहीं हुआ। उसने पुनः ब्राह्मण वेष को ग्रहण किया। लोगों में अपनी ख्याति को फैलाने लगा कि- मैं बाल्य-अवस्था से ही सदा लग्न के विचार में ही रहा हुआ हूँ। मैंने एक बार नगर के बाहर शिला के ऊपर लग्न को स्थापित किया। मैं वैसे रहे हुए उस लग्न को छोड़कर स्व-स्थान पर चला गया। जब मैं सोने लगा, तब उसका स्मरण हुआ। उसे साफ करने के लिए वहाँ पर गया। लग्न के स्थान पर मैंने सिंह देखा। फिर भी जब मैं निर्भय होकर सिंह के नीचे हाथ डालकर लग्न को दूर करने लगा, तब सूर्य ने प्रत्यक्ष होकर कहा कि- हे वत्स ! वर माँगो ! मैंने कहा- यदि प्रसन्न हो तो मुझे अपने विमान में स्थापित कर सकल ज्योतिष्क-चक्र दीखाओ ! तब सूर्य ने उसे दिखाया और चार-मान आदि कहा। उससे कृतकृत्य हुआ मैं लोगों के उपकार के लिए भ्रमण कर रहा हूँ। इस प्रकार की प्रशस्ति को सुनकर जितशत्रु ने उसे पुरोहित किया।

वह वराह श्वेतांबरों की निन्दा करने लगा। उसे अनेक गुरु-भक्त और श्रावकों ने सुनकर श्रीभद्रबाहु सूरिजी गुरु को बुलाकर नगर में प्रवेश महोत्सव करवाया। गुरु के आगमन को सुनकर वह अत्यंत मुर्झाया। इसी बीच राजा के गृह में पुत्र उत्पन्न हुआ। वराहमिहिर ने उसकी जन्म-पत्री में राजा के समक्ष सो वर्ष आयु का प्रख्यापन किया। राजा के प्रसन्न होने पर उसने कहा- भद्रबाहु के बिना सभी जन सहर्ष आपके गृह में आये थें। हर्ष रहित भद्रबाहु को देश-त्याग ही उचित दंड है। राजा ने मंत्री के पास से श्रीभद्रबाहु

सूरिजी को ज्ञापन किया । श्रीसूरि ने संदेश दिया-किस प्रकार से दो बार आने का क्लेश किया जाय ? सातवें दिन के होने पर बिल्ली के मुख से इस पुत्र का मरण होगा । उस समय सांतवना देने आयेंगे । मंत्री ने भी राजा से कहा । उसे सुनकर राजा ने सभी बिल्लीओं को नगर से बाहर निकाल दी ।

सातवें दिन के होने पर दूध पीलाने के लिए धाय-माता द्वार-शाखा के आगे बैठी हुई थी । इस ओर अकस्माद् ही द्वार की चटखनी बालक के सिर के ऊपर गिर पड़ी और वह मरण प्राप्त हुआ । उससे राजा ने वराहमिहिर का तिरस्कार किया । राजा ने गुरु भद्रबाहु से पूछा-आपने इसकी आयु को कैसे जाना ? बिल्ली के मुख से मरण नहीं हुआ है, वह क्यों ? गुरु ने कहा- चटखनी के मुख में उसका रूप है हमने पुत्र जन्म के समय में पूर्व के आमनाय से आयु का निर्णय किया था । इसने पुत्र-जन्म के अनंतर दासी के द्वारा ऊँचे पाद-पीठ के ऊपर दोनों पैरों को रखकर घटिका-ताडन करने के पश्चात् जाना । उससे वराह खेदित होकर पुस्तकों को जल में डालने लगा, गुरु ने निषेध किया कि- सर्वज्ञ के द्वारा कहने से शास्त्र शुद्ध ही हैं । क्योंकि-

मंत्र से रहित अक्षर नहीं हैं, औषध से रहित मूल नहीं हैं, नाथ से रहित पृथिवी नहीं हैं, निश्चय से आमनाय दुर्लभ हैं ।

अब एक बार राजा ने सूरि और ब्राह्मण दोनों से पूछा कि- आज क्या होगा ? वराह ने कहा- आज पश्चात् प्रहर में अमुक स्थान में सहसा ही मेघ के बरसने पर मंडल के मध्य में बावन पल मित मत्स्य गिरेगा । सूरिने कहा- इक्यावन पल मित, उस मंडल से बाहर और पूर्व दिशा में । संध्या के समय गुरु के द्वारा कहे हुए स्थान में गिरा । उससे राजा ने जिन-धर्म का स्वीकार किया । वराह अपमान से तापसी दीक्षा को लेकर और अज्ञान कष्ट कर व्यंतर हुआ । द्वेषवान्

होता हुआ भी वह साधुओं में प्रभावशाली नहीं हुआ । श्रावकों में रोगों को उत्पन्न करने लगा । श्रावकों ने गुरु से विज्ञप्ति की । गुरु ने श्रावकों को पढ़ने के लिए उपसर्गहर स्तोत्र दिया । उससे वह व्यंतर लेश-मात्र भी प्रभावित करने के लिए समर्थ नहीं हुआ । आज भी उस स्तोत्र का स्मरण विघ्न आदि का विनाश करता है । पाँचवें श्रुत-केवली भद्रबाहु बहुत जीवों को प्रतिबोधित कर स्वर्ग में गये ।

श्रीभद्रबाहु गुरु ने शुभ निमित्त के बल से राजा को प्रतिबोधित किया था । तुम्हारे द्वारा भी शासन की उन्नति के लिए शीघ्र ही उनमें स्व-प्रयत्न करना चाहिए ।

इस प्रकार संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में इस द्वितीय स्तंभ में तीसरी व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।

यह द्वितीय स्तंभ समाप्त हुआ ।



तृतीय स्तंभ

अब पंचम तप-प्रभावक कहा जाता है-

विविध तपस्याओं के द्वारा जैन-धर्म प्रकाशक वें पंचम तपस्वी प्रभावक भव्यों के द्वारा जाने जायें ।

इस विषय में यह काष्ठ-मुनि का उदाहरण हैं -

राजगृह में काष्ठ नामक श्रेष्ठी था । उसकी पत्नी वज्रा कुलटा थी । पुत्र देवप्रिय लेख-शाला में पढ़ता था । श्रेष्ठी के घर में तोता, सारिका और मुर्गा तीनों ही संतान के समान थे तथा स्व-गृह में एक ब्राह्मण-पुत्र को रखा था ।

एक बार श्रेष्ठी, स्त्री और तोते को स्व-गृह का भार देकर लक्ष्मी के लिए विदेश में चला गया । अब ब्राह्मण के यौवन प्राप्त होने पर वज्रा उसके साथ सौख्य को भोगने लगी । उन दोनों को संयुक्त देखकर सारिका ने तोते से कहा- पाप से युक्त इन दोनों को हम दोनों निवारण करें । तोते ने कहा-

मूर्खों को उपदेश क्रोध के लिए होता है, शान्ति के लिए नहीं । सर्पों का दूध-पान केवल विष-वर्द्धन करता है ।

अब समय नहीं है । सारिका ने कहा-

शीघ्र ही तुम मेरे सद्भाव को सुनो । मेरा अकाल में भी मरण श्रेष्ठ है, किन्तु मेरे रक्षक के घर में ऐसे अकार्य को देखने के लिए मैं समर्थ नहीं हूँ ।

इस प्रकार से कहती हुई वह सारिका वज्रा के द्वारा अग्नि में डाली गयी । उससे तोता मौन रहा । एक बार श्रेष्ठी के घर में तपस्वी-युगल भिक्षा के लिए आया । एक वृद्ध ने छोटे के आगे इस प्रकार से कहा- जो इस मुर्गे का मंजरी से युक्त सिर को खायगा वह राजा होगा । परदे के मध्य में से उस लड़के ने उनके वचन को सुन लिया ।

उसने वज्रा से कहा- अवश्य ही इस मुर्गे का सिर मुझे दो । किसी प्रकार से उसने भी स्वीकार किया । पश्चात् मुर्गे को मारकर उसे पकाने के लिए अग्नि में डाला । लड़का स्नान के लिए चला गया । इस ओर पुत्र लेख-शाला से आया और उसने भोजन की याचना की । विस्मृति से माता ने उसे वह सिर दिया । बाद में वह पढ़ने के लिए गया । ब्राह्मण लड़का आकर भोजन के लिए बैठा । सिर से रहित माँस को देखकर और वज्रा से पूछकर निर्णय कर उसने कहा- यदि तुम पुत्र को मारकर उसका सिर का मांस मुझे दोगी, तो हम दोनों का प्रेम-भंग नहीं होगा । उसने स्वीकार किया । पुत्र की धाय-माता ने उसे सुन लिया । लेखशाला से उस पुत्र को कमर में रखकर और नगर से निकलकर क्रम से धाय-माता पृष्ठचंपा के उद्यान में आयी । इस ओर निःसंतान उस नगर का स्वामी मरण को प्राप्त हुआ । अमात्य आदि के द्वारा कीये गये पाँच दिव्यों से वन में सोते हुए उस बालक को प्रमाणित कर उसका राज्य के ऊपर अभिषेक किया गया ।

इस ओर काष्ठ श्रेष्ठी घर में आया । चार वस्तुओं को नहीं देखकर उसने तोते से पूछा । तोते ने कहा- मुझे पींजरे से बाहर निकालो, पश्चात् मैं निर्भय होकर समस्त ही कहूँगा । श्रेष्ठी के द्वारा बंधन से मुक्त कीये गये उसने वृक्ष के ऊपर स्थित होकर उससे ब्राह्मण और व्रजा के संबंध के बारे में कहा । उसे सुनकर श्रेष्ठी ने वैराग्य से दीक्षा ग्रहण की । राजा के भय से ब्राह्मण सहित वज्रा निकलकर भाग्य के योग से पुत्र राज्य के नगर में आयी । भाग्य के योग से काष्ठमुनि भी विहार करते हुए उसी नगर में आये । अकस्मात् ही वज्रा के गृह में आहार के लिए गये । वज्रा उस पति को पहचानकर सोचने लगी- यदि यह मुझे पहचानेगा, तो मेरी निंदा करेगा । भिक्षा के मध्य में अपने आभरण को रखकर वह पूत्कार करने लगी । चोरी

के दोष को प्रकटित करने पर भटों के द्वारा वें मुनि राजा के आगे ले जाये गये । धाय-माता ने उनको देखा, उसने राजा से कहा- यें तेरे पिता हैं । माता को पिता की हंतक जानकर राजा ने उसे निकाल दिया । राजा श्रावक हुआ । पिता-गुरु को आग्रह से स्व-नगर में रखा । राजा सर्व ऋद्धि से प्रति-दिन गुरु वंदन के लिए आता हैं । इस प्रकार जिन-शासन की प्रभावना से प्रद्वेष को प्राप्त हुए ब्राह्मण उनके छिद्रों को ही ढूँढ रहें थें । एक गर्भवती दासी को देखकर उन ब्राह्मणों ने कहा- तुम इस साधु को कलंक दो । ब्राह्मणों के द्वारा वह धन से लोभित की जाती हुई साध्वी वेष कर राजा आदि बहुत जन के मिलने पर और विहार के लिए उद्यमी साधु के समीप में आकर उसने कहा कि- हे भगवन् ! अपर्याप्त आपके इस गर्भ को छोड़कर आपका गमन योग्य नहीं हैं । इस प्रकार से कहकर वह वस्त्र के आँचल में लगी ।

तब मुनि ने कहा कि- हे बाले ! तुम क्यों झूठे वचन से हमको क्रोधित कर रही हो ? उसने कहा- यह झूठ नहीं हैं । तब शासन उन्नति की लब्धिवाले मुनि ने कहा- यदि यह गर्भ मेरे द्वारा किया गया हो तो रहे और यदि यह गर्भ मेरे द्वारा नहीं किया गया हो तो तेरी कुक्षि को भेदकर नीचे पड़ें । इस प्रकार से कहने पर गर्भ पृथ्वी के ऊपर गिरा । तब संभ्रान्त होकर उसने कहा- मैंने ब्राह्मणों के वचनों से इस अकार्य को किया है, आप उसे क्षमा करो । काँपते हुए ब्राह्मणों ने भी मुनि के पैरों में प्रणाम किया । साधु ने शाप का संहार किया । सभी मुनि की देशना से धर्म करने लगे और जैन-धर्म की निन्दा छोड़ दी । उत्कृष्ट तप के द्वारा कर्मों को नष्ट कर मुनि ने भी मोक्ष प्राप्त किया ।

हे भव्य-प्राणियों ! इस प्रकार से अद्भुत काष्ठ-मुनि के चरित्र को सुनकर यदि मोक्ष के सुख के लिए जो तुम्हारी स्पृहा हैं तो विविध तपों को कर जिन-धर्म की शोभा करो ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में एकतीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



बत्तीसवाँ व्याख्यान

अब छट्ठा विद्या-प्रभावक का स्वरूप कहा जाता है-

मंत्र, तंत्र आदि विद्याओं से युक्त विद्या-प्रभावक संघ आदि के लिए महा-विद्या का प्रयोग करता है, अन्यथा नहीं ।

भावार्थ तो श्रीहेमसूरि के माहात्म्य से जाने और वह यह है-

धंधुका नगर में मोढ-जातीय अंगदेव(चंगदेव) ने देवचन्द्रसूरि के पास में दीक्षा ली । क्रम से गुरु ने हेमसूरि नाम दिया । इस ओर पाटण में कुमारपाल के राजा होने पर हेमसूरि वहाँ आकर उदयन मंत्री से पूछा-राजा हमारा स्मरण करता है अथवा नहीं ? उदयन ने कहा- नहीं । तब सूरि ने कहा कि- हे मंत्री ! आज तुम रहस्य से राजा को कहना कि- आज तुम नूतन रानी के गृह में मत सोना । अमात्य के द्वारा वैसा कराने पर रात्रि के समय विद्युत्-पात से उसके गृह के जल जाने पर और रानी के मरण प्राप्त होने पर चमत्कृत हुए राजा ने उससे कहा- किसका यह ज्ञान है ? अमात्य के द्वारा सत्य कहने पर वहाँ जाकर सूरि को प्रणाम कर राजा ने कहा कि- हे पूज्य ! आप इस राज्य को ग्रहण कर मुझे अनुग्रहित करो । सूरि ने कहा-

हे राजेन्द्र ! जो तुम कृतज्ञपने से प्रत्युपकार करने की इच्छा करते हो तो आत्मा के लिए हितकारी जैन-धर्म में निज मन को स्थापित करो ।

राजा ने कहा- मैं भगवान् का कहा करूँगा । एक दिन राजा सूरि को साथ में बुलाकर सोमेश्वर की यात्रा के लिए गया । वहाँ शिव

को नमस्कार कर जैन जिन के बिना अन्य को नमस्कार नहीं करते हैं इस प्रकार ब्राह्मणों के द्वारा विपरीत ग्रहण कराये राजा ने सूरि से कहा कि- हे भगवन् ! आप शिव को वंदन करो । सूरि ने कहा-

भव रूपी बीज के अंकुर को उत्पन्न करनेवाले राग आदि जिसके क्षय को प्राप्त हुए हैं, ब्रह्मा, विष्णु शिव अथवा जिन उसको नमस्कार हो । जिस किसी भी समय में, किसी अवस्था में और जिस किसी भी नाम से तुम हो, दोष रूपी मल से रहित वह एक तुम ही हो, हे भगवन् ! तुमको नमस्कार हो ।

इस प्रकार की स्तुति से आश्चर्य-चकित हुए राजा ने गुरु से कहा कि- हे पूज्य ! आप मत को छोड़कर यथार्थ तत्त्व को प्रकाशित करें । सूरि ने कहा- शास्त्र के संवाद से पर्याप्त हुआ । जो यह शिव तुम्हारे आगे तत्त्व को कहता है, उसकी उपासना करो । रात्रि के समय में मुनि के ध्यान से प्रत्यक्ष होकर शिव ने राजा से कहा कि-जिनों के द्वारा कहे हुए स्याद्वाद तत्त्व को करते हुए तुम अपने इष्ट को प्राप्त करोगे । उससे राजा सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ ।

एक बार पवन-क्रिया में चतुर ऐसा देवबोधि कमल-नाल को दो दंड के रूप में और तंतुओं से बंधे हुए केलों के पत्र से आसन कर और शिष्य के स्कंध पर स्थापन कर उसमें बैठकर राज-सभा में आया । विस्मय से युक्त राजा ने उसका सन्मान किया । पूजा के अवसर पर राजा को जिन की पूजा करते हुए देखकर देवबोधि ने कहा कि- हे राजन् ! तुम्हें कुल-धर्म का उल्लंघन करना योग्य नहीं है । जैसे कि-

यदि नीति में निपुण पुरुष निन्दा करे अथवा स्तुति करें । यथेच्छा से लक्ष्मी आय अथवा जाय । आज ही मरण हो अथवा युगान्तर में लेकिन धीर पुरुष न्याय-मार्ग से पद भी विचलित नहीं होते ।

राजा ने कहा- सर्वज्ञ के द्वारा कहने से जैन-धर्म सत्य हैं ।

देवबोधि ने कहा- यदि तुम विश्वास नहीं करते हो तो मूर्तिमंत और यहाँ पर आये हुए महेश्वर आदि तीनों देवों को और अपने पूर्वजों को स्व-मुख से पूछो । इस प्रकार से कहकर विद्या की शक्ति से उन्हें दिखाया । देवों ने और पूर्वजों ने कहा कि- हे वत्स ! तेरे द्वारा देवबोधि का वचन करना चाहिए । उससे आश्चर्य से युक्त हुआ राजा जड़ के समान हुआ । तब उदयन मंत्री ने कहा कि-हे राजन् ! हेमसूरि भी अनेक विज्ञान में कुशल हैं । प्रातः काल में देवबोधि आदि से घेरे हुए राजा ने सूरि को नमस्कार किया । सूरि पाँचों भी पवनों को रोककर और आसन से थोड़ा उच्छ्वास लेकर व्याख्यान प्रारंभ किया । उतने में पूर्व में संकेत कीये गये शिष्य ने नीचे से आसन को ले लिया । सभी विस्मय को प्राप्त हुए । सूरि ने कहा- मेरे देवों को देखो, ऐसा कहकर श्रीचौलुक्य को कमरे में ले आये । वहाँ समवसरण में स्थित चौबीस जिनेन्द्रों को और चौलुक्य आदि इक्कीस स्व-पूर्वजों से पूजित कीये जातें जिनेश्वरों को देखकर नमस्कार किया । उन्होंने भी कहा-दया-धर्म को स्वीकार करनेवाले तुम ही विवेकी हो । ये तेरे गुरुदेव हैं । उनके द्वारा कहे हुए की आराधना करो । पूर्वजों ने भी कहा कि- हे वत्स ! तेरे द्वारा जिन धर्म के आदरण से हम सुगति पात्र हुए हैं और इस प्रकार की महर्द्धि को भज रहे हैं । ऐसा कहकर वे तिरोहित हुए । तब दोलायमान मन से युक्त राजा ने सूरि से तत्त्व पूछा । सूरि ने कहा कि- हे राजन् ! पूर्व में उसके द्वारा दिखाया गया और यह मेरे द्वारा दिखाया गया इन्द्रजाल और आकाश-जुगाल के समान हैं । जो तुझे सोमेश्वर ने कहा था वही तत्त्व हैं । उसने मिथ्यात्व को छोड़ दिया और क्रम से द्वादश व्रत लिये ।

एक दिन आश्विन मास के आने पर देवी के पूजारियों ने राजा से कहा कि- हे नरेन्द्र ! कुल-देवीयों की बलि के लिए सप्तमी में सात

सो भैसे मारे जातें हैं, अष्टमी में आठ सो और नवमी में नव सो । नहीं तो वें विघ्न-कारिणी होंगी । राजा ने गुरु के पास में जाकर कहा । गुरु ने कहा-जिस दिन में जितने भैसे मारे जाते हैं, उतने ही उस देवी के आगे स्थापित कर कहे कि- हे देवी ! शरण से रहित यें पशु तुम्हारे आगे स्थापित कीये गये हैं, अब हे देवी जो सही हो, वह आदरित किया जाय । राजा ने गुरु के द्वारा कहे हुए को किया । देवीयों ने एक भी पशु का भक्षण नहीं किया ।

नवमी की रात्रि में हाथ में त्रिशूल से युक्त कंटेश्वरी साक्षात् होकर कहने लगी कि- हे राजन् ! तुमने क्रम से आये आचार को छोड़ दिया हैं । राजा ने कहा-जीवित मैं चीटी को भी नहीं मारता हूँ । रुष्ट होकर देवी त्रिशूल से राजा को मस्तक पर मारकर तिरोहित हो गयी । उस दिव्य घात से राजा कुष्ठ रोग से पीड़ा को प्राप्त होने लगा । मैं अग्नि में प्रवेश करता हूँ इस प्रकार से कहते हुए राजा को निषेध कर उदयन ने सूरि से उस स्वरूप का निवेदन किया । सूरि के द्वारा दीये गये अभिमंत्रित पानी के छिड़काव से राजा का शरीर स्वर्ण कान्तिवाला हुआ ।

प्रातः काल में गुरु वंदन के लिए जाते हुए राजा ने धर्मशाला के प्रवेश में स्त्री के करुण स्वर को सुना । रात्रि के समय में देखी गयी उस देवी को पहचानकर, सूरि से कहा कि- हे पूज्य ! स्तंभ से बद्ध इसे आप छोड़ दो । गुरु ने कहा कि- हे राजन् ! इसके पास कोई याचना करो । राजा ने अठारह देशों में जीव रक्षा के लिए नगर-रक्षकपने की याचना की । देवी के द्वारा स्वीकार करने पर बंधन रहित हुई वह राज-भुवन के द्वारा पर स्थित हुई ।

अब एक बार सूरि ने राज-सभा में स्थूलभद्र का वर्णन किया, जैसे कि-

वेश्या रागवती और सदा ही उसका अनुसरण करनेवाली है, छह रसों से युक्त भोजन हैं। महल गृह हैं, मनोहर शरीर हैं, अहो ! नव्य वय का संगम है। मेघ से काले रंग का यह काल है, फिर भी जिसने आदर से काम को जीत लिया है, ऐसे युवति के प्रतिबोध में कुशल श्रीस्थूलभद्र मुनि को मैं वंदन करता हूँ।

यह सुनकर राजा के समीप में रहे हुए ईर्ष्यालु ब्राह्मणों ने कहा-

जो पानी और पत्तों का आहार करनेवाले विश्वामित्र, पराशर आदि थे, वे भी अत्यंत सुंदर स्त्रियों के मुख रूपी कमल को देखकर ही मोह को प्राप्त हुए थे। जो मानव दूध, दही और घी से युक्त आहार का भोजन करते हैं उनको इन्द्रिय का निग्रह कैसे ? अहो ! दंभ देखो।

यहाँ सूरि ने उत्तर दिया कि- हे राजन् ! शील के पालन में आहार और नीहार कारण नहीं हैं किन्तु मनोवृत्ति ही कारण हैं। क्योंकि-

बलवान्, हाथी-सूअर के मांस का भोजन करनेवाला सिंह संवत्सर में एक बार रति को करता है। कर्कश शिला कण मात्र का भोजन करनेवाला कबूतर प्रति-दिन कामी होता है, यहाँ कौन-सा हेतु है ?

यह सुनकर कुवादी श्याम मुखवाले हुए। इत्यादि अनेक प्रबंध कुमारपाल राजा के चरित्र से जानें।

सूरि भी पृथ्वी ऊपर अनेक भव्यों को प्रतिबोधित कर और जिन-मत की प्रभावना कर स्वर्ग में गये।

जिन-धर्म रूपी जगत् में विद्या के एक कान्ति, सूर्य के सदृश अंधकार का नाश करनेवाले, चौलुक्य वंश में सिंह सदृश राजा को प्रतिबोधित करनेवाले श्रीहेमचन्द्र नामक गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में बत्तीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।

तेत्तीसवाँ व्याख्यान

अब सातवें सिद्ध-प्रभावक को प्रकाशित करते हैं-

इस जिन-शासन में अंजन, चूर्ण, लेप आदि सिद्ध योगों से युक्त सातवाँ प्रभावक होता है ।

भावार्थ श्रीपादलिस आचार्य के दृष्टांत से दृढ़ किया जाता है-

अयोध्या में नागहस्ती सूरि के समीप में प्रतिमा श्राविका के पुत्र ने आठवें वर्ष में दीक्षा ग्रहण की । एक बार श्रावक के गृह से काँजी को लेकर क्षुल्लक गुरु के आगे स्थित हुए । गुरु ने उससे कहा कि- हे वत्स ! तुम आलोचना को जानते हो ? क्षुल्लक ने कहा कि- हे भगवन् ! थोड़े प्रयोजन के लिए क्रिया के योग में मर्यादा के साथ में जो, वैसे मैं आलोचना को जानता हूँ, आप सुनो-

आम के समान ताम्र नेत्रोंवाली, पुष्प के समान दाँत-पंक्तिवाली ऐसी नव वधू ने मुझे जल-पात्र से अपुष्पित नव चावलों की काँजी दी है ।

उस शृंगार-वाक्य से रुष्ट हुए गुरु ने पालित्त कहा । (प्रलिस अर्थात् प्रकर्ष से लिस) ।

क्षुल्लक गुरु के चरण में नमस्कार कर विज्ञप्ति करने लगा- आप प्रसन्न होकर एक अधिक मात्रा दें, जिससे मैं पालित्त होऊँ ।

उसके विज्ञान से प्रसन्न हुए गुरु ने क्रम से पादलेप विद्या के साथ उसको पादलिस नामसे सूरि पद से विभूषित किया । स्वयं ही विहार करते हुए खेटकपुर में आये । वहाँ उन्होंने जीवाजीव उत्पत्ति प्राभृत, निमित्त प्राभृत, विद्या प्राभृत और सिद्धि प्राभृत, इन चारों को प्राप्त की । सूरि उस विद्या से प्रति-दिन पाँच तीर्थों में जिनों को नमस्कार कर पश्चात् भोजन करते थे ।

एक बार सूरिश ढंकपुर में गये । वहाँ पर उन्होंने बहुत जनों

को वश किया । वहाँ नागार्जुन नामक योगी विद्या आम्नाय को ग्रहण करने की इच्छा से श्रावक होकर गुरु-पादों की सेवा करने लगा । नित्य गुरु-पादों को वंदन करते हुए उसने गंध से एक सो और सात औषधियों को जानी । उनको मिलाकर और पानी से दोनों पादों का लेप कर आकाश में कितनी ही दूर जाकर जहाँ-तहाँ भूमि के ऊपर गिरता था । एक बार गुरु ने घाव के समूहों से युक्त योगी से पूछा कि- हे भद्र ! तेरे देह में यह कौन-सा घाव का समूह है ? उसने भी जिस प्रकार से किया था, वह सब ही कहा । उसकी बुद्धि से रंजित हुए गुरु उसे निम्न लेप बताकर उसे श्रावक बना कर चले गये ।

जो तुम्हें आकाश में उड़ने की इच्छा है तो तुम साईठ चावलवाले दूध से इन औषधियों का लेप करो ।

इस गुरु के द्वारा कहे हुए प्रयोग से पूर्ण मनोरथवाले उसने एक दिन बहुत द्रव्य से उपार्जित स्वर्ण-सिद्धि रस से भरी हुई कूपिका को स्व-शिष्य के हाथ से गुरु को भेंट की । गुरु ने भी उससे कहा कि- हम तृण-स्वर्ण में समान इच्छावाले हैं । हम अनर्थ के हेतु इसकी इच्छा नहीं करते हैं । इस प्रकार कहकर और राख मँगाकर उन्होंने उस रस को वहाँ डाला । पुनः उस कूपिका को निज मूत्र से भरकर उसे वापिस दिया । उसने भी योगीन्द्र को नमस्कार कर गुरु द्वारा कीये वृत्तान्त का निवेदन किया । क्रोध से लाल हुए योगी ने सोचा कि- अहो ! यें अविवेकी हैं, इस प्रकार से कहकर उस कूपिका को शिला-तल के ऊपर फोड़ दी । क्षणान्तर में ही वह शिला स्वर्णमयी हुई । उसे देखकर वह कौतुक सहित विचारने लगा-

मैंने हजार क्लेशों से रस-सिद्धि की है । वह स्वभाव से ही इनके स्व-शरीर में ही रही हुई है । तब नागार्जुन ने कल्पवृक्ष के समान उन श्रीगुरु की वंदना, स्तवन आदियों के द्वारा चिर समय तक

आराधना की ।

इस ओर शालिवाहन राजा की सभा में चार ऋषि लाख-श्लोक प्रमित चार ग्रन्थों को हाथ में लेकर और आकर के कहा कि- हे राजन् ! हमारें ग्रन्थों को सुनो ! राजा ने कहा- अत्यंत बड़े ग्रन्थों को सुनने के लिए मैं समर्थ नहीं हूँ । उन्होंने ग्रन्थों को अर्ध कर कहा । तो भी सुनने के लिए राजा को असमर्थ जानकर निकाल-निकाल करके एक-एक श्लोक को किया । जब राजा उसे भी नहीं सुनता हैं तब आत्रेय ऋषि ने चिकित्सा शास्त्र के रहस्यमय एक पद को किया । और वह यह हैं- आत्रेय ने जीर्ण होने पर भोजन । द्वितीय ऋषि ने द्वितीय पाद कहा- कपिल ने प्राणियों की दया । तृतीय ने नीतिशास्त्र के रहस्य को कहा- बृहस्पति ने अविश्वास । चतुर्थ ने काम तत्त्व को कहा- पञ्चाल ने स्त्रियों में मार्दव को । इस प्रकार चार लाख श्लोकों के रहस्य को एक ही श्लोक से किया गया । उसे सुनकर और उनका सम्मान कर राजा पुनः पुनः प्रशंसा करने लगा । तब राजा की पत्नी भोगवती ने कहा कि-

मद के समूह से दुष्प्रेक्ष्य वादींद्र रूपी गज-समूह तब तक ही गर्जना करता हैं, जब तक सिंह से पाद-लिप्तक उल्लसित नहीं होता हैं ।

राजा ने उसे सुनकर स्व-प्रधान को भेजकर सूरि को बुलाया । इस ओर उस नगरी के सभी विद्वान् मिलकर घी से भरे हुए एक थाल को सूरि के संमुख भेजा । आचार्य ने घी के मध्य में एक सूई डालकर उसे वैसे ही वापिस लौटाया । राजा ने पंडितों से उसका भाव पूछा । तब उन्होंने कहा कि- यह नगर विद्वानों से पूर्ण हैं, जैसे कि घी से थाल पूर्ण हैं, यही हमारा भाव था । इस आचार्य का यह भाव था- जैसे तीक्ष्णता से सूई ने प्रवेश किया है, वैसे ही मैं भी प्रवेश करूँगा । उसे

सुनकर हर्ष सहित राजा पंडितों के साथ महोत्सव पूर्वक मुनि के संमुख गया। गुरु नगर में लाये गये। वहाँ गुरु ने निर्वाण कलिका प्रश्न प्रकाश आदि शास्त्रों का निर्माण किया। राजा जैन हुआ। सभी ब्राह्मण स्व मद को छोड़कर गुरु चरण रूपी कमल में भ्रमर के समान हुए। सूरि शासन की प्रभावना कर श्रीशत्रुंजय के ऊपर दाँतों की संख्या के उपवास के अनशन से (अर्थात् बत्तीस उपवास) स्वर्ग को प्राप्त किया।

कान रूपी पात्र से पीने योग्य और अमृत से भरपूर पादलिस मुनिराज की यह कथा है, जिन अंजन आदि कांतिमंत गुणों से शासन की महिमा की थी।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में तैंतीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।



चौतीसवाँ व्याख्यान

अब कवि प्रभावक का स्वरूप कहा जाता है-

यदि अति-अद्भुत कवित्व की कृति में शक्ति हो तो वह सम्यक्त्व में कवि नामक आठवाँ प्रभावक कहा गया है।

दो प्रकार से कवि हैं। सद्भूतार्थ कवि और असद्भूतार्थ कवि। वहाँ प्रथम जिन-मत रहस्य के जानपने से सद्भूतार्थ शास्त्र की संरचना करनेवाले, जैसे कि - श्रीहेमचन्द्रसूरि त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र और व्याकरण आदि तीन करोड़ ग्रन्थों के कर्त्ता हैं। तथा उमास्वाति वाचक पुंगव तत्त्वार्थ आदि पाँच सो प्रकरणों के प्रणेता है। तथा वादी देवसूरि चौरासी हजार श्लोक प्रमाण स्याद्वाद रत्नाकर के कर्त्ता हैं। श्रीहरिभद्रसूरि चौदह सो और चुम्मालीस ग्रन्थों

के प्रणेता हैं । यह उनका उदाहरण है-

चित्रकूट में हरिभद्र ब्राह्मण उदर के ऊपर लोह के पट्टे को धारण किया हुआ और चौदह विद्याओं में कुशल सर्व शास्त्रार्थ को जानता था । उसने प्रतिज्ञा की थी कि- जिसका पढ़ा हुआ मैं नहीं जानूँगा, उसका मैं शिष्य बनूँगा । एक बार नगरी के मध्य में जाते हुए याकिनी नामक साध्वी के मुख से इस गाथा को सुनी -

दो चक्रवर्ती, पाँच वासुदेव, पाँच चक्रवर्ती, वासुदेव और चक्रवर्ती । वासुदेव, चक्रवर्ती, वासुदेव और दो चक्रवर्ती, वासुदेव और चक्रवर्ती ।

उसे सुनकर और साध्वी के आगे जाकर उसने कहा कि- हे माता ! यह क्या चक-चकाट कर रही हो ? उसने कहा- निश्चय से नूतन चकचकाट करता है । यह सुनकर उसने सोचा कि- अहो ! इसने मुझे उत्तर से जीत लिया है । तब उसने कहा कि- हे माता ! गाथा का अर्थ कहो । साध्वी ने कहा- मेरे गुरु कहेंगे । उसने कहा- वैं कहाँ हैं ? तब साध्वी उसे चैत्य में ले गयी । वहाँ देव को देखकर उसने कहा कि-

हे भगवन् ! आपका शरीर ही वीतरागता को कह रहा है । कोटर में अग्नि के रहते वृक्ष हरा नहीं होता ।

इस प्रकार से स्तुति कर गुरु के समीप में गया । सूरि को नमस्कार कर गाथार्थ पूछा । गुरु ने उसका अर्थ कहा । उसे सुनकर पूर्व प्रतिज्ञा से बद्ध उसने दीक्षा ली । जैन ग्रन्थों के अभ्यास में अत्यंत दृढ़ दर्शनी हुए । गुरु ने उनको सूरि पद पर स्थापित किया । उन्होंने स्वयं ही आवश्यक निर्युक्ति की बृहद् वृत्ति में चक्की इत्यादि गाथा का विवरण किया हैं ।

एक बार हंस-परमहंस सूरि से शास्त्रों को पढ़कर कहने लगे

कि- हे भगवन् ! बौद्ध शास्त्रों के रहस्य को ग्रहण कर बौद्ध जीते जाएँ, इस लिए हम दोनों वहाँ पर जाएँगे । सूरि ने कहा- तुम दोनों वेषान्तर कर जाओ । उन दोनों ने वैसा कर और वहाँ जाकर बौद्ध शास्त्र के मर्मज्ञ हुए । एक बार बौद्ध ने उनको क्रिया से श्वेतांबर जानकर उन दोनों की पहचान के लिए छात्रों के पढ़ने के लिए चढ़ने की सीढ़ी की सोपान पर खड़ी से अर्हत्-बिंब को चित्रित किया । उतरने के समय सभी बिंब के ऊपर पैर देकर नीचे उतरें । प्रतिमा के कंठ में तीन रेखाओं का चिह्न कर हंस और परमहंस नीचे उतरें । उससे भय से युक्त वे दोनों पुस्तक को लेकर भाग गये । बौद्ध ने राजा के सैन्य को उन दोनों के पीछे भेजा । हंस ने बहुत सैन्य को मारा । बहुत होकर सैन्य ने हंस को मारा । चित्रकूट के समीप में भागकर सोये हुए दूसरे परमहंस को मार दिया । गुरु ने उस वृत्तांत को जानकर क्रोध सहित तपे हुए तेलवाले कड़ह में होमने के लिए चौदह सो और चुम्मालीस बौद्धों को मंत्र-शक्ति से आकर्षित किया । उनके गुरु ने इस वृत्तांत को जान लिया । गुरु ने उनके प्रतिबोध के लिए सूरि के समीप में दो साधु भेजे । उन्होंने सूरि को ये गाथाये दी, जैसे कि-

गुणसेन-अग्निशर्मा और पिता-पुत्र सिंह-आनन्द । माता-पुत्र जालिनी-शिखी और पति-भार्या धन-धनश्री । सहोदर जय-विजय और पति-भार्या धरण-लक्ष्मी । सातवें जन्म में पिता और चाचा के पुत्र सेण-विसेण । गुणचंद्र-वाणव्यंतर और नव में भव में समरादित्य-गिरिसेन । एक का मोक्ष और दूसरे का अनंत संसार । जैसे लोक में कुशास्त्र रूपी पवन से आहत कषाय रूपी अग्नि जाज्वल्यमान होती है, जिनवचन रूपी अमृत से सिंचित आप भी प्रज्वलित हो, यह योग्य नहीं हैं । यह सुनकर सूरि पाप से निवृत्त हुए । श्रीहरिभद्रसूरि ने चौदह सो और चुम्मालीस ग्रन्थों को प्रायश्चित्त के

रूप में स्वीकार किया ।

इस ओर मालपुर में जैन धन श्रेष्ठी हैं । द्युतकारों ने उसके सिद्ध नामक पुत्र को खाई में डाला । पिता ने उनके देने योग्य धन को देकर पुत्र को छुड़ाया । उसे सर्व कार्यों का अध्यक्ष कर विवाहित किया । सिद्ध श्रेष्ठी कार्यों को समाप्त कर देर रात होने पर घर पर जाता था । एक बार निद्रित उसकी पत्नी और माता ने देर रात होने पर द्वार पर आये हुए उसे कहा कि- जहाँ पर अब द्वार उद्घाटित हो, वहाँ पर जाओ । यह सुनकर वह नगरी में भ्रमण करते हुए सूरि के उपाश्रय में गया । वहाँ पर उसने दीक्षा ली । वहाँ सूरि के पास में जैन शास्त्रों को पढ़कर विशेष से तर्कों को ग्रहण करने की इच्छावाले उनको बौद्ध के समीप में जाते हुए हरिभद्र सूरि ने कहा कि- यदि बौद्धों के संग से आपके मन का परावर्तन हो जाय तो आप यहाँ आकर हमारे वेष को देना । उन्होंने यह स्वीकार किया । पश्चात् वे वेष को देने के लिए सूरि के पास आएँ । सूरि ने युक्ति से उनको धर्म में स्थिर किया । तब वे बौद्ध वेष के समीप में जाकर पढ़ने लगे । वहाँ बौद्धों ने कुतर्क से उनके मन को परावर्तित किया । वे बौद्ध वेष को देने के लिए उनके समीप में गये । वहाँ बौद्धों के द्वारा विपरीत ग्रहण कराएँ हुए वे सूरि के समीप में आये । इस प्रकार से इक्कीस बार होने पर गुरु ने सोचा कि- इस वराक की कुदृष्टि से दुर्गति न हो, ऐसा सोचकर सूरि ने तर्क सहित ललित-विस्तरा की रचना कर उनको दी । उससे संतुष्ट हुए और निश्चल मनवाले उन्होंने कहा-

उन प्रवर सूरि हरिभद्र को नमस्कार हो, जिन्होंने मेरे लिए ललित-विस्तरा की वृत्ति का निर्माण किया । तत्पश्चात् उन सिद्धर्षि ने सोलह हजार प्रमाणवाले उपमितिभव प्रपंच कथा की रचना की । क्रम से सूरि स्वर्ग को प्राप्त हुए ।

हे गुरुदेव ! कुदेव को छोड़कर कल्पित शास्त्र रूपी गृह का निर्माण कराने में पूज्य श्रीहरिभद्रसूरि निर्माता के समान हैं । वे पूज्य हमें कविताओं में शक्ति दें ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में चौतिसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



पैतीसवाँ व्याख्यान

अब द्वितीय अतिशय से युक्त कवि की स्तुति करते हैं-

जो अतिशय से युक्त काव्यों के भाषण में कुशल होते हैं, वे इस शासन में विस्मयकृत् प्रभावक जानें जाये ।

इस विषय में यह मानतुङ्गसूरि का प्रबंध है-

धारा में मयूर और बाण नामक बहनोई और साला पंडित दोनों परस्पर स्पर्धा करते हुए अपनी विद्वत्ता से राज-सभा में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी । कभी बाण बहन से मिलने के लिए उसके घर में आया । रात्रि के समय में द्वार पर सोया । बहनोई ने पत्नी से मान त्याग के लिए जो कहा था, उसे बाण ने सुन लिया । जैसे कि-

रात्रि प्रायः कर व्यतीत हो चुकी है, शीर्ण हुए के समान चन्द्र कृश-शरीरवाला हुआ है, निद्रा वश को प्राप्त हुआ घूर्णित होते हुए के समान यह दीपक भी हिल रहा है, प्रणाम से अंत होनेवाला मान हैं, अहो ! फिर भी तुम क्रोध को नहीं छोड़ रही हो ।

इस प्रकार से सुनकर द्वार पर रहे हुए बाण ने कहा कि-

स्तन के अत्यंत सामीप्य से हे चंडी । तेरा हृदय भी कठिन है ।

इस प्रकार से भाई के मुख से चौथे पद को सुनकर क्रोधित हुई और लज्जा से युक्त उसने भाई को शाप दिया कि- तुम कुष्ठी बनो ।

पतिव्रतापने से उसके शरीर में कुष्ठ का संक्रान्त हुआ ।

प्रातः राज-सभा में दोनों के मिलने पर मयूर ने कुष्ठी इस प्रकार से उसे कहा । उसे सुनकर लज्जा से युक्त बाण उठकर और नगर की सीमा में स्तंभ का आरोपण कर और नीचे खदिर-अंगार से पूर्ण कुंड कर स्तंभ के आगे रहे हुए छींके के ऊपर चढ़कर सूर्य की स्तुति की । प्रति काव्य के अंत में छुरि से छींके की एक-एक रस्सी को छेदते हुए पाँच काव्यों से पाँच रस्सीयों को छेद डालने पर बाण छींके के आगे विलग्न हुआ । छट्टे काव्य में प्रत्यक्ष होकर सूर्य ने उसके देह को स्वर्ण वर्णवाला किया ।

द्वितीय दिवस राज-सभा में आडंबर सहित आकर बाण ने मयूर से कहा कि- हे पक्षी ! गरुड़ के आगे तुझ बंदर की कौन-सी शक्ति है ? यदि है तो तुम भी ऐसे आश्चर्य को प्रकट करो । उसने कहा-रोग से रहित को चिकित्सक से क्या काम ? तो भी तेरे वचन को कुंठित करने के लिए मैं तैयार हूँ । इस प्रकार से कहकर छुरि से अपने दोनों हाथ और पैरों का विदारण कर तथा चंडी-स्तोत्र को कहते हुए पूर्व काव्य के छट्टे अक्षर से प्रसन्न की हुई चंडीका ने हाथ पैर के साथ विशेष रूप से देह को वज्र के समान किया । तब राजा ने उसका अति सन्मान किया ।

इस ओर जैन-द्वेषियों ने राजा से कहा कि- यदि कोई जैन ऐसा प्रभाव रूपी विभववाला हो, तो श्वेतांबर स्व-देश में रखे जाय नहीं तो निकाले जाय । उसके बाद राजा ने कहा कि- मानतुंग-आचार्य स्व-देव के किसी अतिशय को दीखाएँ । वें आचार्य चुम्मालीस बेडियो से स्व-अंग को नियंत्रित कराकर और चुम्मालीस कमरे में स्थित होकर सर्वत्र ही लोह-ताले दिलवाएँ । भक्तामर के एक-एक काव्य से एक-एक जंजीर आदि क्रम से तूटने लगें । चरम काव्य में

सूरि ने राज-सभा को अलंकृत किया । तब शासन की महा-प्रभावना हुई थी ।

इस प्रकार से मानतुङ्गसूरि का उदाहरण हुआ ।

अब अन्य बप्पभट्टिसूरि का प्रबन्ध कहा जाता है-

मोढ़र में श्रीसिद्धसेनसूरि वीर भगवान् को नमस्कार करने के लिए आये हुए थे । छह वर्षीय एक बालक उनके समीप में आया । सूरि के द्वारा पूछने पर उस बालक ने अपने स्वरूप को कहा कि- मैं पञ्चाल देश में दुम्बाधि वास्तव्य बप्प क्षत्रिय और भट्टी पत्नी का पुत्र सूरपाल नामक हूँ ।

एक दिवस शत्रुओं को मारने के लिए तैयार होते हुए मुझे निषेध कर पिता स्वयं शत्रुओं को मारने लगें । बाद में माता को पूछे बिना मैं यहाँ पर आ गया । उसे सुनकर-इसका मानुष्य तेज नहीं है किंतु यह कोई देव का अंश है, इस प्रकार से सोचकर गुरु ने कहा कि- हे वत्स ! तुम हमारे पास में रहो । वहाँ पर स्थित हुआ वह बालक प्रतिदिन हजार अनुष्ठुपों को पढ़ने लगा । संतुष्ट हुए गुरु ने उसके माता-पिता से प्रार्थना कर उस बालक को दीक्षित किया । तब माता-पिता की प्रार्थना से उसका बप्पभट्टि नाम किया ।

एक दिन गुरु प्रदत्त देवी मंत्र के जाप से सरस्वती उसे वर देकर तिरोहित हुई । एक दिन गोपगिरा का स्वामी ऐसे यशोवर्म राजा का पुत्र आम पिता की शिक्षा-वश से क्रोधित हुआ वहाँ देव-कुल में रहे हुए बप्पभट्टि के समीप में आया । वहाँ देवकुल में आम ने बप्पभट्टि के समीप में प्रशस्ति काव्यों को पढ़ें । उसके साथ उपाश्रय में आया । गुरु के द्वारा पूछने पर उसने अपने संबंध को कहा और खड़ी से स्व नाम आम का ज्ञापन किया । तब गुरु की आज्ञा से वह बप्पभट्टि के साथ में शास्त्रों को पढ़ने लगा ।

एक दिन आम ने मित्र बप्पभट्टि से कहा- यदि मैं राज्य को प्राप्त करूँगा तो मैं उसे तुझे दूँगा । पश्चात् कितने ही काल के बाद राज्य को प्राप्त कर आम ने बप्पभट्टि को वहाँ पर बुलाया । राजा ने उनको बैठने के लिए सिंहासन दिखाया, तब मुनि ने कहा- सूरि पद होने पर हमें सिंहासन कल्प्य हैं । तब राजा ने गुरु के समीप में मुनि को सूरि पद दिलवाया ।

एक बार राजा ने सूरि से कहा कि- हे स्वामी ! राज्य को ग्रहण करो । सूरि ने कहा कि- हे राजन् ! हम देह के ऊपर भी निःसंग है, राज्य से क्या करें ? यह सुनकर आश्चर्यचकित हुए राजा ने गुरु के उपदेश से एक सो और आठ हाथ ऊँचे मंदिर को बनवाया और उस मंदिर में जात्य-सुवर्ण और अठारह भार मित श्रीवीर भगवान की प्रतिमा को स्थापित की ।

एक दिन अंतःपुर में मुझाँई मुखवाली पत्नी को देखकर राजा ने सूरि से इस प्रकार से समस्या कही- आज भी वह कमल-मुखी अपने प्रमाद से पीड़ित हो रही हैं । सिद्धसारस्वत सूरि ने कहा- जिससे कि पूर्व में जागे हुए तुमने उसके अंग को ढंका था । पुनः पद-पद के ऊपर मन्द-मन्द से संचार करती हुई उसे देखकर राजा ने कहा कि- किस कारण से चलती हुई बाला पद-पद पर मुख-भंग को कर रही हैं ? सूरि ने कहा कि- निश्चय ही रमण प्रदेश में मेखला की नख-पंक्ति स्पर्श कर रही हैं । यह सुनकर राजा विकृत-मुख और निरादरवाला हुआ । गूढ़ कोपवाले राजा को जानकर सूरि ने स्व-आश्रय के कपाट के ऊपर काव्य को लिखकर विहार किया । वह काव्य यह है-

हे आम ! तेरा कल्याण हो, मुझ रोहण-पर्वत से च्युत हुए ये कैसे होंगे ? इस प्रकार से किसी भी प्रकार से स्वप्न में भी विचार मत

करना ? यदि हम तुझ श्रीमान् के मणि हैं और यदि तुमसे प्रतिष्ठा को प्राप्त की हैं, तब कौन शृंगार-परायण राजा हमको मस्तक पर धारण नहीं करेंगे ?

श्री गुरु ने गौड़देश को प्राप्त किया । वहाँ पर धर्म राजा था । जब तक आम राजा स्वयं ही बुलाने के लिए नहीं आता है, तब तक विहार नहीं करूँगा, इस प्रकार से प्रतिज्ञा कर सूरि राजा के आग्रह से स्थित हुए । अब आम उस काव्य को देखकर दुःखी हुआ ।

एक बार राजा ने वन में से काले सर्प के मुख को दृढ़ मुड्डि के मध्य में कर और वस्त्र से ढंक्कर-शस्त्र, शास्त्र, कृषि और विद्या के बिना जो जिससे जीवित रहता है । इस प्रकार की समस्या को सभा में पंडितों के आगे पूछी । राजा के अभिप्राय से कोई भी इस समस्या को पूर्ण नहीं कर सका । राजा ने पटह बजवाया कि- जो मेरे अभिप्राय से इसे पूर्ण करेगा, उसे मैं लाख स्वर्ण टंक दूँगा । तब एक द्यूतकार ने वहाँ गौड़देश में जाकर सूरि से पूछा । सूरि ने कहा कि- काले सर्प के मुख के समान अच्छी प्रकार से ग्रहण करना चाहिए । उसने आम के आगे संपूर्ण श्लोक को कहा । राजा ने उस द्यूतकार से आग्रह से पूछा कि- किसने इस समस्या को पूर्ण किया है ? तब उसने सत्य कहा । उसे सुनकर पश्चात्ताप से युक्त राजा ने गुरु को बुलाने के लिए प्रधानों को भेजा और यह सन्देश दिया कि- मैंने छाया के लिए सिर के ऊपर धारण कीये थे, लेकिन वें पत्र भी भूमि के ऊपर गिर पड़े हैं । पत्रों का यह पतन का स्वभाव है, श्रेष्ठ वृक्ष क्या करें ? इत्यादि प्रधानों के मुख से सुनकर गुरु ने कहा कि- तुम राजा को यह सुनाना-

यदि हमारे साथ तुम्हारा कार्य हो तो शीघ्र से धर्म राजा की सभा में गुप्त रीति से आकर स्वयं ही पूछो । जिससे कि हम प्रतिज्ञा के निर्वाह होने पर तेरे समीप में आये । इस प्रकार की शिक्षा के साथ

पूज्य ने प्रधानों को भेजा । गुरु के द्वारा कहे हुए को उन मंत्रियों ने कान्यकुब्ज के राजा से कहा । उसे सुनकर राजा उत्साह से युक्त हुआ ऊँट के ऊपर सवार होकर उस नगर को प्राप्त किया । प्रातः काल में धर्म राजा आदि से संकुलित सभा में स्थगीधर रूपधारी आम बहुत मनुष्यों से युक्त आता हुआ देखा गया । तब सूरि ने धर्मराजा से कहा- ये आम राजा के पुरुष निश्चय से हमें बुलाने के लिए आ रहे हैं । जब वह आगे आया तब सूरिश ने कहा कि- हम आ रहे हैं । सन्मानित कीये हुए राजा के आसन के ऊपर बैठ जाने पर गुरु ने विज्ञप्ति से युक्त दूत को धर्मराजा को दिखाया । धर्म ने दूत से पूछा- तेरा राजा कैसा रूपवाला है ? उसने कहा - जो यह स्थगीधर है, उसके समान हैं ।

बिजोरे को हाथ में धारण कीये हुए दूत से सूरि ने पूछा कि तेरे हाथ में क्या है ? उसने स्पष्ट कहा कि- बिजोरा है । तुवेर के पत्र को दिखाकर तथा स्थगीधर को आगे कर दूत ने उन सूरि से कहा कि यह तुवेर का पत्र है । इस प्रकार से श्लेष से अर्थ कहने पर भी धर्म ने ऋजुपने से उसे नहीं जाना । पश्चात् उठकर राजवेश्या के घर पर आम कंगन देकर रहा । प्रातः उसके घर से निकलकर द्वितीय कंगन राज-द्वार पर छोड़कर चला गया । इस ओर गुरु ने धर्म के आगे कहा कि- हे राजन् ! हमारी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई है, इसलिए हम यहाँ से जायेंगे । कैसे ? इस प्रकार राजा के पूछने पर आम यहाँ पर आया था, इत्यादि स्वरूप जैसे हुआ था वह उससे कहा । उतने में ही वेश्या और द्वारपाल ने राजा के आगे दो कंगन रखे । तब धर्म ने कहा कि- हे गुरु ! मैं वचन के छल से छलित किया गया हूँ । राजा से पूछकर सूरि आम के साथ में गोपशैल में गये ।

एक दिन वहाँ गायक वृन्द आया था । वहाँ एक चाण्डाल की

बाला को वाणी से सुंदर गाती हुई को देखकर मदन ज्वर से पीड़ित हुए आम ने कहा कि-

मुख पूर्ण चन्द्र के समान हैं, होंठ रूपी लता अमृत के समान हैं, दाँत मणि की श्रेणियों के समान हैं, लक्ष्मी के समान कान्ति हैं, हाथी के समान चाल हैं और पारिजात वृक्ष के समान तेरा परिमल हैं। वाणी कामधेनु के समान हैं और वह कटाक्ष लहरी कालकूट छटा के समान हैं, उससे हे चन्द्रमुखी ! क्या देवों ने तुम्हारे लिए क्षीरसमुद्र का मन्थन किया था ?

सूरि ने विचारा कि- महान् पुरुषों को भी कैसा मति-विपर्यास होता है ? तब सभा उठी। राजा ने- मैं चाण्डालिनी के साथ में यहाँ पर रहूँगा, इस प्रकार की बुद्धि से तीन दिनों में नगर के बाहर महल कराया। आम के अभिप्राय को जाननेवाले गुरु ने सोचा कि- यह नरक के हेतु कुमार्ग का सेवन न करे, वैसे मैं करूँ। इस प्रकार की कृपा से बनते हुए महल के भार-पट्ट के ऊपर रात्रि के समय में खड़ी से प्रतिबोध काव्य लिखें, जैसे कि-

हे पानी ! शीतलता नामक गुण तेरा ही हैं, और स्वच्छता भी स्वाभाविकी हैं। हम पवित्रता के बारे में क्या कहें ? क्योंकि तेरे संग से अन्य अपवित्र भी पवित्र होते हैं। इसके अलावा भी तेरा कौन-सा स्तुति-पद हो सकता है ? तुम ही प्राणियों के जीवन हो। यदि तुम नीच-मार्ग से गमन करते हो तो तुझे रोकने के लिए कौन समर्थ हैं ? जिससे लोक में लज्जित हुआ जाता है, जिससे निज कुल-क्रम मलिन किया जाता है, जीव के कंठ-स्थित होने पर भी कुलीनों के द्वारा वह नहीं करना चाहिए। इत्यादि।

प्रातः काल में आम राजा भी उस महल को देखने के लिए गया। उन पद्यों को देखा और विचार किया कि- मेरे मित्र के बिना

अन्य कौन इस प्रकार से समझाएँ। अब मैं अपना मुख कैसे दिखाऊँ ? कलंक से युक्त मेरे जन्म को धिक्कार हो। इस प्रकार से सोचकर जब वह अग्नि में प्रवेश करने लगा, तब राज-लोगों की प्रार्थना से वहीं पर आकर गुरु ने कहा कि- हे राजन् ! चित्त से बाँधा हुआ कर्म चित्त से ही छोड़ा जाता है। अथवा स्मृति आदि के जानकारों से पूछो। स्मृति आदि में भी पाप त्याग के उपाय कहे हुए हैं। राजा ने स्मृति के जानकारों को आह्वानित किया। उन्होंने कहा कि-

उसके समान वर्ण और रूपवाली तथा अग्नि में धमी हुई लोह की पुतली को आलिंगन करता हुआ पुरुष शीघ्र से चांडाली से संभव पाप से छूट जाता है।

यह सुनकर राजा उसके आलिंगन के लिए सज्ज हुआ। तब गुरु ने इस प्रकार से कहा कि- हे राजन् ! तेरे द्वारा संकल्प से किया हुआ पाप पश्चात्ताप से समाप्त हुआ है। पतंगियों के उचित उद्यम को छोड़ दो और चिर समय तक जैन-धर्म करो। इस प्रकार से राजा को सान्त्वना देकर सूरि स्व-आश्रय में आये।

एक दिन राजा ने सूरि से पूछा कि- हे भगवन् ! मेरा पूर्व भव कौन-सा है ? प्रातः सरस्वती के वचन से गुरु ने उससे कहा कि- हे राजन् ! सुनो ! तुम कालिंजर-पर्वत के तट के ऊपर साल वृक्ष के नीचे भाग में उपवास के अंतराल में भोजन करनेवाले तपस्वी थे। डेढ़ सो वर्ष घोर तप से तपकर आयु के प्रान्त में राजा हुए हो। आज भी उस वृक्ष के नीचे तेरी जटाएँ हैं। यह सुनकर राजा ने जटाएँ मँगायी। उसे देखकर विश्वास के उत्पन्न होने से परम-आर्हत हुआ। गुरु के उपदेश से बड़े विस्तार से सिद्धगिरि की यात्रा कर दिगंबरों के द्वारा ग्रहण कीये हुए गिरनार तीर्थ को वापिस लिया। क्रम से राज्य का पालन कर नमस्कार आराधना में लीन उसने उत्तम अर्थ को साधा। कवियों की

सभा में सूर्य सदृश सूरि ने भी स्वर्ग को अलंकृत किया । विशेष से यह संबंध पूर्व सूरियों के द्वारा कीये हुए चतुर्विंशति प्रबन्ध प्रकरण से जाने । प्रभावक चरित्र में भी विस्तार पूर्वक कथानक है ।

दुर्बोध्य आम राजा को प्रतिबोधित कर, कवित्व आदि गुणों से ब्राह्मण नीचे कीये गये थे । चतुरों में चक्रवर्ती सदृश बप्पभट्टिसूरि-राज ने उन्नति कर स्वर्ग के सुख को प्राप्त किया था ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में पैंतीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



छत्तीसवाँ व्याख्यान

अब पाँच भूषणों के वक्तव्यता में आद्य भूषण लिखा जाता

है-

धर्म के अंग इनके द्वारा भूषित कीये जाते हैं, इसलिए भूषण कहें जाते हैं । वहाँ देव आदि से अक्षोभ्यत्व, वह आद्य स्थैर्य-भूषण हैं ।

इस विषय में सुलसा चरित्र का कीर्तन किया जाता है-

सुलसा ने ऐसे सम्यग् दर्शन को प्राप्त किया था, जिससे प्रभु ने भी उसे प्रमाण पूर्वक प्रतिष्ठा को दी थी । जैसे हर के मस्तक ऊपर चन्द्र-कला, केतकी-माला और गंगा तीनों ही शोभते हैं लेकिन नैर्मल्यता से चन्द्र-कला और केतकी माला गंगा की तुलना को प्राप्त नहीं करते हैं । वैसे सुलसा जैसी दर्शन निर्मलता दूसरों में नहीं ।

चार वणों के अनेक जनों से भरे हुए और श्रेष्ठियों से विराजित रम्य राजगृह में श्रेणिक राज्य कर रहा है । वहाँ पर नाग सारथि की प्रिया सुलसा थी । एक दिन अन्यो के पुत्रों को देखकर शोक सहित

हुए पति को देखकर सुलसा ने कहा कि- हे स्वामी ! आप खेद मत करो । धर्म से हम दोनों का इच्छित फलित होगा । उसके बाद वह तीनों सन्ध्याओं में जिनेश्वर की पूजा करने लगी । ब्रह्मचर्य से आरंभिल करने लगी ।

इस ओर इन्द्र से उसके सत्त्व-प्रशंसा के वाक्य को सुनकर सेना के स्वामी हरिणोगमेषी देव दो साधुओं का रूप कर और आकर के सुलसा से कहा कि- हे श्राविके ! तुम ग्लान की चिकित्सा के लिए लक्षपाक तैल दो । वह आनंदित हुई अंदर प्रवेश कर जब तैल कुंभ को उपहार देने लगी, तब देव ने उसे भूमि के ऊपर गिरा दिया । इस प्रकार से उसने दिव्य महिमा से सात कलशों को तोड़ दीये । फिर भी सुलसा के अभंगुर भाव को देखकर और प्रकट होकर देव ने कहा कि- हे भद्रे ! मैं देव हूँ और तेरी परीक्षा करने के लिए आया था । मैं संतुष्ट हुआ हूँ । अब तुम किसी अर्थ की प्रार्थना करो । सुलसा ने कहा कि- हे देव ! यदि तुम मुझ पर संतुष्ट हुए हो तो मुझे पुत्र दो । देव ने भी उसे हर्ष से बत्तीस गुटिकाएँ दी ।

तेरे द्वारा एक-एक गुटिका खानी चाहिए, इस प्रकार से कहकर और घड़ों को प्रकटित कर देव स्वर्ग में चला गया । ऋतुकाल में बहुत गर्भ के दुःख और सूति-कर्म से भय-भीत उस सुलसा ने बत्तीस लक्षणोंवाला एक ही पुत्र हो इस प्रकार से सोचकर समस्त ही गुटिकाओं का भक्षण किया । क्रम से बहुत गर्भ भार को धारण करने से व्यथा को प्राप्त हुई उसने कायोत्सर्ग से उस देव का स्मरण किया । तब उस देव ने पीड़ा का संहरण कर कहा कि- तूने अकार्य किया है उससे तुझे एक ही साथ बत्तीस पुत्र होंगे । परंतु समान आयुष्यता के वश से ये बत्तीस पुत्र भी समकाल में विनाश प्राप्त होंगे । भवितव्यता दुर्लभ्य है । जैसे कि-

यदि राज्य के एक योग्य और गुणों से सुंदर रामभद्र भी वन में गया था और बहुत पत्नीयोंवाले विद्याधर श्रीरावण ने भी सीता का अपहरण किया था ।

इस प्रकार से कहकर देव चला गया । अब काल पूर्ण हो जाने पर सुलसा ने बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया । नाग ने उनका जन्मोत्सव किया । क्रम से उन्होंने यौवन को प्राप्त किया और राजा के सेवक हुए ।

इस ओर श्रेणिक तापसी के द्वारा लाएँ हुए और चित्र में स्थित चेटक की पुत्री सुज्येष्ठा के रूप को देखकर उसे स्वीकार करने की इच्छावाला हुआ । तब अभय सुगंधि द्रव्यों के विक्रेता के वेष से वहाँ जाकर राजा के अंतःपुर के समीप में दूकान को स्थापित की । जब सुज्येष्ठा की दासी वहाँ पर वस्तु को ग्रहण करने के लिए आती थी, तब अभय श्रेणिक रूपवाले पट्ट की पूजा करता था । एक दिन दासी ने पूछा-यह किसका रूप हैं ? अभय ने कहा कि- श्रेणिक का हैं । उसने चित्र पट्ट को लेकर सुज्येष्ठा को दिखाया । काम से पीड़ित हुई सुज्येष्ठा ने कहा कि- तुम वैसा करो जिससे कि वह मेरा पति हो । दासी ने अभय के आगे कहा । उसने उस अंतःपुर से पिता के नगर पर्यंत सुरंग को कराकर पिता को ज्ञापन किया कि - आप अमुक दिन होने पर सुरंग के मार्ग से आएँ । राजा के आजाने पर जब सुज्येष्ठा जाने की इच्छावाली हुई तब चेलणा ने भी कहा कि- वह ही मेरे भी स्वामी हो । दोनों भी पुत्रियाँ सुरंग के मार्ग पर आगयी । उनके कितने ही दूर चले जाने पर अपने रत्न-करंडक को ग्रहण करने के लिए उत्सुक हुई सुज्येष्ठा ने कहा कि- हे बहन ! मेरे बिना आगे मत जाना, इस प्रकार से कहकर करंडक को लाने के लिए सुज्येष्ठा चली गयी । इस ओर सुलसा के पुत्रों ने राजा से कहा कि- हे देव ! यहाँ शत्रु के घर में चिर समय तक रहना योग्य नहीं हैं । इस प्रकार उनके द्वारा प्रेरित किया

गया राजा चेलणा को लेकर वापिस जाने लगा ।

सुज्येष्ठा रत्न-करंडक को लेकर आ गयी । वहाँ पर उसने किसी को भी नहीं देखा । तब उसने ऊँचे स्वर में पूत्कार किया कि- चेलणा अपहरण की जा रही हैं । चेटक राजा का सैन्य उसके पीछे गया । उस युद्ध में शत्रु के द्वारा सुलसा का एक पुत्र मार दीये जाने पर अन्य इकतीस पुत्र की भी शीघ्र मृत्यु हुई । राजा ने भी शीघ्र से अपने नगर को प्राप्त कर चेलणा से विवाह किया । अब अपने पुत्रों के अमंगल को सुनकर नाग और सुलसा अत्यंत रोने लगे । तब अभय ने कहा कि-

जैन-मत के अर्थों को जाननेवालों और संसारिक भावना से युक्त आपको भी अविवेकियों के समान शोक-सागर में गिरना योग्य नहीं हैं । कुश के अग्र में रहे हुए जल-बिन्दु के समान, परिपक्व वृक्ष के पत्तों के समूह के समान और जल के बुदबुद के समान प्राणियों का यह देह और जीवन क्षणिक हैं ।

यह सुनकर वे दोनों दम्पती शोक रहित हुए ।

इस ओर चंपा में श्रीवीर भगवान को नमस्कार कर अम्बड़ परिव्राजक राजगृह नगर के प्रति चलने लगा । तब जिनेश्वर ने कहा कि- तुम सुलसा को हमारा धर्मलाभ कहना । वैसे ही कहूँगा इस प्रकार से कहकर और वहाँ आकर उसने सोचा कि- मैं इसके स्थैर्य की परीक्षा करूँ । तब प्रथम दिन गाँव के पूर्व नगर-द्वार में वह वैक्रिय शक्ति से चार मुख और हँस वाहनवाला और अर्धांग से सावित्री को धारण करनेवाला साक्षात् ब्रह्मा हुआ । सुलसा के बिना सभी नगर वासी उसे नमस्कार करने के लिए आये । द्वितीय दिन वृषभवाहन और पार्वती से मंडित अर्धांगवाला, भस्म से युक्त शरीरवाला शिव हुआ । तृतीय दिन गरुड़ के ऊपर चढ़ा हुआ, चार भुजाओंवाला और

सुंदर स्त्रियों से घेरा हुआ विष्णु हुआ । चौथे दिन समवसरण में स्थित तीर्थंकर का रूप कर चौथे नगर के द्वार में रहा । फिर भी सुलसा नमस्कार करने के लिए नहीं आयी । तब उसे बुलाने के लिए किसी पुरुष को भेजा । सुलसा ने उस पुरुष से कहा कि- हे भद्र ! यह जिनेश्वर नहीं हैं, कोई कार्पटिक हैं जो पच्चीसवें जिन के नाम से लोगों को ठग रहा हैं । इस प्रकार वह लेश-मात्र भी चलित नहीं हुई । अंबड़ श्रावक के वेष से युक्त उसके गृह में आकर उसके द्वारा बहुत सन्मान किया गया । उससे कहने लगा कि- हे सुलसे ! तुम पुण्यवती हो क्योंकि परमात्मा स्वयं ने ही मेरे मुख से धर्मलाभ दिया हैं । इस प्रकार से सुनकर और उठकर वह भक्ति से प्रभु की स्तुति करने लगी-

हे मोह रूपी मल्ल के बल के मर्दन में वीर, हे पाप रूपी कीचड़ के गमन में निर्मल नीर, हे कर्म रूपी धूल के हरण में एक पवन तुल्य, हे वीर ! हे जिनेश्वर-पति ! तुम जीतो ।

इत्यादि स्तुति करती उस सुलसा की प्रशंसा कर वह स्व-स्थान पर चला गया । वह सुलसा शील गुणों से शोभती हुई धर्म की आराधना कर स्वर्ग में गयी । वहाँ से च्यवकर इसी भरत खंड में भावि चौवीसी में निर्मम नामक पंद्रहवें जिनेश्वर होगी ।

इस प्रकार से श्रीवर्धमान प्रभु से स्थैर्य, औदार्य और महा-अर्थता से प्राप्त हुए और तीनों विश्वों को आश्चर्य देनेवाले, पवित्र ऐसे सुलसा के चरित्र को सुनकर हे भव्य-प्राणियों ! तुम भी उस धर्म में स्थिरत्व को प्रख्याति में ले जाओ जिससे कि सम्यक्त्व से विभूषित हुए मोक्ष रूपी लक्ष्मी के आलिंगन से सुख को जान सको ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में छत्तीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



सैंतीसवाँ व्याख्यान

अब द्वितीय भूषण को कहते हैं-

सदा ही अनेक धर्म कार्य से तीर्थ की उन्नति करें । प्रभावना नामक यह द्वितीय सम्यक्त्व का भूषण है ।

भावार्थ तो देवपाल राजा के प्रबन्ध से जानें-

अचलपुर में सिंह राजा को मान्य जिनदत्त श्रेष्ठी हैं । उसका दास देवपाल हमेशा अरण्य में गाय के समूह को चराता था । एक दिन वर्षाकाल में नदी के तट पर युगादि जिन का सूर्य के समान बिंब को देखा । उसने तृण की कुटीर कर मूर्ति को पुष्पों से पूजित कर और मध्य में निवेशित कर इस प्रकार के नियम को ग्रहण किया कि- प्रति-दिन मैं प्रभु-भक्ति के बिना भोजन नहीं करूँगा । पश्चात् निज-स्थान पर चला गया ।

एक बार वर्षा के आरंभ से नदी-पूर के उत्पन्न होने पर वहाँ जाने में असमर्थ हुआ शोक सहित स्व-गृह में स्थित हुआ । तब श्रेष्ठी ने कहा कि- हे भद्र ! तुम हमारे गृह बिंबों की ही पूजा करो । श्रेष्ठी के वाक्य से जिन-पूजा करने पर भी वह दास भोजन नहीं कर रहा था । आठवें दिन पानी का पूर दूर हो जाने पर प्रातः काल में वह पूजा के लिए गया । वहाँ चैत्य के समीप में भयंकर सिंह को देखकर सियाल के समान उसकी अवगणना कर और देव की पूजा कर उसने कहा कि-

हे स्वामी ! आपके दर्शन के बिना मेरे सात दिन अरण्य वृक्ष के फल की श्रेणि के समान अकृतार्थ हुए हैं ।

इस प्रकार उसके सत्त्व और भक्ति से संतुष्ट हुए देव ने कहा कि- हे भद्र ! इष्ट वर माँगो । देवपाल ने कहा- मुझे राज्य दो । देव ने कहा कि- सातवें दिवस तुझे राज्य मिलेगा, इसमें संशय नहीं है ।

उस अवसर पर निष्पुत्र राजा मरण को प्राप्त हुआ था । देव के द्वारा कहे हुए दिन के हो जाने पर प्रधान आदि कृत पाँच दिव्यों ने उसे राज्य दिया । साम्राज्य के मिलने पर भी उसके दासपने से कोई भी आज्ञा को नहीं मान रहें थे । तब देवपाल ने भी उस देव के समीप में जाकर इस प्रकार से विज्ञप्ति की- मुझे इस राज्य से पर्याप्त हुआ, दासपना ही श्रेष्ठ है । देव ने कहा कि- तुम कुंभकार के पास में मिट्टीमय हाथी को कराकर और उस पर चढ़कर राज-पाटिका में जाओ ।

देवपाल के द्वारा वैसा करने पर दिव्य अनुभाव से मिट्टीमय हाथी गंधहस्ती के समान मार्ग में जाते हुए लोगों को विस्मित करने लगा । तत्पश्चात् सभी ने उसकी आज्ञा को स्वीकार की । राजा ने पूर्व श्रेष्ठी को प्रधान पद पर स्थापित किया । अपने द्वारा कराएँ हुए ऊँचे मंदिर में उस बिंब को स्थापित कर तीनों काल ही जिन-पूजा को करता हुआ जिन-शासन की प्रभावना की । राजा ने पूर्व राजा की पुत्री से विवाह किया ।

एक बार गवाक्ष में स्थित वह काष्ठों को वहन करते हुए किसी वृद्ध मनुष्य को देखकर राजा के आगे मूर्च्छा प्राप्त की । उसने शीत-उपचार से चैतन्य प्राप्त किया । तब उस वृद्ध को बुलाकर उसने राजा के आगे स्व-स्वरूप कहा कि- हे स्वामी ! मैं गत भव में इसी की प्रिया थी । हे राजन् ! इस बिंब की पूजा से इस भव में मैं तेरी प्रिया हुई हूँ । पूर्व भव में मैंने इसे बहुत कहा था, फिर भी इसने धर्म को अंगीकार नहीं किया था । उससे आज भी इसकी ऐसी अवस्था दीख रही हैं । उसे सुनकर वृद्ध भी लेश-मात्र से धर्म में रत हुआ । अब देवपाल ने परमात्मा की पूजा और प्रभावना आदि से तीर्थंकर कर्म बाँधा । प्रान्त में प्रव्रज्या को लेकर स्वर्ग-भागी हुआ ।

रंकमात्र भी वैसे भव में घोड़ें, हाथी और सेना से युक्त राज्य

को प्राप्त कर उस जिन-मत की प्रभावना से देवपाल ने इस प्रकार से तीर्थकर नाम कर्म का अर्जन किया ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में सैंतीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



अडतीसवाँ व्याख्यान

अब तृतीय भूषण कहा जाता है-

जिसे आवश्यक आदि क्रियाओं में कौशल्य हैं, ऐसा यह तीसरा सम्यक्त्व का भूषण आचरण करने योग्य हैं ।

इस विषय में उदायी राजा का प्रबन्ध है-

राजगृह में कोणिक राजा की स्त्री पद्मावती ने नौ मास पूर्ण हो जाने पर पुत्र को जन्म दिया । उस पुत्र का उदायी नाम दिया ।

एक दिन राजा उदायी को बायीं जंघा के मूल में रखकर भोजन करने के लिए बैठा । अर्ध भोजन करने पर उस बालक ने घी की धारा के समान पात्र के अंदर मूत्र की धारा की । इस बालक को मूत्र के निरोध से रोग का संभव न हो, इस प्रकार मानकर राजा ने भी वात्सल्य-वश उसे लेश-मात्र भी नहीं चलाया । मूत्र से संसक्त हुए उस भोजन को हाथ से दूर कर वैसे ही भोजन का आस्वादन लेने लगा । अहो, मोह की प्रबलता ।

स्नेह से मोहित राजा ने उस अवसर पर स्व-माता चेलणा देवी से कहा कि- हे माता ! इस पुत्र के विषय में मेरा जैसा स्नेह है, वैसा स्नेह किसी को भी नहीं हुआ है, नहीं हो रहा है और नहीं होगा । यह सुनकर चेलणा ने भी कहा कि- तेरा स्नेह का उल्लास क्या है और कितना है ? तेरे विषय में जैसा स्नेह तेरे पिता का था, उसका

कोटि-अंश भी तेरे पुत्र में तेरा स्नेह नहीं हैं । हे माता ! कैसे ? इस प्रकार से कोणिक के द्वारा कहने पर उसने कहा कि- हे वत्स ! तेरे गर्भ में रहते तुझे तेरे पिता के आँत के आस्वादन का दोहद हुआ था । अभयकुमार के द्वारा उस दोहद के पूर्ण कीये जाने पर यह पुत्र पिता के अनर्थ का हेतु हैं इस प्रकार से मैंने जन्म मात्र को प्राप्त तुझे निज उद्यान की भूमि के ऊपर परिष्ठापन किया । वहाँ मुर्गे ने पाँख के अग्र से तुझे कनिष्ठ अंगुलि में वींथा । वह कृमि-पात से पीप से गिली हुई । उस क्षण में तेरे पिता उस वृत्तांत को जानकर और मेरा तिरस्कार कर, तुझे वन से लाकर और स्नेह-परवश हुए दूसरे राज-कायों को छोड़कर कैसे भी स्थित नहीं होते तुझे देखकर, तेरी अंगुलि को स्व-मुख में रखकर तब तक स्थित हुए जब तक तुम रोदन से अवस्थित हुए । इस प्रकार से दिन-रात करते हुए वे तेरे पिता मेरे द्वारा निवारण करने पर भी तेरी सेवा से निवृत्त नहीं हुए ।

यह सुनकर पश्चात्ताप उत्पन्न होने से पिता को पिंजरे से छुड़ाने के लिए कोणिक दंड को लेकर जब दौड़ा, तब दंड को ऊँचा कर और यम के समान आते हुए उसे देखकर श्रेणिक राजा अपमृत्यु से भय-भीत हुआ तालपुट विष का आस्वादन कर मरण प्राप्त हुआ । तब कोणिक स्व दुष्ट चेष्टा की निन्दा करता हुआ और पिता के स्नेह का स्मरण करता हुआ अत्यंत विलाप करने लगा । प्रति-दिन महान् दुःख का अनुभव करता हुआ कोणिक चंपानगरी को राजधानी करते हुए मंत्रियों के द्वारा शोक रहित किया गया । क्रम से कोणिक ने दक्षिण भरतार्थ के राजाओं को जीतकर और स्व बल से कृत्रिम चौदह रत्नों को कर, मैं भरत में तेरहवाँ चक्रवर्ती हुआ हूँ इस प्रकार से कहते हुए वैताद्वय पर्वत की तमिस्रा गुफा के कपाट संपुट को दंड से मारा । उससे क्रोधित हुए कृतमाल देव ने ज्वाला से उस राजा को भस्मसात्

किया । उसके दहन हो जाने पर मंत्रियों ने उसके सिंहासन के ऊपर बालक श्रीमान उदायी का अभिषेक किया । पिता के स्नेह को स्मरण करते हुए वह भी शोक सहित रहने लगा । उसके शोक को दूर करने के लिए अन्य राजधानी करने की इच्छावाले मंत्रियों ने निमित्तवेदी और सुतारों को राजक्षेत्र की शुद्धि के लिए प्रस्थापित किया । वें भी उत्कर्ष से युक्त पृथ्वी की गवेषणा करते हुए गंगा तट पर स्थित अर्णिकापुत्र महामुनि की कपाल की भूमि पर पाटली वृक्ष पर स्वयं ही आकर गिरते हुए पतंगियों के स्वाद लेने में लालस मुखवाले तोते को देखकर विचारने लगे कि- जैसे ये पतंगिये तोते के आहार के लिए आ रहे हैं, वैसे ही इस नगर के स्वामी की शत्रुओं की लक्ष्मी अनायास से ही भोग्यता को प्राप्त होंगी, इस प्रकार से विचार कर वहीं पर राजधानी निर्माण की रेखा देकर पाटली वृक्ष के नाम से पाटलीपुर नाम किया । वहाँ श्रीउदायी राजा स्वयं ही आकर के राज्य का पालन करने लगा । स्थान पर ही रहते हुए उसके प्रताप रूपी सूर्य-उदय को सहन करने में असमर्थ हुए वैरी घूकत्व को प्राप्त हुए । वह पृथ्वी के ऊपर दिनो-दिन प्राचीन दान-धर्म का विस्तार करने लगा । अन्य यह भी है कि वह सद्गुरु के चरण समीप में ग्रहण कीये हुए द्वादशव्रत के खंडन के लिए किसी भी प्रकार से प्रवर्तन नहीं करता था । दृढ़ सम्यक्त्वी वह उदायी राजा चारों पवों में भी चतुर्थ करण से और देवगुरु वंदन, छह प्रकार के आवश्यक का आचरण और पौषध करण आदि कृत्यों से आत्मा को पवित्र करता हुआ अंतःपुर में बनाएँ गएँ पौषध-गृह में रात्रि के समय में श्रमण के समान क्षण के लिए विश्राम करता था । इस प्रकार से जिन-शासन की क्रियाओं में वह अत्यंत कौशल्यशाली हुआ ।

एक बार युद्ध-भूमि में मारे हुए एक राजा का पुत्र, अकेला

कहीं पर स्थान को प्राप्त नहीं करता हुआ पिता के वैर निर्यातन के लिए उदायी राजा को मारने की इच्छावाला उज्जयिनी नगर में जाकर अवन्ती राजा की (उज्जयिनी राजा की) सेवा करने लगा। एक बार उस सेवक ने राजा से विज्ञप्ति की कि- हे देव ! यदि श्रीमान् का आदेश हो तो मैं आपके शत्रु उदायी को मार डालूँ। यदि तुम प्रसन्न होकर सहाय कर मेरे पिता के राज्य को दिलाओ। इस प्रकार से उसके वचन को सुनकर राजा हर्षित हुआ। राजा ने उसके वचन को स्वीकार कर और भोजन की सामग्री देकर उसे भेजा। वह राज-पुत्र उदायी का सेवक हुआ। नित्य ही छिद्रों को ढूँढने लगा, परंतु कभी-भी उसने छिद्रों को प्राप्त नहीं किया। हमेशा ही राज-महल में अस्खलित गमन करनेवाले जैन मुनियों को ही देखा था। तब वह उदायी के राज-कुल में प्रवेश करने की इच्छावाला गुरु को वंदन कर विज्ञप्ति करने लगा कि- हे भगवन् ! आप संसार से विरागी मुझे निज दीक्षा दान से अनुग्रह करो। उसके अभिप्राय को नहीं जानते हुए उन महात्मा ने भी उसे दीक्षा दी। तब उसने छोटी तलवार को रजोहरण में छिपाकर माया से बारह वर्ष व्रत पर्याय का पालन किया। प्रधान श्रमणत्व का पालन करते हुए किसी ने भी उसकी भावना को नहीं पहचानी। अच्छी प्रकार से प्रयोग कीये हुए दंभ का ब्रह्मा भी अन्त को प्राप्त नहीं कर सकता।

अस्थिर चित्त और अनन्य मनवाले उसे उस प्रकार के व्रत का पालन करते हुए भी मुद्ग-पर्वत के समान उसका हृदय रोम मात्र भी कृपा रस से भेदित नहीं हुआ। एक बार सूरि पाटलीपुर में आये। तत्पश्चात् उदायी राजा ने भी गुरु को नमस्कार कर व्याख्यान सुना। एक दिन पर्व दिन में राजा प्रातः काल में उठकर विधि से आवश्यक पूर्वक अष्टप्रकार की पूजा से जिन की पूजा कर और

गुरुओं के आगे चार सो और बानवें स्थानकों से उपशोभित द्वादशावर्त वंदन कर और अतिचारों की आलोचना तथा क्षमापना कर चतुर्थ प्रत्याख्यान कर संध्या में स्व अंतःपुर में स्थित पौषधशाला में पौषध ग्रहण करने की इच्छा से उसने गुरु को बुलाया। क्योंकि-चरण का हेतु जो कुछ-भी आवश्यक आदि अनुष्ठान हैं, उसे गुरु के समीप में करना चाहिए और गुरु के विरह में स्थापना के आगे करना चाहिए।

सूरि भी बाह्य से ही चारित्र का आचरण करनेवाले उस विनयरत्न के साथ में ही राज-कुल में आये। राजा भी गुरु को वंदन कर और सूत्र में कही हुई युक्ति से पौषध आदि लेकर और उनके साथ में प्रतिक्रमण कर प्रथम प्रहर की प्रतिलेखना कर तथा संथारे को बिछाकर मुर्गे के समान दोनों पैरों को प्रसारित कर सो गया। सूरि भी धर्म कथा कहकर सो गये।

इस बीच वह दुष्टात्मा कपट निद्रा से क्षण के लिए सो कर यह ही पिता के वैर का निर्यातन का अवसर हैं इस प्रकार से सोचकर सोये हुए राजा के गले के विवर में कंक की लोह-पत्रिका रखी। वह पापिष्ठ और अभव्य काय-चिन्ता के बहाने से राजा की रक्षा में दक्ष पुरुषों से नहीं रोका जाता हुआ नगर से भी बाहर निकल गया। तब राजा के कंठ-वेदी से साक्षात् आपदाओं के स्थान के समान रक्त-प्रवाह गुरु के संथारे में स्पर्श करने लगा। गुरु भी उसके स्पर्श से जाग गये। वैसे स्थित राजा को देखकर सूरि ने सोचा कि- अहो ! उस दुरात्मन् ने युग पर्यंत पश्चात्ताप और अपकीर्ति जनक जिन-मत की मलिनता की हैं, उससे मैं आत्मा के व्यय से अर्हत्-दर्शन की म्लानता को बचाता हूँ। इस प्रकार निश्चय कर और भव चरिम का प्रत्याख्यान कर तथा उस कंक-पत्रिका को कंठ में देकर सूरि काल-

धर्म कर स्वर्ग में गये ।

प्रभात होने पर राज-कुल के लोग उस अमंगल को देखकर पूत्कार करने लगे और उसी की निन्दा करने लगे । पश्चात् गवेषणा करते हुए भी वह कहीं पर भी नहीं मिला । वह दुष्ट भाग कर के और उज्जयिनी में जाकर अवन्ती स्वामी के आगे उदायी गृह का स्वरूप और जिस प्रकार से हुआ था उसे कहा । उसे सुनकर अवन्ती के स्वामी ने उसका तिरस्कार किया- तुझे धिक्कार हो, धिक्कार हो ! हे अप्रार्थनीय की प्रार्थना करनेवाले ! हे हीन चतुर्दशी में जन्म को प्राप्त ! हे अदर्शनीय मुखवाले ! हे पापिष्ठ ! धर्म के छल से तूने धर्म करनेवाले को मारा है । इस प्रकार धर्म विप्लवकारी तुम मेरे देश से चले जाओ । इस प्रकार से कहकर उसे निकाल दिया । कहीं पर भी पापीओं की इच्छित की सिद्धि नहीं होती । अभव्यपने से द्वादश वर्ष पर्यंत आगम श्रवण, श्रावण, धर्म-क्रिया करण आदि सर्व भी निरर्थक हुआ । उदायी राजा उस प्रकार के क्रिया-कौशल्य के सेवन से स्वर्ग का आभरण हुआ । उसके बाद राज्य में नन्द राजा हुआ ।

इस प्रकार से पृथ्वी को भोगनेवाले श्रीमान् उदायी राजा के अखिल, आश्चर्यकारी और सुंदर चरित्र को यहाँ पर सरलता से कमल के समान कान में रखकर श्रीमान् जैन विधि में कुशलता को सूत्रित कर पंडित जन सम्यक्त्व को भूषित करे जिससे कि इच्छित लक्ष्मी आपको आनन्द पूर्वक आलिंगन करती हैं ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में अडतीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



उन्चालीसवाँ व्याख्यान

अब चतुर्थ भूषण कहा जाता है-

जो यथा-योग्य अर्हत् परमात्मादि की आन्तरिक भक्ति होती है, वह सम्यक्त्व गुण का द्योतक चतुर्थ अलंकार हैं ।

भावार्थ एक स्त्री के दृष्टांत से स्पष्ट किया जाता हैं-

राजपुर में अमिततेजा नामक राजा था । वहाँ पर मंत्रों का जानकार एक परिव्राजक विद्या के बल से नगर की स्त्रियों का अपहरण कर रहा था । जैसे कि-

युवा मन को चुरानेवाली, भ्रमर-समूह के समान काले बालों की जूड़ावाली ललाट स्थल से अष्टमी चन्द्र को करनेवाली, कानों से कामदेव के आन्दोलन से तुलना करनेवाली, रूप से श्रेष्ठ देव स्त्री को जीतनेवाली, रति रस रूपी सागर से तीराने में जहाज के समान, शरीर की कांति से नूतन सूर्य को दास करनेवाली ऐसी जिस-जिस स्त्री को वह देखता था, उस-उस स्त्री का अपहरण करता था ।

उस दुःख से दुःखित नगर-वासीयों ने राजा से विज्ञप्ति की । राजा स्वयं ही गवेषणा करते हुए पाँचवें दिन की रात्रि में सुगंधि तैल और तांबूल आदि को ग्रहण करते हुए उसे चेष्टा से चोर जानकर उसके पीछे चलते हुए वन में गुप्त गृह में शिला को हटाकर प्रवेश करते हुए उसे अपनी तलवार से उसके सिर को छेद दिया । राजा ने नागरिकों को बुलाकर स्व-स्व वस्तु दी । तब एक स्त्री कार्मण से उस पर अस्थि-मज्जा के समान अनुरागिनी हुई काष्ठ में जलने के लिए उत्सुक हुई । परंतु वह स्त्री पति को नहीं चाहती थी । मंत्र के जानकारों ने उसके पति के आगे कहा कि- यदि परिव्राजक के अस्थियों को पानी से प्रक्षालन कर इसे पीलाया जाएँ, तो यह उस पर स्नेह रहित होगी । उसने वैसा ही किया तब वह स्त्री अपने पति के ऊपर स्नेहवाली हुई । यहाँ पर

यह उपनय हैं-

जैसे सुंदर स्त्री ने उस परिव्राजक के ऊपर इस महान् अनुराग को किया था, वैसे ही मोक्ष के प्रकटीकरण के लिए जिनों द्वारा उपदेशित धर्म में अनुराग करो ।

इस विषय में अन्य जीर्णश्रेष्ठी का प्रबंध कहा जाता है-

तीनों समय जिनेश्वर की भक्ति से जीर्ण नामक श्रेष्ठी के समान परोक्ष में भी ध्यान कीये गये जिनेश्वर इष्ट की सिद्धि के लिए होते हैं । नदी की वृद्धि के लिए और कमल-समूह रूपी लक्ष्मी की संतुष्टि के लिए भी मेघ और चन्द्र होते हैं ।

विशाला के वन में चतुर्मासी तप करनेवाले श्रीवीर भगवान् प्रतिमा से स्थित थे । उस नगर के जीर्णश्रेष्ठी ने वहाँ पर प्रभु को देखकर विज्ञप्ति की कि- हे स्वामी ! आज मेरे गृह में पारणा करे, इस प्रकार से कह कर वह चला गया । परंतु प्रभु नहीं आये । छट्ठ तप का विचार कर द्वितीय दिन उसने जगत् के बन्धु को नमस्कार कर कहा कि- हे कृपावतार ! आज मेरे गृह को और मुझे पवित्र करे । तब स्वामी मौन से रहें । इस प्रकार से प्रति-दिन आकर जिनेश्वर को निमंत्रित करता था ।

चतुर्मासी के अंत में उसने सोचा कि- आज अवश्य ही जिन का पारणा का दिन है । उसने कहा कि- हे दुर्वार संसार रूपी रोग के लिए धन्वन्तरि के तुल्य । कृपा से युक्त नेत्रों से मुझे देखकर आप मेरी प्रार्थना को मन में अवधारण करो, इस प्रकार से स्तुति कर गृह में चला गया । मध्याह्न के समय में थाली में मोतियों को ग्रहण बधाई देने के लिए गृह-द्वार पर खड़ा हुआ इस प्रकार से सोचने लगा कि- यहाँ पर आनेवाले विश्व के बंधु को मैं परिवार सहित वंदन करूँगा । पश्चात् गृह के अंदर ले आऊँगा और श्रेष्ठ अन्न-पानों से प्रतिलाभित

करूँगा । धन्य मानता हुआ मैं स्वयं ही शेष रहे हुए अन्न आदि का भोजन करूँगा । इस प्रकार के मनोरथ की श्रेणि में चढ़े हुए उसने बारहवें स्वर्ग के योग्य कर्म का अर्जन किया ।

इस ओर श्रीवीर अभिनव श्रेष्ठी के गृह में भिक्षा के लिए गये । भोजन वेला के अतिक्रान्त हो जाने से उसने उडदबाकुले दिलाएँ । उस दान से पाँच दिव्य हुए । जीर्णश्रेष्ठी दुंदुभि की ध्वनि को सुनकर सोचने लगा कि- मुझे धिक्कार हो, मैं अधन्य हूँ जो प्रभु मेरे गृह में नहीं आये, इस प्रकार से उसे ध्यान-भंग हुआ ।

एक बार राजा ने किसी ज्ञानी मुनि के आगे कहा कि- हे भगवन् ! मेरा नगर धन्य हैं जहाँ पर श्रीवीर को पारणा करानेवाला और भाग्यवान् अभिनव श्रेष्ठी रह रहा हैं । तब मुनि ने कहा कि- तुम इस प्रकार से मत कहो । उसने द्रव्य-भक्ति की हैं । परंतु जीर्णश्रेष्ठी ने भावना से भक्ति की हैं । इसलिए वह ही पुण्यवान् हैं । अन्य यह भी है कि- यदि इसने तब देव दुंदुभि को नहीं सुनी होती, तो तभी उज्ज्वल केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता । इस प्रकार से गुरु-वाक्य से देव-गुरु की भक्ति में आदर से युक्त राजा आदि स्व स्थान पर चलें गये ।

व्यापारियों में श्रेष्ठ और जिनों में भक्तिमंत चित्तवाला जीर्णश्रेष्ठी बारहवें कल्प को भोग कर क्रम से मोक्ष में जायगा ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय-स्तंभ में उन्वालिसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



चालीसवाँ व्याख्यान

अब पाँचवाँ भूषण कहा जाता है—

तीर्थों की सतत सेवा, संविग्न चित्तवालों का संग उसे तीर्थ-सेवा कही गयी है, वह पंचम सम्यक्त्व का भूषण है ।

संसार रूपी सागर जिससे तीरा जाता है उसे तीर्थ कहते हैं । श्रीमान् शत्रुंजय, अष्टापद पर्वत आदि तीर्थ हैं । उसकी नित्य सेवना—निरंतर यात्रा करण, यह शेष है । संविग्न चित्तवाले साधुओं का संग—संगति, जैसे कि—

साधुओं का दर्शन पुण्य रूप हैं और साधु तीर्थ स्वरूप हैं । काल से तीर्थ फलित होता है किन्तु साधु पद-पद पर फलदायी होते हैं ।

इस प्रकार सूत्रों में कहा गया है । इसलिए सुतीर्थ का सेवन बड़े गुण के लिए समर्थ होता है न कि अप्रशस्त तीर्थ का सेवन । इस विषय में यह प्रबंध है—

दुरन्त पापों से प्रलिस हुए जीव प्रशंसनीय तीर्थों से निर्मल नहीं होते हैं, जैसे कि माता के वचनों से पुत्र के द्वारा सुतीर्थों में तुंबिका स्नान करायी गयी भी मधुर नहीं हुई ।

विष्णु स्थल में परम—आर्हती गोमती सार्थवाही । उसका गोविन्द नामक पुत्र गाढ मिथ्यादृष्टि था । माता के द्वारा जैन-धर्म में प्रतिबोधित किया गया भी उसने मिथ्यात्व को नही छोड़ा ।

एक बार तीर्थ यात्रा में तैयार उसे माता ने कहा कि— हे वत्स ! लौकिक तीर्थ गंगा, गोदावरी, त्रिवेणी संगम और प्रयाग से तथा जल, दर्भ आदि के स्नान से हिंसा, असत्य और चोरी आदि से उत्पन्न आत्मा की मलिनता नहीं जाती, इत्यादि बहुत शिक्षित करने पर भी जब यह निवृत्त नहीं हुआ, तब उसके बोध के लिए एक कटु तुंबिका

को देकर इस प्रकार से कहा कि- हे वत्स ! खुद के समान विधि से सभी तीर्थों में इस तुंबिका को भी स्नान कराना, तुम यह मेरा कहा हुआ अवश्य करना । उसे अंगीकार कर यथा रुचि तीर्थों में जाकर और माता का कहा कर मस्तक से मुंडित हुआ और बहुत मुद्राओं से अंकित भुजा-दंडवाला वह स्व नगर में आया । विनय से माता के पैरों को नमस्कार कर और तुंबिका के व्यतिकर को कहकर भोजन करने के लिए बैठे हुए उसकी थाली में उस तुंबिका का साग कर माता ने परोसा । वह भी उस साग का आस्वादन कर कहने लगा कि- यह नहीं खाने योग्य कटु और विष के समान हैं ।

माता ने उसे कहा कि- हे पुत्र ! अनेक तीर्थों के जल से जो तुंबिका स्नान करायी गयी, उसके साग में भी कटुत्व कहाँ से ? उसने कहा कि- हे माता ! जल से स्नान कराये गये इस तुंबिका का आन्तर कटुत्व कैसे जा सकता है ? माता ने कहा कि- हे भद्र ! यदि इसका कटुत्व का दोष नहीं गया है, तो हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन आदि से उत्पन्न हुए और आत्मा के ऊपर लगे हुए आंतरिक पाप-समूह रूपी मल जल-स्नान से कैसे जा सकता है ? इस प्रकार से माता के द्वारा कहे हुए सत्य को मानकर गोविंद माता के साथ सुगुरु के समीप में जाकर श्रावकत्व का अंगीकार कर क्रम से शत्रुंजय तीर्थ के ऊपर सिद्धि सुख को प्राप्त किया ।

अन्य भी प्रबन्ध कहा जाता हैं-

श्रावस्ती में त्रिविक्रम राजा था । एक दिन वन में उसने घोंसले के निवासी और कटु रटन करते पक्षी को देखकर दुष्ट शकुन की बुद्धि से उसे शीघ्र ही मारा । भूमि के ऊपर गिरे हुए और काँपते उस पक्षी को देखकर वह पश्चात्ताप से युक्त हुआ । आगे जाते हुए उसने महर्षि को देखकर प्रणाम किया और उनके आगे स्थित हुआ ।

तब मुनि ने अहिंसा धर्म का वर्णन किया । उसे सुनकर राजा ने इस प्रकार से विचार किया कि- अहो ! मैंने जो रहस्य में पाप किया था, उसे इन्होंने जान लिया है । इसलिए उस पाप को दूर करने के लिए मैं ऐसे ज्ञानी के समीप में दीक्षा ग्रहण करता हूँ । तब तृण के समान राज्य-भार को छोड़कर अणुगार हुआ । क्रम से दुष्कर तपों के द्वारा उत्पन्न हुई तेजो-लेश्या से युक्त वे पृथ्वी के ऊपर विहार करने लगे ।

वह पक्षी भी मरकर भील हुआ । विहार करते हुए उस मुनि को देखकर क्रोधित होकर उसने लकड़ी आदि से मुनि को मारा । भिक्षु भी अपने अनाचार का विस्मरण कर लेश्या से उसे जला दिया । भील भी मरकर किसी वन में सिंह हुआ । वहाँ भी ऋषि ने पूँछ को पछाड़ते हुए उस सिंह को मार दिया । तत्पश्चात् हाथी हुआ, उसे भी मार दिया । पश्चात् साँड हुआ । संमुख दौड़ने से उस साँड को मार दिया । तथा स्व देह में डँसते हुए सर्प को पूर्व के समान ही साधु ने उसे मारा । उसके बाद वह ब्राह्मण हुआ । साधु ने निन्दा करते हुए उस ब्राह्मण को मार दिया । अहो ! निर्विवेकी को कहाँ से संवर हो ? निर्मम और योगीश्वर भी इसने सात हत्याएँ की थी, इस प्रकार से पाप कर्मों के विलास को धिक्कार हो ? यथा प्रवृत्ति करण से शुभ कर्मोदय के संमुख वह ब्राह्मण वाणारसी नगरी में महाबाहु राजा हुआ ।

एक दिन गवाक्ष में रहे हुए उस राजा ने किसी मुनि को देखकर जाति-स्मरण ज्ञान से सात भवों को जानें । अहो ! मैं उस मुनि के पाप का हेतु हुआ हूँ, इस प्रकार विचारकर उस मुनि को जानने के लिए श्लोकार्ध किया कि- पक्षी, भील, सिंह, हाथी, साँड, सर्प और ब्राह्मण, जो अन्त्य अर्ध को पूर्ण करेगा उसे लक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ दी जायेगी, इस प्रकार से उद्घोषणा की । सभी लोग उस श्लोक को पढ़ने लगे । परंतु कोई भी श्लोकार्ध को पूर्ण नहीं कर सका था ।

एक दिन वें ही मुनि वहाँ पर आये । मुनि ने गोवालिये के द्वारा गायें जाते हुए श्लोक-खंड को सुना । क्षण भर विचारकर उसके उत्तरार्थ को जानकर उसे पूर्ण किया, जैसे कि- हहा ! जिसने क्रोध से इनको मारा हैं, उसकी दशा क्या होगी ? गोपालक उसे सुनकर उस पूर्ण श्लोक को राजा से निवेदन किया । मैंने इस समस्या को पूर्ण की हैं, इस प्रकार उसने धैर्य से कहा । राजा का मन विस्मित नहीं हुआ और उसने निर्बंध होने पर सत्य कहा । उसे सुनकर और वहाँ जाकर के राजा ने मुनि से क्षमा माँगी । परस्पर स्व-स्व अपराध की निन्दा और गर्हा करते हुए, राजा और मुनि उन दोनों ने चिर समय तक प्रीति से वार्त्ता की ।

इसी बीच वहाँ पर कोई केवली आये । राजा और मुनि दोनों ने अच्छी प्रकार से उन केवली के आगे निज-निज स्वरूप को कहा । केवली ने कहा कि- तुम दोनों का पाप शत्रुंजय के बिना अति-तपों के द्वारा नहीं जायगा । यह सुनकर शत्रुंजय आदि तीर्थ-यात्रा कर, भाव से संयम को ग्रहण कर और हत्या आदि पापों को नष्ट कर दोनों ने शत्रुंजय-पर्वत के ऊपर सिद्धि को प्राप्त की ।

हे भव्य-प्राणियों ! नित्य कान से अन्तिम भूषण ऐसे तीर्थ-सेवा की प्रशंसा को सुनकर और कुविकल्प के जाल को छोड़कर शुभ तीर्थ की सेवा करो ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में चालीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



इकतालीसवाँ व्याख्यान

अब सम्यक्त्व के पाँच अधिकार स्पष्ट कीये जातें हैं-

बड़े अपकार के होने पर भी शर्मों से क्रोध आदि को शांत करता हैं, उससे सम्यक्त्व पहचाना जाता हैं और वह आद्य लक्षण हैं ।

इस विषय में कूरगडुक मुनि का प्रबन्ध हैं और वह इस प्रकार हैं-

विशाला में एक आचार्य के शिष्य मासक्षमण के पारणे में एक क्षुल्लक के साथ बाहर-भूमि में जाते हुए प्रमाद से मेंढकी पैरों से मारी गयी । तब उसे देखकर क्षुल्लक ने मौन रखा । तपस्वी ने प्रतिक्रमण में उस पाप की आलोचना नहीं की । तब क्षुल्लक ने कहा कि- अहो ! हे तपस्वी ! आप त्रि-शुद्धि से उस पाप की आलोचना क्यों नहीं कर रहे हो ? उसने सोचा कि- यह दुरात्मा साधु के समक्ष मेरी निन्दा कर रहा हैं, उससे मैं इसे मारूँ, इस प्रकार से विचारकर क्षुल्लक को मारने के लिए दौड़ा । क्रोधान्ध हुआ वह मध्य में स्तंभ से टकराकर मृत्यु को प्राप्त हुआ । व्रत की विराधना करने से वह ज्योतिष्क देव हुआ । ज्योतिष्क से च्यवकर वह दृष्टि विष सर्प के कुल में देवाधिष्ठित सर्प हुआ । पाप की आलोचना नहीं करने से और जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न होने से उस कुल में अन्य सभी सर्प आहार-शुद्धि कर रहे थे । उसे देखकर यह भी मुनि-भव में की हुई गवेषणा का स्मरण करने लगा । उससे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । मेरी दृष्टि से प्राणी भस्मसात् न हो, इस प्रकार से वह दिन में बिल से बाहर नहीं निकलता था । रात्रि में भी प्रासुक पवन का ही अशन करता था ।

इस ओर सर्प के द्वारा डँसा गया कुंभ राजा का पुत्र मृत्यु को

प्राप्त हुआ। उससे सर्पों के ऊपर क्रोध को वहन करते हुए राजा सर्पों की हिंसा कराने लगा। जो कोई सर्प की हिंसा कर ले आता था, राजा उसे दीनार देता था। तब सब लोग सर्प-आकर्षक विद्या को पढ़ने लगे।

एक बार किसी ने उस बिल के समीप में उस विद्या को पढ़ी। उससे वहाँ रहने में असमर्थ हुए सर्प ने सोचा कि- मुझे देखकर जीव न मरें, इस प्रकार से विचार कर उसने पूँछ बाहर की। हिंसकों ने पूँछ को छेद दी। इस प्रकार सर्प के भी टुकड़ें करने लगे। सर्प ने सोचा कि- हे जीव! देह के बहाने से यह तेरा दुष्कर्म खंडित किया जा रहा है, तुम इस व्यथा को सहन करो, भविष्य में कल्याण होगा।

वह सर्प कुंभ राजा की पत्नी की कुक्षि में अवतीर्ण हुआ। नागदेव ने राजा को स्वप्न दिया कि- आज के बाद तुम सर्प-घात मत करो। तुझे पुत्र होगा। पश्चात् राजा को पुत्र हुआ। उस पुत्र का नागदत्त नाम दिया। क्रम से उसने यौवन को प्राप्त किया। एक बार गवाक्ष में स्थित उसने एक मुनि को देखकर जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त कर और वैराग्य से कैसे-भी पिता की अनुज्ञा को ग्रहण कर गुरु के समीप में दीक्षा ग्रहण की। तिर्यच योनि से आने से और क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से पोरसी पच्चक्खाण भी नहीं हो रहा था। तब गुरु ने कहा कि- तुम क्षमा धर्म को अंगीकार करो, उससे तुम सर्व प्रकार के तप फल को प्राप्त करोगे। वे मुनि प्रातःकाल में ही गडुक मित अन्न का आहार करते थे, उससे लोक में उनका नाम कूरगडुक हुआ। उस गच्छ में चार तपस्वी साधु थे, एक मास-उपवासी, द्वितीय दो मास के उपवासी, तृतीय तीन मास के उपवासी और चौथे चार मास के उपवासी। यह नित्य भोजन करनेवाला हैं इस प्रकार से वे सभी साधु कूरगडुक की निन्दा करते थे।

एक बार शासन-देवी ने आकर के कूरगडुक मुनि को नमस्कार किया । अनेक प्रकार से स्तुति कर उसने सर्व साधुओं के समक्ष में कहा कि- इस गच्छ में आज के दिन से आगामी सप्तम दिन में एक मुनि प्रथम केवलज्ञान को प्राप्त करेंगे । तब उन साधुओं ने कहा कि- हे देवी ! हमारा अतिक्रमण कर तुमने इसे कैसे वंदन किया है ? उसने कहा कि - मैंने भाव-तपस्वी को वंदन किया है, इस प्रकार से कहकर वह चली गयी । साँतवें दिन शुद्ध अन्न को लाकर कूरगडु ने गुरु को और उन तपस्वीओं को दिखाया । तब क्रोध से जलते हुए तपस्वीओं के मुख में श्लेष्म आ गया । उन्होंने अन्न में डाला । तब कूरगडु ने सोचा कि- सदा स्वल्प तप-कर्म से रहित मुझ प्रमादी को धिक्कार हो । मैं इनकी वैयावच्च करने के लिए भी समर्थ नहीं हूँ । इत्यादि आत्म निन्दा करते हुए और निःशंकता से उस अन्न को ग्रहण करते हुए शुक्ल-ध्यान में लीन कूरगडु ने केवलज्ञान को प्राप्त किया । तब देवों ने महिमा की ।

अब वें साधु विचारने लगे कि- अहो ! यह सत्य भाव तपस्वी हैं और हम द्रव्य तपस्वी हैं । इस प्रकार से विचारकर उन चारों ने भी केवली से क्षमा माँगी । इस प्रकार त्रिकरण की विशुद्धि से क्षमा माँगनेवालों उनको भी चरम ज्ञान(केवलज्ञान) उत्पन्न हुआ । क्रम से पाँचों ने भी मोक्ष-नगर को प्राप्त किया ।

सूत्र में शान्ति, क्षमा, क्षान्ति, शम आदि के नाम से सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण स्तुति किया गया है । शम गुण धर्मों में आद्य हैं और अंतिम ज्ञान को देता हैं, उससे शम-गुण स्वीकार किया जाय ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में एकतालीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



बयालीसवाँ व्याख्यान

अब द्वितीय संवेग-लक्षण कहा जाता है-

देव आदि विषय सुख को दुःखत्व से अनुमान करता हुआ और मोक्ष की अभिलाषा तथा संवेग से युक्त वह दर्शनी होता है ।

इस विषय में निर्ग्रन्थ (अनाथी) मुनि का प्रबन्ध है-

एक बार राजगृह के उपवन में क्रीड़ा करते हुए मगध के स्वामी ने सुकुमार अंगवालों, समाधि में लीन और विश्व को विस्मय करनेवाले रूप से युक्त एक मुनि को देखा । अहो ! इन मुनि का रूप, अहो ! लावण्य-वर्ण, अहो ! सौम्यता, अहो ! शांति, अहो ! भोगों में असंगता । इस प्रकार से कहकर ध्यान में लीन उस मुनि को देखकर राजा मुनि के पाद-कमल में प्रणाम कर इस प्रकार से पूछने लगा कि- हे आर्य ! यौवन में भी ऐसे दुष्कर व्रत को ग्रहण किया है । उसका कारण कहो ।

मुनि ने कहा कि- हे महाराज ! मैं अनाथ हूँ, मेरा स्वामी नहीं है । अनुकंपा करनेवाले के अभाव से तारुण्य में भी व्रत को आदरित किया है ।

श्रेणिक ने हँसकर कहा कि- हे साधु ! इस वर्ण आदि से आपकी अनाथता युक्त नहीं है, तो भी मैं आप अनाथ का नाथ होता हूँ । यथेच्छा से भोगों को भोगों और साम्राज्य का परिपालन करो, क्योंकि फिर से भी यह मनुष्य-जन्म अतीव दुर्लभ है ।

मुनि ने कहा कि- हे राजन् ! तुम अपने आपके भी नाथ नहीं हो तो कैसे मेरे नाथ होओगे ? पूर्व में नहीं सुने हुए को सुनकर राजा ने कहा कि- हे मुनि ! आपको इस प्रकार से कहना योग्य नहीं है, क्योंकि मैं हाथी, अश्व, रथ, रानी वर्ग का पालन कर रहा हूँ । ऋषि ने भी थोड़ा हँसकर कहा कि- हे राजन् ! तुम अनाथ-सनाथ के अर्थ

को नहीं जानते हो । तुम सुनो, जैसे कि-

कौशाम्बी में महीपाल नामक राजा मेरे पिता थें । एक दिन प्रथम वय में ही मुझे आँख की वेदना हुई । मेरे सर्व शरीर में दाह हुआ । उस वेदना को दूर करने के लिए मंत्र के जानकार और वैद्य आदि निज-निज उपायों को करने लगे । तो भी वेदना से छुड़ाने के लिए वे समर्थ नहीं हुए, जैसे कि-

पिता मेरे लिए पर्याप्त और सर्व गृह-सार को दे रहे थे, वे भी दुःख से मुझे छुड़ा नहीं सके, यह मेरी अनाथता । पिता, माता, भाई-बहन, पत्नी आदि मेरे पास में स्थित रो रहे थे, भोजन नहीं कर रहे थे, क्षण-भर के लिए भी मेरे सामीप्य को नहीं छोड़ रहे थे, परंतु मुझे दुःख से छुड़ा नहीं सके, यह मेरी अनाथता । पश्चात् मैंने इस प्रकार से सोचा कि- अनादि संसार में कैसे पुनः मेरे द्वारा यह वेदना सहन की जायगी ? इसलिए जो एक क्षण के लिए भी वेदना से निस्तार हो तो मैं मुनित्व को ग्रहण करूँ । हे राजन् ! इस प्रकार से सोचकर मेरे सो जाने पर वेदना क्षय को प्राप्त हुई । उससे आत्मा ही योग-क्षेम करनेवाली और नाथ हैं । सुबह स्व-जनों को प्रतिबोधित कर मैंने अणगारत्व को ग्रहण किया । उससे मैं स्व का और दूसरों त्रस आदियों का नाथ हुआ । क्योंकि आत्मा ही योग-क्षेम करनेवाला और नाथ हैं । हे राजन् ! वैसे ही तुम अन्य अनाथता के बारे में भी सुनो-

जो प्रव्रज्या को लेकर प्रचुर प्रमाद से पाँच महाव्रतों का पालन नहीं करते हैं, रसों में गृद्ध और इंद्रियों को नहीं जीतनेवाले वे ही जिनों के द्वारा अनाथ कहे गये हैं । प्रान्त में जो अत्यंत विपर्यास को प्राप्त होता है, उसकी सुसाधुता निरर्थक है । उसका केवल इहलोक ही नष्ट नहीं होता, किंतु अपर भव विनष्ट हो चुका है । चारित्र के गुणों से युक्त होता हुआ साधु आत्मा की शुद्धि से निराश्रव संयम का

प्रतिपालन कर अखिल अष्ट-कर्मों को नष्ट कर अनंत सौख्यवाले निर्वाण को प्राप्त करता हूँ। उस श्रमण के वाक्य को सुनकर श्रेणिक राजा अत्यंत तुष्ट हुआ और अंजलि को जोड़कर कहने लगा कि- हे मुनि ! आपने मेरे आगे सत्य नाथत्व कहा है। हे मुनि ! आपको मनुष्य जन्म सम्यग् प्राप्त हुआ और आपको जगत् में उत्तम लाभ प्राप्त हुआ है। आप ही स-नाथ और बांधव सहित हो, जो जिन-पुंगवों के मार्ग में स्थित हो। हे मुनि ! आज के बाद आप ही अनाथ ऐसे स्थावर-जंगम प्राणियों के नाथ हुए हो। इसलिए ही हे साधु ! आप से मैं मेरे अपराध को शीघ्र नष्ट करने के लिए क्षमा माँग रहा हूँ। जो मेरे द्वारा पूछकर के आपके ध्यान विघ्नकारी दूषण को किया गया और भोगों में निमंत्रित कीये गये, मेरे उस समस्त दूषण को भी आप क्षमा करें।

इस प्रकार से स्व-भक्ति से उस अणुगार की स्तुति कर, सर्व राजाओं में चन्द्र के समान, अंतःपुर के साथ सत्-परिवार से युक्त और धर्म में अनुरागी हुआ श्रीश्रेणिक स्व-नगर में गया।

अमित गुण श्रेणि से समृद्ध जो वे निर्ग्रन्थ मुनीश्वर थे, वे पक्षी के समान प्रतिबंध और बंधन से रहित पृथ्वी के ऊपर विहार करते हुए और गुप्तियों से गुप्त, उग्र दंड से विरत, संवेग से मोह आदि को नष्ट कर क्रम से अव्यय सौख्यवाले महोदय-पद को प्राप्त किया।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में बेतालिसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।



तैत्तलीसर्वा व्याख्यान

अब तृतीय निर्वेद नामक लक्षण कहा जाता है-

संसार रूपी कारावास के विवर्जन में परायण प्रज्ञा जिसके चित्त में होती है, वह निर्वेदवान् पुरुष है ।

जैसे कि प्रवचन में कहा गया है कि- हे भगवन् ! जीव निर्वेद से क्या उत्पन्न करता है ? जीव निर्वेद से दिव्य-मनुष्य और तिर्यच संबंधी काम-भोगों से विरागी होता हुआ शीघ्र से निर्वेद में आता है और सर्व विषयों में विरागी होता है । वह सर्व विषयों में विरागी होता हुआ आरंभ और परिग्रह का त्याग करता है । आरंभ और परिग्रह का त्याग करता हुआ संसार-मार्ग का व्युच्छेदन करता है और सिद्धि-मार्ग का स्वीकार करता है । इस विषय में हरिवाहन का प्रबन्ध है-

भोगावती नगरी में इन्द्रदत्त राजा था और उसका पुत्र हरिवाहन था । उसे सुतार-पुत्र और श्रेष्ठी का पुत्र इस प्रकार से दो मित्र थे । उन दोनों के साथ में स्वेच्छा से क्रीड़ा करते हुए पुत्र को राजा ने दुर्वचन से तिरस्कार किया । कुमार ने उस दुःख से पिता आदि के स्नेह को छोड़कर अपने दोनों मित्रों के साथ में प्रस्थान किया । उन तीनों ने भी किसी अरण्य में सूंड को उठाकर संमुख आते हुए मत्त हाथी को देखा । उतने में ही सुतार का पुत्र और वणिक् का पुत्र कौंसे के भागने के समान भाग गये । राज-पुत्र सिंह-नाद से उस हाथी को चेष्टा रहित कर मित्रों की गवेषणा करने के लिए आगे चला । परंतु कहीं पर भी उनकी शुद्धि को प्राप्त नहीं की ।

राज-पुत्र ने इधर-उधर पर्यटन करते हुए एक सुंदर सरोवर को देखा । उसमें स्नान कर उस सरोवर से उत्तर-दिशा में बड़े उद्यान में प्रवेश किया । वहाँ उद्यान के अंदर सरोवर से व्यास दरवाजेवाले यक्ष के मंदिर में रात्रि के समय में सो गया । राज-पुत्र के सो जाने पर

यक्ष के आगे रणन् शब्द करती हुई मणि-नूपुर से युक्त अप्सराएँ आकर के नाचने लगी। वें अप्सराएँ नृत्य-श्रम का नाश करने के लिए बहु मूल्य वस्त्रों को छोड़कर सरोवर में स्वेच्छा से स्नान करने में प्रवृत्त हुई। उतने में ही वह राज-पुत्र द्वार को उद्घाटित कर और उनके वस्त्रों को लेकर तथा पुनः द्वार को बंध कर स्थित हुआ। तब वें अप्सराएँ अपने वस्त्रों को नहीं देखती हुई परस्पर कहने लगी कि- निश्चय ही किसी धूर्त ने हमारे वस्त्रों का अपहरण किया है। परंतु वह हम से भी नहीं डर रहा है, इसलिए यह दंड से साधा नहीं जा सकता, इस प्रकार से कहकर वें साम वाक्यों से उसे प्रलोभित कर कहने लगी कि- हे नराग्रणी ! तुम हमारे वस्त्रों को समर्पित करो। उसने भी कहा कि- तुम्हारे वस्त्रों को लेकर बड़ा वायु आगे चला गया होगा, उससे तुम उसके समीप में जाओ, जाओ।

राज-पुत्र के साहस से संतुष्ट हुई उन अप्सराओं ने कहा कि- हे वत्स ! तुम इस खड्ग-रत्न और दिव्य-कंचुक को ग्रहण करो। उसने द्वार को खोलकर और वस्त्र देकर क्षमा माँगी। देवियाँ उन दोनों वस्तु को देकर स्व-स्थान पर चली गयी। कुमार ने मार्ग में जाते हुए एक शून्य नगर को देखा। वहाँ कौतुक से राज-महल में सातवीं भूमि में गया। वहाँ पर कमल समान नेत्रवाली एक कन्या देखी। जैसे कि-

क्या विधाता ने इस प्रथम सृष्टि को सुरक्षित रखा है, जिससे कि इस कन्या को देखकर मैं अन्य नारीयों का निर्माण करता हूँ।

इस प्रकार से सोचकर वह उसके द्वारा दीये हुए आसन के ऊपर बैठा और शोक से युक्त उस कन्या को देखकर शोक का कारण पूछा। उसने भी कहा कि- हे भाग्यशाली ! मैं विजय राजा की अनंगलेखा नामक पुत्री हूँ। एक बार विद्याधर गवाक्ष में बैठी हुई मुझे देखकर और अपहरण कर यहाँ पर नगर में निवेशित किया। अब वह

विवाह की सामग्री को लेने गया हुआ हैं। आज वह अपने आवास में आकर बल से मुझसे विवाह करेगा। परंतु पूर्व में ज्ञानी ने मुझे इस प्रकार से कहा था कि- हे वत्से ! तेरा प्रिय हरिवाहन होगा। उन मुनि के वचन के विसंवाद से मुझे खेद हुआ हैं। उसे सुनकर कुमार ने कहा कि- हे स्त्री ! खेद मत करो।

इस ओर वह विद्याधर आ गया। विद्याधर उसके साथ क्रोध से युद्ध करने लगा। कुमार ने भी जगत् को जीतनेवाली तलवार से उसे जीत लिया। तब विद्याधर ने कहा कि- हे साहसिक-श्रेष्ठ ! यह स्त्री और यह नगर तेरे आधीन है, उसे तुम सुख से भोगो, मैं स्व-स्थान पर जा रहा हूँ। हरिवाहन ने उस कन्या को वह दिव्य-कंचुक देकर और अनेक जनों से आकुलित नगर बसा कर साम्राज्य का पालन करने लगा।

एक बार राजा नर्मदा के तट के पर शुभ वस्त्रों को छोड़कर प्रिया के साथ में जल-क्रीड़ा कर रहा था। इस ओर मत्स्य ने पद्मराग कान्ति से युक्त उस दिव्य कंचुक वस्त्र को नदी के तट से मांस की भ्रान्ति से निगल लिया। उसे देखकर राजा आदि ने शोक को धारण किया। वहाँ से वह मत्स्य बेनातट में आया। किसी मछुआरे ने मत्स्य का विदारण किया और उसके उदर से वह कंचुक निकला। मछुआरे ने अपने राजा को उस कंचुक को भेंट किया। राजा ने सोचा कि- विश्व को मोहित करनेवाली यह स्त्री कौन हैं ? जिसका यह कंचुक भी मेरे मन को हरण कर रहा हैं। वह कब और किस उपाय से मुझे मिलेगी ? इस प्रकार से चिन्ता से पीडित राजा ने स्व-मंत्री से कहा कि- यदि हमारें जीवन से प्रयोजन हैं तो सात दिन के मध्य में उस स्त्री की शुद्धि ले आओ।

मंत्री ने राजेश्वरी देवी की आराधना की। देवी ने प्रकट होकर कहा कि- तुम वर माँगों। उसने कहा कि- तुम कंचुक की स्वामीनी

स्त्री को लाकर के मेरे राजा को दो । देवी ने भी कहा कि- हे मंत्री ! यदि सूर्य पश्चिम में उदय होता है और चंद्र अंगार को छोड़े, तो भी प्राणांत में भी वह सती शील का लोप नहीं करेगी । फिर भी तेरा स्वामी कदाग्रह को नहीं छोड़ता, तो मैं उसे लाकर के देती हूँ । फिर से भी तुम मेरा स्मरण मत करना । इस प्रकार से कहकर और सहसा ही वहाँ जाकर के उसका अपहरण कर राजा के आगे रखकर वह तिरोहित हुई । राजा उसे आयी जानकर अनेक प्रकार से प्रार्थना करने लगा । उसे सुनकर स्त्री ने कहा कि- हे राजन् ! मैं प्राणान्त में भी शील का खंडन नहीं करूँगी । उसे सुनकर राजा ने विचारा कि- स्वभाव से ही स्त्रियों के मुख में न-कार होता है, परंतु यह मेरे आधीन ही है, इसलिए ही धृष्ट के चित्त को धीरे से प्रसन्न करना चाहिए । जैसे कि-

सहसा ही कार्य न करें, अविवेक परम-आपदाओं का स्थान हैं ।
गुण में लुब्ध हुई संपदाएँ स्वयं ही विचार कर करनेवालों का वरण करती हैं ।

प्रतिदिन रानी हृदय में पति का ही स्मरण कर रही थी ।

इस ओर पूर्व में गज से भय-भीत हुए और अरण्य के अंदर भ्रमण करते हुए सुतार-पुत्र और श्रेष्ठी के पुत्र उन दोनों ने बाँस के कुंज के मध्य में रहे हुए मंत्र साधक को देखा । साहसिक नर-युगल को देखकर साधक ने भी कहा कि- हे कुमारों ! तुम दोनों मेरे उत्तर-साधक बनो, जिससे कि मेरे कार्य की सिद्धि हो । उन दोनों के हाँ कहने पर साधक ने विद्या को साधी । साधक ने विद्या की सिद्धि होने पर उन दोनों को अदृश्य-अंजन, शत्रु-सैन्य मोहिनी और विमानकारिका विद्याएँ दी । भ्रमण करते हुए उन दोनों ने बेनातट को प्राप्त किया । वहाँ पर लोगों के मुख से स्व मित्र राजा को शोक सहित सुनकर, उसके विरह को दूर करने के लिए अंजन कर और अनंगलेखा के समीप में आकर के पट के ऊपर चित्रित कीये हुए अपने प्रिय के प्रतिबिंब में

आँखों को स्थापित की हुई उसे देखकर के उन दोनों ने उस चित्र-पट्ट का अपहरण किया । अश्रुओं से युक्त नेत्रोंवाली उसने कहा कि- मैंने तेरा कौन-सा अपराध किया है जो चित्रित कीये हुए प्रिय का भी अपहरण कर लिया ? क्या तुम मेरी हत्या से भी नहीं डर रहे हो । उसे दुःखित देखकर पट्ट उसे वितरण कर उन दोनों ने स्व-वृत्तान्त कहा ।

अनंगलेखा भी भर्ता के मित्रों को जानकर कहने लगी कि- हे भद्र ! हे देवर ! तुम दोनों मुझे शोक रहित करो । उन दोनों ने मंत्रवादी का स्वरूप कर राजा से कहा कि- हे राजन् ! तुम हमारें सदृश कार्य का आदेश करो । राजा ने उन दोनों से कहा कि- हे प्राज्ञों ! तुम दोनों कंचुक की स्वामिनी स्त्री को सम्यग् प्रकार से आजन्म पर्यंत मेरी वशवर्तिनी करो । यह सुनकर के उन दोनों ने तिलक-चूर्ण दिया । राजा तिलक कर वहाँ पर गया । उन दोनों के द्वारा पूर्व में कीये हुए संकेत से अनंगलेखा ने राजा को देखकर अभ्युत्थान आदि किया । राजा ने उसे स्वाधीन मानकर के पुनःपुनः उसके देह-संग की याचना की । उसने कहा कि- हे राजन् ! मैं अष्टापद-पर्वत के ऊपर जिन को नमस्कार कर स्व-इच्छित सौख्य को साधूँगी । यह सुनकर के उस कामान्ध राजा ने चाटुकारी वाक्यों से शीघ्र से उन दोनों से प्रार्थना की और उन्होंने आकाश-गामी विमान किया ।

राजा ने उसे कहा कि-हे स्त्री ! तुम इस विमान से स्व-अभिग्रह को पूर्ण कर मेरे मनोरथ को पूर्ण करो । अनंगलेखा ने कहा कि- हे राजन् ! तुम्हारें अंतःपुर से दो कन्याओं को तुम मेरे साथ भेजो ; जिनके साथ मैं मैं वार्ता आदि सुख का अनुभव करूँ । राजा के द्वारा वैसा करने पर और पूर्व में सुतार-पुत्र तथा वणिग्-पुत्र के उस विमान में चढ़ जाने पर अनंगलेखा उन दोनों कन्याओं के साथ में विमान में चढ़ी । आकाश में थोड़ी दूर जाकर के उन दोनों मित्रों ने

राजा से कहा कि- हे दुष्ट ! तुम शीघ्र ही इन स्त्रियों की आशा को छोड़ दो । यह सुनकर के राजा-विलक्ष हुआ । अब मित्र के दुःख को दूर करने के लिए वे दोनों विमान को उसके समीप में ले गये । दोनों मित्र और पत्नी को देखकर राजा प्रमुदित मनवाला हुआ । सभी ने राजा के आगे स्व-स्व वृत्तान्त कहा । राजा ने दोनों मित्रों के साथ में उन कन्याओं का विवाह कराया ।

एक दिन पिता इन्द्रदत्त ने स्व-पुत्र को बुलाकर और राज्य के ऊपर स्थापित कर प्रव्रज्या ग्रहण की । कितने ही दिनों के बाद में घाति कर्म-क्षय और केवल ज्ञान को प्राप्त किया । वहाँ पर देवों ने स्वर्ण सिंहासन की रचना की । तब परिवार से युक्त श्रीहरिवाहन ने मुनीश्वर को प्रणाम कर देशना सुनी - विषय रूपी मांस में लुब्ध हुए मनुष्य जगत् को शाश्वत मानते हैं और समुद्र के तरंग के समान चपल ऐसे आयु को नहीं देखते हैं ।

देशना के अंत में राजा ने मुनि-प्रभु से पूछा कि- हे स्वामी ! मेरा आयु कितना है ? यह सुनकर केवली ने कहा कि- हे राजन् ! तेरी आयु नव प्रहर मात्र है । इस प्रकार से सुनकर वह अंगों से काँपता हुआ मरण से डरने लगा । तब मुनि ने कहा कि- हे राजन् ! यदि तुम मृत्यु के निर्वेद से डर रहे हो तो दीक्षा का स्वीकार करो । जैसे कि-

अंतर्मुहूर्त मात्र भी विधि से की हुई प्रव्रज्या दुःखों का अंत करती है, चिर काल से की हुई प्रव्रज्या के बारें में हम क्या कहें ?

इस प्रकार से ज्ञानी के वचन को सुनकर भव से निर्वेद को प्राप्त हुए राजा ने स्त्री और मित्रों के साथ में दीक्षा ग्रहण की । तत्पश्चात् राजर्षि शुभ-भावना को भावित करते हुए- मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, इत्यादि शुभ-ध्यान से मरकर सर्वार्थसिद्ध नामक विमान में देव हुआ । वहाँ से च्यवकर वह विदेह में मोक्ष का आश्रय करेगा ।

उसके मित्र और अनंगलेखा आदि क्रम से स्वर्ग और मोक्ष में जायेंगे ।

जिनेन्द्र-मार्ग में भव में विरागता इस प्रकार से निर्वेद शब्द का अर्थ कहा गया है । उसके भाव रूपी सिंह को आश्रित कीये हुए हरिवाहन ने शीघ्र से सर्वार्थसिद्धि पुर को प्राप्त किया । (अथवा उस भाव रूपी सिंह को आश्रित करनेवाले वाहन ने इष्ट की सिद्धि करनेवाले सर्वार्थ सिद्धि को प्राप्त किया) ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में तैंतालीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



चवालीसवाँ व्याख्यान

अब अनुकंपा संग्रह नामक चतुर्थ लक्षण कहा जाता है-

सदा ही दीन, दुःखी और दारिद्र्य प्राप्त प्राणिओं की दुःख निवारण में वाञ्छा, वह अनुकंपा कही जाती है । मोक्ष के फलवाले दान में पात्र-अपात्र की विचारणा करनी चाहिए । सर्वज्ञों ने दया-दान का कहीं पर भी निषेध नहीं किया । साधु निर्गुण प्राणियों पर भी दया करते हैं । चंद्र चांडाल के घर में से ज्योत्स्ना का संहरण नहीं करता ।

इस विषय में यह प्रबंध है-

अपकारी के ऊपर भी पंडित विशेष से दया करें, जैसे कि-श्रीवीर ने डँसते हुए सर्प को प्रतिबोधित किया था ।

कनकखल नामक तापस-आश्रम में छद्मस्थ श्रीवीर-जिन चंडकौशिक सर्प को प्रतिबोधित करने के लिए आये थे । वह सर्प पूर्व भव में साधु था । वह साधु पारणे के लिए जाते समय हुई मेंढकी की विराधना की आलोचना करने के लिए क्षुल्लक के द्वारा आवश्यक में स्मरण कराया गया । क्रोध से क्षुल्लक को मारने के लिए दौड़ते हुए

स्तंभ से टकराकर मृत हुआ और ज्योतिष्क में उत्पन्न हुआ । वहाँ से च्यवकर उस आश्रम में पाँच सो तापसों का स्वामी चंडकौशिक हुआ । वहाँ पर भी स्व-आश्रम के फल आदि को ग्रहण करनेवालों राज-कुमारों को देखकर परशु हाथ में लेकर दौड़ते हुए गड्ढे में गिरा और परशु से वींधा गया । मरकर के वहाँ पर पूर्व भव के नामवाला दृष्टि विष सर्प हुआ ।

प्रतिमा में स्थित प्रभु को देखकर क्रोध से जलता हुआ वह सूर्य को देख-देखकर के ज्वालाओं को छोड़ने लगा । उन ज्वालाओं के विफल हो जाने पर प्रभु के पैर में डँसते हुए उसने गाय के दूध के समान सफेद भगवान् के रक्त को देखा । हे चंडकौशिक ! बोधित हो, बोधित हो, इस प्रकार से उसने प्रभु के वचन को सुना । तत्क्षण ही जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त कर और प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर उसने अनशन का स्वीकार किया । विष से भरी हुई मेरी दृष्टि अन्य स्थान पर न जाय, इस प्रकार से बिल में मुख को रखकर वह स्थित हुआ । वहाँ पर घी और छास आदि का विक्रय करने के लिए जाती हुई गोपालिकाओं ने घी से उस सर्प को सिंचित किया । उससे चीटी आदि से अत्यंत पीड़ित किया जाता हुआ और प्रभु-भक्ति रूपी अमृत से सिंचित वह पक्ष के अंत में सहस्रार में गया । वहाँ से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करेगा ।

वैसे ही इस विषय में यह अन्य भी वार्ता हैं-

चौर ने अन्य रानीयों के द्वारा वस्त्र आदि से अलंकृत करने पर भी वैसे रति को प्राप्त नहीं की थी, जैसे कि छोटी रानी के द्वारा दीये गये अभय से प्राप्त की थी ।

वसन्तपुर में अन्य दिन चार वधूओं से युक्त अरिदमन राजा झरोखे में क्रीड़ा कर रहा था । तब पत्नीयों से युक्त उसने वध्य-स्थान पर ले जाते हुए एक चोर को देखा । पत्नीयों ने पूछा- इसने

कौन-सा अपराध किया हैं ? तब एक राज-पुरुष ने उसके स्वरूप को कहा कि- इसने चोरी की हैं । एक पत्नी को उसे देखकर दया आने से राजा के पास में पूर्व में दीये हुए वर को माँगा कि- यह चोर एक दिन के लिए छोड़ा जाय । राजा ने भी उसे स्वीकार किया । उस राज-पत्नी ने स्नान, भोजन, सत्कार आदि पूर्वक चोर को अलंकारों से अलंकृत किया । और हजार दीनारों के व्यय से शब्द आदि विषयों को प्राप्त कराएँ, एक दिन तक उसका पालन किया । द्वितीय दिन द्वितीय राज-पत्नी ने लाख दीनारों के व्यय से उसका लालन किया । तृतीय दिन तृतीय राज-पत्नी ने करोड़ दीनारों के व्यय से उस चोर का सत्कार किया । चतुर्थ राज-पत्नी ने राजा की अनुमति से अनुकंपा से मरण से उस चोर का रक्षण किया, अन्य कुछ-भी उपकार नहीं किया । तब अन्य पत्नीयाँ उस पर हँसने लगी कि- इसने कुछ-भी नहीं दिया । उपकार के विषय में उनका अत्यंत विवाद होने पर राजा ने चोर को ही बुलाकर पूछा कि- किसने तेरे पर बहुत उपकार किया हैं ? उसने कहा कि- मरण के भय से पीड़ित हुए मैंने स्नान आदि सुख को लेश से भी नहीं जाना था । सिंह के समीप में बाँधे हुए हरे जौ के भोजन करनेवाले बकरे के समान मैंने दुःख का ही अनुभव किया था । किन्तु मैं आज शुष्क, नीरस, तृण प्रायः सामान्य आहार से भी व्यवसायी के गृह में बाँधे हुए गाय के बछड़े के समान जीव की प्राप्ति से सुख का अनुभव कर रहा हूँ । उससे मैं आज नाच रहा हूँ । यह सुनकर राजा ने अभयदान की प्रशंसा की ।

पीड़ा की आस्थावाली राजा की स्त्रीयों ने चोर को छोड़ा था, उसके समान ही नित्य अनुकंपा करनी चाहिए । उससे यह शुद्ध सम्यग् दृष्टि का चौथा लक्षण पहचाना जाता हैं ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में चवालीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।

पैंतालीसवाँ व्याख्यान

अब पंचम लक्षण कहा जाता है-

अन्य तत्त्व के श्रवण करने पर भी प्रभुओं के द्वारा जो तत्त्व कहा गया है, निःशंक से उसे सत्य मानता है, वह आस्तिक्य नामक सुलक्षण है ।

इस विषय में पद्मशेखर राजा का उदाहरण है, जैसे कि-

पृथ्वीपुर में पद्मशेखर राजा विनयंधर सूरि के पास में प्रतिबोधित हुआ अतीव धर्म-परायण प्रति-दिन सभा में लोगों के समक्ष गुरु के गुणों का कीर्तन करता था, जैसे कि-

अन्य जन को प्रमाद से वापिस लौटाते हैं और स्वयं ही निष्पाप मार्ग में प्रवर्तन करते हैं, तत्त्व को कहते हैं जो मोक्ष-अभिलाषी प्राणियों के हित की इच्छा करते हैं वे गुरु कहे जाते हैं । वंदन कीये जाते हुए उत्कर्ष को प्राप्त नहीं करते हैं, निंदा कीये जाते हुए प्रद्वेषित नहीं होते हैं । राग-द्वेष का नाश करनेवाले धीर मुनि चित्त से दमन करते हैं और आचरण करते हैं ।

दो प्रकार से गुरु कहे गये हैं, जैसे कि- तप-उपयुक्त और ज्ञान-उपयुक्त । वहाँ तप-उपयुक्त गुरु बट के पत्ते के समान केवल स्व को तारते हैं । ज्ञान-उपयुक्त गुरु जहाज के समान स्व-पर को तारते हैं । इत्यादि गुरु गुण के वर्णनों से उसने अनेक लोगों को धर्म में स्थापित किया । परंतु नास्तिक-मत अनुसारी एक जय नामक व्यापारी इस प्रकार से कहता था कि- स्व-स्व मार्ग में अनुगमन करने के स्वभाववाली इंद्रियों को रोकना दुःशक्य है । तप-मात्र आत्मा का शोषण ही है । स्वर्ग-मोक्ष को किसने देखें हैं ? जैसे कि-

हाथ में आये हुए जो ये काम हैं, वे भविष्य-काल में हो

अथवा न हो ? पुनः कौन जानता है कि परलोक हैं अथवा नहीं हैं ? जो कुछ-भी हैं, वह यह हैं । इस प्रकार से उसने भी बहुत लोगों को ठगा । इस प्रकार से पुण्य और पाप के उपदेश में कुशल वें दोनों भी उस नगर में प्रत्यक्ष सुगति-दुर्गति मार्ग के समान हुए थे ।

एक दिन राजा ने उसके स्वरूप को जानकर गुप्त-रीति से निज मनुष्य के पास से उसके गृह में लक्ष मूल्यवाला एक हार उसके आभरण करंडक में डालकर नगर में पटह बजवाया कि- जो अब राजा के गये हुए हार के बारे में कहेगा, उसे दंड नहीं होगा, किंतु बाद में जिसके गृह में प्राप्त होगा, उसे दंड दिया जायगा ; इत्यादि, जब कोई-भी नहीं मान रहा था, तब राजा के आदेश से राज-पुरुष नगर के गृहों का शोधन करने लगे । क्रम से जय के गृह में हार को प्राप्त किया । सेवक श्रेष्ठी को बांधकर राजा के समीप में ले आये । तब उस राजा ने आदेश दिया कि- इसका वध किया जाय और कोई-भी उसे न छुड़ाये । स्व-जन आदि के द्वारा बहुत कहने पर राजा ने कहा कि-

यदि मेरे गृह से तैल से भरे हुए पात्र को ग्रहण कर, बिंदु मात्र को भी नहीं गिराते हुए सकल नगर में भ्रमण कर मुझसे मिलता हैं, यदि वह इस प्रकार से करता हैं, तभी इसे छोड़ा जायगा, अन्यथा नहीं । उसने भी मरण के अत्यंत भय से उसे स्वीकार किया ।

अब पद्मशेखर राजा ने सकल नगर के लोगों को आदेश दिया कि-स्थान-स्थान पर वीणा, बाँसुरी और मृदंग बजाओ, अति सुंदर रूप लावण्य वेष विशेषवाले बनकर घूमो और स्थान-स्थान पर विलासों से युक्त तथा सर्व-इन्द्रियों को सुखकारी सैंकड़ों नाटक हो । उन कार्यों में विशेष से रसिक होते हुए भी जय ने उसी पात्र में दृष्टि को स्थापित की थी । उसके दोनों ओर रहे हुए तलवार से युक्त हाथवाले ऐसे राजा के द्वारा नियुक्त कीये गये सुभट उसे विविध

डराने की क्रियाओं को करने के द्वारा डराने लगें, इस प्रकार सकल नगर में भ्रमण कराकर लाया गया ।

राजा ने भी थोड़ा हँसकर के उसे कहा कि- हे श्रेष्ठी ! अत्यंत चंचल भी मन और इंद्रियों को तुमने कैसे रोके थें ? उसने कहा कि- हे स्वामी ! मरण के भीरुपने से, राजा ने कहा कि- यदि तूने एक भव के लिए अप्रमाद का सेवन किया था, तो अनंत संसार और मरण से भयवालों साधु आदि कैसे प्रमाद करें ? हे श्रेष्ठी-राज ! तुम हितकारी वचन सुनो-

जिससे कि इंद्रिय समूह को नहीं जीतनेवाला दुःखों से बाधित किया जाता हैं, उससे सर्व दुःखों से विमुक्ति के लिए इंद्रियों को जीतें। इंद्रियों का सर्वथा विजय होना अघटित नहीं हैं। राग-द्वेष से विमुक्ति की प्रवृत्ति भी उनकी जय हैं। सदा संयमी योगीयों के इंद्रिय हत-अहत होते हैं। हित प्रयोजनों में इंद्रिय अहत होते हैं और अहित वस्तुओं में इंद्रिय हत होते हैं।

यह सुनकर प्रतिबोधित हुए उसने जिन-मत के तत्त्व को जानकर श्रावक-धर्म का स्वीकार किया। पद्मशेखर राजा ने इस प्रकार से बहुत जनों को धर्म में संस्थापित कर स्वर्ग को प्राप्त किया।

गुणों से युक्त आस्तिक नर गण जिन-मत में आस्था को करते हुए निर्मल मन से पद्मशेखर राजा के चरित्र का विचार करें।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में तृतीय स्तंभ में पैतालीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।

यह तृतीय स्तंभ समाप्त हुआ।



चतुर्थ स्तंभ

छियालीसवाँ व्याख्यान

अब छह यतनाओं के मध्य में से प्रथम दो का वर्णन किया जाता है-

अन्य तीर्थिक के देवों को तथा अन्यो के द्वारा ग्रहण कीये हुए अरिहंतों को कदापि पूजन और वंदन नहीं करना चाहिए ।

पर-तीर्थिक देव-शंकर आदि हैं, उनकी पूजा आदि नहीं करनी चाहिए, यह प्रथम यतना है । तथा अन्यो के द्वारा-सांख्य आदि के द्वारा, ग्रहण कीये हुए- स्व-आश्रम में स्थापित कीये हुए, अरिहंतों को- जिन-मूर्तियों को भी, प्रसंग, दोष-वृद्धि के कारण से वंदन आदि नहीं करना चाहिए, यह द्वितीय यतना है, यह तात्पर्य है ।

इस विषय में संग्रामशूर का प्रबंध है-

पद्मिनीखंड नगर में संग्रामदृढ़ राजा हैं और उसका पुत्र संग्रामशूर हैं । वह प्रति-दिन शिकार करता था । एक दिन पिता ने असद्-आग्रह को नहीं छोड़ते उस संग्रामशूर की तर्जना कर नगर से बाहर निकाल दिया । वह नगर के बाहर स्थान बनाकर स्थित हुआ । दिन में कुत्ते के समूह को आगे कर और अरण्य में प्राणियों को मारकर प्राण-वृत्ति करता था । एक दिन कुत्ते के समूह को वहीं छोड़कर वह किसी ग्राम में गया । उस समय उस उद्यान में सूरि पधारें थें । सूरि ने उन कुत्तों को प्रतिबोधित करने के लिए मधुर वचन से कहा कि-

जो महा-पापी पुरुष क्षण-मात्र सुख के लिए जीवों को मारतें हैं, वे भस्म के लिए हरिचंदन-वन खंड का दहन करतें हैं ।

यह सुनकर प्रतिबोधित हुए उन्होंने यावज्जीव प्राणिवध नियम का ग्रहण किया । अब संग्रामशूर वहाँ से आकर जीवों को

मारने के लिए कुत्तों के समूह को छोड़ा, परंतु चित्र में चित्रित कीये हुए के समान उन कुत्तों को देखकर संग्रामशूर ने उनके अधिकारियों को पूछा । वैं भी कहने लगे कि- हे स्वामी ! हम विशेष कारण को नहीं जानते हैं, परंतु चेष्टा से साधु-आगमन से प्रतिबोधित हुए जानें जाते हैं । इसे सुनकर वह सोचने लगा कि- अहो ! पशु-समूह से भी मुझे धिक्कार हो । उसने गुरु-समीप में धर्म को सुना, जैसे कि-

बारह दोषों से वर्जित जिन देव हैं । मिट्टी के ढेले और स्वर्ण में समानता वाले सुसाधु गुरु हैं । पुनः जीव-दया से सुंदर धर्म हैं, सदा वही यहाँ पर यह रत्न-त्रय हैं ।

यह सुनकर संग्रामशूर ने गृहस्थ धर्म का अंगीकार किया । राजा ने उसे युवराज पद पर स्थापित किया । मतिसागर नामक कुमार का मित्र जहाज से बहुत धन का उपार्जन कर पूर्व के मित्र से मिलने के लिए वहाँ पर आया । कुमार ने कुशल प्रश्न पूर्वक उससे द्वीपसमुद्र आदि की वार्ता पूछी । उसने भी कहा कि- हे मित्र ! जहाज में चढ़ा हुआ मैं भरतावधि के मध्य भाग में अत्यंत ऊँचे कल्पवृक्ष की शाखा में झूलते हुए पलंग में स्थित, सकल स्त्रियों में तिलक-समान, गीत आदि शब्द से किन्नरीयों को दासी करनेवाली दिव्य तरुणी को देखकर जब मैं जहाज को उसके समीप में ले आया, तब कल्पवृक्ष और मेरे मनोरथ के साथ ही वह समुद्र के मध्य में निमग्न होती हुई देखी गयी । इस आश्चर्य से मैं भी चमत्कृत हुआ । उससे मैंने आज तेरे आगे कहा है । काम प्रसर से जर्जरित हुआ अंगवाला कुमार मित्र के साथ जहाजों को भरकर क्रम से समुद्र के मध्य प्रदेश में आया । दूर से वैसे ही क्रीड़ा करती हुई उसे देखा । जब राज-पुत्र उसके समीप में गया, तब वह पूर्व के समान ही निमग्न हो गयी । हाथ में तलवार लेकर राज-पुत्र ने उसके पीछे छलांग दी । वहाँ जलकान्त मणि से

निर्मित सात भूमिवाले महल के ऊपर के भाग में गिरा । वहाँ से वह नीचली भूमि में गया । वहाँ पर कल्पवृक्ष की शाखा के ऊपर लटकते हुए पलंग में सोयी हुई और सूक्ष्म वस्त्रों से सर्व अंगों में ढंकी हुई उसे देखकर वस्त्र को दूर किया । उसने भी उठकर के उसे पलंग के ऊपर बिठाया । तरुणी के पूछने पर उसने स्व-कुल आदि को कहा और अपने चरित्र को कहकर वह इस प्रकार से उसके चरित्र को सुनने लगा-

वैतादय पर्वत के ऊपर दक्षिण-श्रेणि में विद्युत्प्रभ राजा की मैं मणिमंजरी नामक पुत्री हूँ । एक दिन मेरे पिता ने नैमित्तिक से पूछा कि- मेरी पुत्री का योग्य स्वामी कब और कौन होगा ? तब नैमित्तिक ने कहा कि- हे राजन् ! तुम समुद्र के मध्य में जलकान्त रत्न का महल कराकर कल्पवृक्ष से लटकते हुए पलंग में बैठी हुई इसका रक्षण करो । वहाँ पर शूरसेन का पुत्र संग्रामशूर इसका वर आयगा । इस प्रकार नैमित्तिक के वचन से मेरे पिता ने यह सर्व निर्माण कराया है । यहाँ पर बहुत दिनों के बाद तुम देखे गये हो । इस प्रकार परस्पर प्रेम से भरे हुए वार्त्ता के अवसर में हाथ में नग्न तलवार को धारण कीये, ताड़ और तमाल वृक्ष के पत्ते के समान काले अंगवाला तथा विकराल भाल स्थलवाला एक राक्षस सहसा ही प्रकट होकर के कुमार से कहने लगा कि- हे आर्य-पुत्र ! मैं सात दिनों से भूखा हूँ । तुम मेरे भक्ष्य से कैसे विवाह करने की वांछा कर रहे हो ? इस प्रकार से कहकर नूपुर सहित उसे पादतल से निगलना प्रारंभ किया । तब कुमार ने तलवार से उसे मारा । तलवार दो भागों में हुई । कुमार ने बाहु-युद्ध किया । राक्षस ने उसे बाँधकर और भूमि के ऊपर गिराकर के कहा कि- हे राज-नंदन ! यदि तुम मुझे एक अन्य स्त्री अथवा तेरे स्थूल काय को दोगे, तो मैं तेरी प्रिया को छोड़ूँगा । यदि तुम ऐसा करने

मैं समर्थ नहीं हो, तो मेरे गुरु चरक परिव्राजक को प्रणाम करो । अथवा मेरे महल में विष्णु की मूर्ति और जिन-बिंब भी हैं, तुम उनको प्रणाम कर पूजा करो । अथवा तुम मेरी प्रतिमा कराकर नित्य पूजा करो । अन्यथा मैं इसे संपूर्णतया निगलूँगा ।

कुमार ने कहा कि- हे राक्षस ! जीवन के अंत में भी जिनवर और सुसाधु को छोड़कर मैं अन्य को नमस्कार नहीं करता । निष्कारण मैं स्थावर की भी हिंसा नहीं करता, तो अन्य की क्या बात? हे देव ! तुझे भी ऐसा कहना योग्य नहीं है । राक्षस ने कहा कि- हे राज-पुत्र ! यहाँ जिन-मंदिर में तुम वीतराग बिंब की पूजा करो । वहाँ हर्ष सहित जाकर और बौद्ध के द्वारा पूजित उस बिंब को देखकर तथा वापिस लौटकर कुमार ने कहा कि- हे देव ! शिर-छेद होने पर भी मैं तेरा कहा नहीं करूँगा । यह सुनकर उस राक्षस ने तरुणी को पैर से निगलना प्रारंभ किया ।

तब वह बाला अति करुण स्वर से विलाप करने लगी कि- हा नाथ ! हे प्राण-प्रिय ! मरण से तुम मेरा रक्षण करो । इस प्रकार से विलाप करती हुई उसे कंठ रूपी लता तक निगलकर राज-पुत्र से कहने लगा कि- रे मूर्ख-शेखर ! यदि तुम दासी नहीं दे सकते हो तो एक बकरा दो, नहीं तो इस बाला का भक्षण कर मैं तेरा भक्षण करूँगा । तब कुमार ने राक्षस से कहा कि- कल्पान्त काल में भी मैं तेरा कहा नहीं करूँगा । तुम बार-बार क्यों पूछ रहे हो ? उस कुमार के निश्चलत्व से संतुष्ट हुए दिव्य रूपधारी देव ने कहा कि- हे साहसिक-शेखर ! मैं इन्द्र के द्वारा की गयी तेरी प्रशंसा की श्रद्धा नहीं करते हुए तेरी परीक्षा करने के लिए यहाँ पर आया हूँ । मैं तेरी कृपा से सम्यक्त्वधारी हुआ हूँ । कुमार के साथ मैं बाला का गन्धर्व-विवाह का निर्माण कर देव स्वर्ग में चला गया । महोत्सव के साथ कुमार भी उससे विवाह

कर स्व-ग्राम में आया । कुमार को राज्य के ऊपर स्थापित कर पिता ने व्रत ग्रहण किया । संग्रामशूर राजा भी श्रावक धर्म का परिपालन कर पाँचवें कल्प में एकावतारपने से देव हुआ ।

आद्य दो यतनाओं में चित्त को स्थापित करनेवाले और राजाओं में प्रधान संग्रामशूर ने कष्ट में भी अहिंसा के नियमों का परिपालन कर श्रीब्रह्मकल्प को अलंकृत किया ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में चतुर्थ स्तंभ में छियालिसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



सैंतालीसवाँ व्याख्यान

अब अन्य चार यतनाओं का वर्णन किया जाता है-

मिथ्यात्व से लिस चित्तवालों से एक बार या बहुत बार संलाप-आलाप का वर्जन तथा एक बार या बहुत बार अशन आदि न दें ।

मिथ्या दृष्टिवालों से- चरक आदियों से स-स्नेह तुमको कुशल है, इस प्रकार से पुनः पुनः पूछना संलाप है । उनसे एक बार पूछना आलाप है । उनको एक बार अथवा अनेक बार दान (भोजन आदि) न दें । इस प्रकार से ये तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी यतना हैं । कृपावंतों के द्वारा कहा गया है कि-

आज के बाद मुझे अन्य तीर्थिक के देवताओं को अथवा अन्य तीर्थिकों के द्वारा ग्रहण कीये हुए अरिहंतों के चैत्यों को वंदन करना अथवा नमस्कार करना अथवा पूर्व में आलाप कीये बिना आलाप या संलाप करना अथवा उनको अशन (भोजन) या पान या खादिम या स्वादिम को देना अथवा अनुप्रदान करना नहीं कल्पता है, इसका

यह तात्पर्य हैं ।

इस विषय में सद्दालपुत्र का उदाहरण उपासकसूत्र से लिखा जाता है-

पोल्लास नामक नगर में पाँच सो कुंभकार दूकानों का स्वामी, तीन करोड़ स्वर्ण का अधिपति, दस हजार गायों का पोषक और मंखलि-पुत्र के धर्म को जाननेवाला सद्दालपुत्र था । उसकी अग्निमित्रा पत्नी थी ।

एक बार एक देव श्रेष्ठी के समीप में आकर और अंतरीक्ष में स्थित होकर उससे कहा कि- हे श्रेष्ठी ! कल इस नगर में महा-माहन अरिहंत और सर्वज्ञ आयेंगे । तुम भक्ति से ये कल्याण, मंगल, दैवत और चैत्य स्वरूप है इस प्रकार की बुद्धि से उनकी उपासना करना । इस प्रकार से कहकर देव के चले जाने पर सद्दालपुत्र ने सोचा कि- मेरे धर्म-उपदेशक गोशालक हैं, वे ही महामाहन और सर्वज्ञ कल आनेवाले हैं । मैं भी उनकी भोजन आदि से उपासना करूँगा । प्रातःकाल में श्रीवीर आगमन को सुनकर आनंदित हुआ महोत्सव पूर्वक उनको वंदन करने के लिए गया । दूर से ही प्रातिहारी आदि शोभा को देखकर अहो ! सद्-गुरुओं की यह शक्ति अचिन्तनीय हैं, इस प्रकार से विचार करते हुए जिन को प्रणाम कर आगे बैठा । पश्चात् देशना का श्रवण करने लगा ।

वीर ने पूछा कि- हे सद्दालपुत्र ! कल देव ने जो तुझे कहा था, वह स्मृतिपथ में हैं ? हाँ हैं, इस प्रकार से कहकर उसने कहा कि- हे स्वामी ! आप मेरी कुंभकार-शाला में आओ, जिससे कि मैं आपकी उपासना करूँ । भगवान् ने भी वैसा किया । एक दिन धूप में रखें हुए घड़ों को देखकर जिन ने उसे कहा कि- हे श्रेष्ठी ! ये घड़े किस उपाय से बनाये गये हैं ? उसने कहा कि- हे स्वामी ! पिंड का करना

और चक्र पर रखकर आदि के द्वारा बनाये जाते हैं । तब भगवान् ने उसे पूछा कि- हे भद्र ! क्या तुम घड़ों को प्रयत्न से अथवा इतर प्रकार से करते हो ? गोशालक मत से और नियतिवादीपने से 'प्रयत्न से होता है' इस प्रकार से उत्तर देने में स्व-मत की क्षति और पर-मत की अनुमति दोष को जानते हुए उसने 'बिना प्रयत्न के' इस प्रकार से उत्तर दिया ।

प्रभु ने पुनः उससे प्रश्न करते हुए कहा कि- हे सद्दालपुत्र ! यदि कोई जन तेरे घड़ों का अपहरण करें अथवा तोड़ दें अथवा तेरी पत्नी के साथ में भोगों को भोगे, उसे तुम कौन-सा दंड दोगे ? उसने कहा कि- हे भगवन् ! मैं अकाल में ही उसे जीवन से नष्ट कर दूँगा और उसकी तर्जना करूँगा । स्वामी ने कहा कि- इस प्रकार उद्यम के पारतंत्र्य से सर्व कार्यों को करते हुए तुम 'बिना प्रयत्न के' इस प्रकार से जो कह रहे हो, वह मिथ्या हैं । एकान्त मत से स्वीकार किया हुआ वह असत्य हैं । भगवान् के द्वारा कही हुई युक्ति से प्रतिबोधित हुए उसने जिन के समीप में श्रावक-धर्म का अंगीकार किया । उसकी पत्नी ने भी पाँच अणुव्रत और सात शिक्षा-व्रत स्वरूपवाले धर्म का स्वीकार किया । वहाँ से जिन अन्य देश में विहार करने लगे ।

एक दिन सद्दालपुत्र के धर्म प्राप्ति के स्वरूप को सुनकर गोशालक उसके गृह में आया । उसे आते हुए देखकर सद्दालपुत्र भी मौन से रहते हुए अभ्युत्थान आदि नहीं किया । तब लज्जा से मंखलि-पुत्र ने इस प्रकार से भगवान् का गुण-वर्णन किया कि- हे देवानुप्रिय ! पूर्व में यहाँ पर महा-माहन आये थे । उसे सुनकर सद्दालपुत्र ने कहा- आपके द्वारा महामाहन कौन कहें गये हैं ? गोशालक ने कहा कि- हे सद्दालपुत्र ! सूक्ष्म आदि भेदों से भिन्न जीवों को मारने से निवृत्त होने से श्रीवीर ही महा-माहन हैं । हे

श्रमणोपासक ! यहाँ पर महा-गोप, महा-सार्थवाह, महा-धर्मकथक और महा-निर्यामक आये थे ।

यह सुनकर सद्दालपुत्र ने कहा कि- तुमने यह किसका कीर्तन किया है ? गोशालक ने कहा कि- मैंने यह सर्व भी महावीर का वर्णन किया है । गोशालक के वाक्य से संतुष्ट हुए सद्दालपुत्र ने बहुमान से उसे कहा कि- क्या तुम मेरे गुरु के साथ में वाद करोगे ? उसने कहा कि- हे भद्र ! मैं वाद में समर्थ नहीं हूँ । तुम्हारे धर्म-आचार्य एक वाक्य से मेरा निराकरण करेंगे । तब सद्दालपुत्र ने कहा कि- तुमने सर्वज्ञ का यथार्थ वर्णन प्रकट किया है, उससे मैं सत्कार-पूर्वक तुम्हें अशन-वस्त्र आदि दे रहा हूँ, किंतु धर्म से नहीं । इत्यादि वचन की युक्ति से उसे निर्ग्रन्थ प्रवचन में अत्यंत दृढ़ जानकर विलक्ष होते हुए गोशालक अन्यत्र चला गया ।

एक दिन पंद्रह वर्ष के मध्य में जब धर्म में एक निष्ठ सद्दालपुत्र पौषध से रहा था, तब हाथ में तीक्ष्ण तलवार धारण कर एक देव पिशाच रूप से आकर के उपसर्गों को करने लगा । उसके घर से एक पुत्र को लाकर और उसका छेदन-भेदन कर उसके रुधिर से पौषध में स्थित सद्दालपुत्र के शरीर का सिंचन करने लगा । तो भी वह कोप रहित था । भय रहित उसे देखकर देव ने कहा कि- हे अप्रार्थनीय की प्रार्थना करनेवाले ! यदि तुम धर्म को नहीं छोड़ते हो, तो मैं तेरे आगे तेरी पत्नी का भी घात करूँगा ।

इस प्रकार से बार-बार उस देव के वाक्य को सुनकर उसने सोचा कि- मैं इस अनार्य को ग्रहण करता हूँ, इस प्रकार से सोचकर बड़े शब्द से तिरस्कार पूर्वक जब वह उसे पकड़ने के लिए उत्सुक हुआ, तब वह देव अदृश्यत्व को प्राप्त हुआ । उस कोलाहल को सुनकर और स्वामी के समीप में आकर पत्नी के उस समय के

स्वरूप के पूछने पर सद्दालपुत्र ने जैसा हुआ था, वह सब कहा। वह सर्व सुनकर पत्नी ने कहा कि- हे स्वामी ! किसी ने भी तुम्हारे पुत्र और पत्नी आदि को नहीं मारा है, परंतु तुम्हारे द्वारा व्रत-भंग किया गया है, वह योग्य नहीं है। उसके बाद उस पाप की आलोचना और प्रतिक्रमण कर तथा क्रम से ग्यारह श्रावक की प्रतिमाओं को संपूर्ण कर सौधर्म कल्प में चार पल्योपम की आयुवाला देव हुआ। वहाँ से च्यवकर महाविदेह में सिद्ध होगा। इस प्रकार से उपासक-दशांग से यह प्रबंध लिखा गया है।

जिनेन्द्र के वाक्य से विबोधित हुए चित्तवाले, गोशालक पक्ष की बुद्धि को दूर करनेवाले, सम्यक्त्व की यतना धारण में प्रवीण (अथवा सम्यक्त्व की शुद्धि से यतना) सद्दालपुत्र ने स्वर्ग को प्राप्त किया।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में चतुर्थ स्तंभ में सैंतालीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।



अडतालीसवाँ व्याख्यान

अब छह आगारों का अधिकार कहा जाता है -

जिन आदि ने अपवाद में छह प्रकार के आगार कहे हैं।

वृत्तिकान्तार, गणयुग, राज, गुरु, बल और देव युक्त-यें छह आकार(आगार) हैं।

(कहीं पर-राज-गुरु-वृत्ति कांतार-बल और देव से युक्त, इस तरह से हैं)।

यहाँ पर यह भावना है कि- इस सम्यक्त्व में अपवाद में ही आगार हैं किन्तु उत्सर्ग में नहीं हैं। क्योंकि-

थोड़े उत्सर्ग में सूत्र हैं, थोड़े अपवाद में सूत्र होते हैं और कुछ उन दोनों के सूत्र हैं, इस प्रकार श्रुत के भांगे जानें ।

अतः गुण विभाग को देखकर उभय पक्ष की सेवा करनी चाहिए । जो कि कहा गया है कि- उस कारण से सर्वज्ञ के द्वारा प्रवचन में सर्व निषेध नहीं किया गया हैं । लाभ की आकांक्षावाले व्यापारी के समान आय-व्यय की तुलना करें ।

उत्सर्ग-पक्ष तो यथाख्यात-चारित्रधारीयों का निरतिचार मार्ग है और वह सम्यक् प्रकार से सेवन नहीं किया जा सकता हैं, क्योंकि अब उस प्रकार से संहनन आदि का अभाव होने से । इसलिए अपवाद का सेवन करके भी पुनः आलोचना आदि से आत्मा को शुद्ध करना चाहिए । यह भावार्थ हैं ।

अब प्रथम यह राजाभियोग कहा जाता हैं -

राजा के दाक्षिण्य से, बल से अथवा वाक्य से भी कुदृष्टि-
वालों को नमस्कार करना राजाभियोग कहा जाता हैं ।

इस विषय में कार्तिक-श्रेष्ठी का उदहारण हैं-

पृथ्वीभूषण नगर में श्रीमुनिसुव्रत जिन से धर्म को प्राप्त करनेवाला कार्तिक नामक श्रेष्ठी रहता था । एक बार मासोपवासी गैरिक तापस वहाँ पर आया । एक श्रेष्ठी के बिना सभी जन उसके भक्त हुए । वह जानकर गैरिक कार्तिक के ऊपर रुष्ट हुआ ।

एक बार राजा के द्वारा निमंत्रित करने पर उसने कहा कि- यदि कार्तिक परोसेगा तो मैं तुम्हारे गृह में पारणा करूँगा । राजा ने- वैसा ही स्वीकार कर श्रेष्ठी से कहा कि- मेरे गृह में तुम गैरिक को भोजन कराओं । तब श्रेष्ठी ने कहा कि- हे राजन् ! मैं आपकी आज्ञा से भोजन कराऊँगा, राजाभियोग से इस प्रकार के आकार(आगार) से स्व व्रत को अखंड मानकर के । श्रेष्ठी के द्वारा भोजन कराये जाते हुए

गैरिक ने-तुम धृष्ट हो इस प्रकार अंगुलि से नाक-चेष्टा की। श्रेष्ठी ने सोचा कि- यदि मैंने पूर्व में ही दीक्षा ग्रहण की होती तो यह पराभव नहीं करता, इस प्रकार से सोचकर एक हजार और आठ वणिक-पुत्रों के साथ में चारित्र ग्रहण कर और द्वादशांगी पढ़कर बारह वर्ष की पर्यायवाला सौधर्मेन्द्र हुआ। वह गैरिक भी निज धर्म से सौधर्मेन्द्र का वाहन ऐरावण हाथी हुआ। यह कार्तिक है, इस प्रकार से जानकर पलायन करते हुए उस ऐरावण को पकड़कर इन्द्र उसके शीर्ष पर चढ़ा। ऐरावण ने इन्द्र को डराने के लिए दो रूप कीये। इन्द्र ने भी वैसा ही किया। इस प्रकार से उन दोनों ने चार रूप कीये। इन्द्र ने अवधि ज्ञान से उसके से स्वरूप को जानकर उसकी तर्जना की। अपमान करने पर हाथी ने स्वभाविक रूप किया। इन्द्र वहाँ से च्यवकर महाविदेह में सिद्ध होगा। विशेष से इसकी व्याख्या पंचम अंग से जानी जाय।

इधर राजा की आज्ञा होने पर भी कोई अपने व्रत को नहीं छोड़ते हैं। इस विषय में कोशा का वृत्तांत है, जैसे कि-

पाटलीपुर में निरुपम रूप और लावण्य तथा कला-कौशल आदि गुण रूपी मणि के लिए भंडार के समान कोशा नामक वेश्या थी। उसके प्रतिबोध के लिए गुरु के आदेश से स्थूलभद्रमुनि ने उसके गृह में चतुर्मास किया था। अनेक हाव-भाव, विभ्रम और विलासों को करने पर भी मुनि ने उनकी अवगणना कर उसे प्रतिबोधित किया। उसने राज-पुरुष के द्वारा छोड़े हुए पुरुष के बिना अन्य पुरुष का नियम ग्रहण किया।

इस ओर एक बार उसके व्रत का खंडन करने के लिए नन्दराजा के द्वारा छोड़ा हुआ, रूप से कामदेव सदृश और कामातुर कोई रथकार उसके गृह में आया। उसने कोशा के मनोरंजन के लिए

भू-तल के ऊपर स्थित होकर के धनुर्वेद की कला से बाण के पीछे बाण का संधान कर आम्रवृक्ष से आम्र-राशि को संगृहीत कर स्व-कला दिखायी । तथा सर्व वाक्-चातुर्य और स्व-बल भी दिखाया । तब विषय से विरक्त हुई उस कोशा ने कहा कि-

जलते हुए लोह स्तंभ का आलिंगन किया जाय, यह श्रेष्ठ है, लेकिन नरक का द्वार ऐसा स्त्री-जाँघ का सेवन उचित नहीं है ।

तथा रथकार के गर्व को नीचे करने के लिए सरसवों के पुंज में डाली हुई सूई के आगे स्थित पुष्प के ऊपर नाचती हुई कहने लगी कि-

आम्र फलों के गुच्छों को तोड़ना दुष्कर नहीं है, सरसवों के ऊपर नाचना भी दुष्कर नहीं है । वह दुष्कर हैं और वही महानुभावता हैं, जो वें मुनि प्रमदा (स्त्री) रूपी वन में वृक्ष के समान स्थिर हुए थे ।

पर्वत, गुफा, एकान्त में और वन के अंदर निवास का आश्रय करनेवाले हजारों की संख्या में जितेन्द्रिय हैं । अति मनोहर महल में और युवति-जन के समीप में वह एक शकटाल-नन्दन (स्थूलभद्रमुनि) ही जितेन्द्रिय हैं ।

इत्यादि से उस रथकार के आगे श्रीस्थूलभद्र की प्रशंसा कर उसे प्रतिबोधित किया । विषय से विमुख हुए उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर क्रम से स्वर्ग को प्राप्त किया । वह कोशा वेश्या भी चिर समय तक जैन-शासन की प्रभावना करती हुई स्वर्ग-धाम में गयी ।

निज धर्म में रक्त कोई मनुष्य कोशा के समान राजा की आज्ञा से भी धर्म को नहीं छोड़ते हैं । जो स्व-बुद्धि से अन्य जनों को प्रतिबोधित करते हैं, वें मुक्ति मार्ग में मुसाफिर हैं ही ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में चतुर्थ स्तंभ में अडतालीसवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।

उन्चासवाँ व्याख्यान

अब गणाभियोग की व्याख्या की जाती हैं-

जिनेश्वरों के द्वारा जनों का समुदाय वह ही गण कहा गया है ।
उसके वाक्य से निषिद्ध का भी सेवन किया जाता है ।

गणाभियोग नामक यह द्वितीय आकार (आगार) कहा जा रहा है । उत्सर्ग पक्ष में स्थित कोई जन अभिग्रह को नहीं छोड़ते हैं ।

इस विषय में यह प्रबन्ध है-

पञ्चाल देश में जैन-धार्मिक सुधर्म नामक राजा था । एक बार गुप्त-चर ने राजा के आगे कहा कि- हे देव ! महाबल नामक चोर प्रजा को अतीव पीड़ित कर रहा है । उसे सुनकर राजा ने कहा कि- मैं वहाँ जाकर के निग्रहित करूँगा । क्योंकि-

मद-भर से आलसु गज तब तक वन में गर्जना करते हैं, जब तक सिर पर पूँछ को लगाकर सिंह नहीं आता ।

इस प्रकार से कहकर सैन्य समूह के भार से पृथ्वी-तल को नम्र करता हुआ उस चोर के समीप में आया । एक लीला से ही उसे जीतकर वह स्व-नगर में आया । प्रवेश के समय में मुख्य दरवाजा गिरा । वह अपशकुन हुआ, इस प्रकार से जानकर राजा वापिस लौटकर नगर के बाहर ठहरा । मंत्रीयों ने शीघ्र से वैसा ही दरवाजा कराया । इस प्रकार से दूसरे-तीसरे दिनों में भी उस दरवाजे को गिरते हुए देखकर राजा ने मंत्री से पूछा कि- हे मंत्री ! यह दरवाजा बार-बार क्यों गिर रहा है ? मंत्री ने कहा कि- हे राजन् ! यदि अपने हाथों से ही एक पुरुष को मारकर और उसके रस से सिंचित किया जाय तो नगर-द्वार का अध्यक्ष यक्ष संतुष्ट होगा और अन्य पूजा, बलि, नैवेद्य आदियों से संतुष्ट नहीं होगा । इस प्रकार के चार्वाक पक्षीय वाक्य को सुनकर राजा ने कहा कि- मुझे इस नगर से क्या प्रयोजन है, जिस नगर

में जीव-वध किया जायगा । उस स्वर्ण-आभरण से क्या करें जिससे कान टूटता हो । दूसरी बात यह है -

हमेशा जीवन, बल और आरोग्य की इच्छा करनेवाला राजा स्वयं ही हिंसा न करें, और प्रवृत्त हुए का निवारण करें ।

राजा को निश्चल जानकर मंत्रियों ने समस्त नागरिकों को बुलाकर कहा कि- हे लोगों ! तुम सुनो । जब राजा मनुष्य-वध करेगा, तभी गोपुर स्थिर होगा अन्यथा नहीं । राजा ने मुझ से इसप्रकार से कहा है कि - मैं जीव वध नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा और उसकी अनुमोदना भी नहीं करूँगा, इस प्रकार से कहते हैं, अतः तुम को जो योग्य लगे वह करो । तब महाजनो ने आकर के राजा के आगे कहा कि- हे स्वामी ! सब हमारे द्वारा किया जायगा आप मौन से रहो । राजा ने कहा कि- प्रजा जब पाप करती हैं, तब मुझे भी छड़े अंश में पाप और पुण्य आता है । जो कि कहा गया है-

जैसे कि सद्-गुणी राजा पुण्य आदि सुकर्म करनेवालों का षष्ठांश-भागी होता है, वैसे ही पाप-वृत्तिवाला राजा पाप आदि कुकर्म करनेवालों का छड़े अंश का भागी होता है । फिर से भी महाजन ने कहा कि- पाप का भाग हमारा हो । राजा ने उसे बड़े कष्ट से स्वीकार किया । महाजन ने स्व-स्व गृह से धन को एकत्रित कर उसका स्वर्णमय पुरुष का निर्माण कराया । पश्चात् उस पुरुष को बैल-गाड़ी में रखकर नगर-मध्य में घोषणा की कि- यदि माता अपने हाथों से स्व-पुत्र को विष देती हैं और पिता उस पुत्र का गला-मोटन करता है, तो उन दोनों को स्वर्णमय पुरुष और करोड़ द्रव्य दिया जायगा । उस नगर में महा-दरिद्र वरदत्त नामक ब्राह्मण और उसकी भार्या रुद्रदत्ता हैं, वह अत्यंत निष्करुण थी । उन दोनों को सात पुत्र हैं । ढोल को सुनकर वरदत्त ने स्व-भार्या से पूछा कि-हे

प्रिये ! छोटे पुत्र को देकर यह धन ग्रहण किया जाय । धन का माहात्म्य लोकोत्तर हैं । जैसे कि-

जो अपूजनीय भी पूजा जाता हैं, जो अगमनीय भी गमन किया जाता हैं । जो अवन्दनीय भी वंदन किया जाता हैं, वह प्रभाव धन का ही हैं ।

भार्या ने भी निर्दयता से उसे स्वीकार किया । पटह को पकड़कर ब्राह्मण ने कहा कि- यह धन मुझे देकर के मेरा यह पुत्र ग्रहण किया जाय, प्रजा ने कहा कि- यदि तुम इसका गला-मोटन करो और यदि तेरी भार्या इसे विष दे, तो तुम दोनों को हम धन देंगे, अन्यथा नहीं । उस ब्राह्मण ने सब माना । माता-पिता के उस वाक्य को सुनकर उस पुत्र इन्द्रदत्त ने सोचा कि- अहो ! संसार स्वार्थी ही हैं, अपने पुत्र को भी पंचत्व में आरोपन करता हैं । तब उसे महाजन को अर्पित किया । पश्चात् पुष्प आदि से पूजा कर महाजन उसे राजा के समीप में ले गया । राजा ने भी नगर-द्वार के संमुख आते हुए और हँसते हुए उसे देखकर कहा कि- रे बालक ! तुम किसलिए हँस रहे हो ? क्या तुम मरण से नहीं डरते हो ? बालक ने कहा कि- हे स्वामी ! जब-तक भय नहीं आता हैं, तब-तक ही भय से डरना चाहिए । आये हुए भय को देखकर जन निःशंक होकर उसे सहन करें ।

बालक ने पुनः कहा कि- हे राजन् ! जिनका शरण किया जाता है, उनसे भय हुआ है, यथा- हंसों को लता के अंकुर से । यह उदाहरण हैं-

एक वन में मानस-सरोवर हैं । उसके तट के ऊपर सरल और ऊँचा वृक्ष हैं । उस वृक्ष के ऊपर बहुत हँस बैठते हैं ।

एक बार वृद्ध हंस ने उस वृक्ष के मूल में लता के अंकुर को देखकर कहा कि- हे पुत्र-पौत्रों ! इस लता-अंकुर को चंचू के प्रहारों

से तोड़ दो, जिससे कि सभी का मरण न हो। उसे सुनकर के तरुण-हंस हँसने लगे कि- अहो ! यह मरण से डर रहा हैं और सर्व काल जीने की इच्छा कर रहा है, यहाँ पर किससे भय हैं ? वृद्ध ने सोचा कि- अहो! यें मूर्ख हैं और स्वहित तथा अहित को नहीं जानते हैं। क्योंकि-

प्रायः कर अब सन्मार्ग का दिखाना क्रोध के लिए होता है, जैसे कि- विशुद्ध आईने के दर्शन से कटे हुए नाकवाले जन को क्रोध होता हैं।

अन्य यह भी हैं-

जैसे-तैसे भी मनुष्य को उपदेश नहीं देना चाहिए, जैसे कि तुम देखो, यहाँ पर मूर्ख वानर ने भली-भाँति रहनेवाली सुगृही नामक चिड़ियाँ को निर्गृही की थी। जैसे कि-

एक वृक्ष के ऊपर सुगृही नामकी एक चिड़ियाँ अच्छी तरह से गूँथे हुए एक सुंदर माले में सुख से रह रही थी। इस ओर मेघ के बरसने पर इधर-उधर भ्रमण करते हुए, शीतल पवन से शरीर से काँपता हुआ और स्व-दाँतों को बजाता हुआ कोई वानर वहाँ पर आया। उस प्रकार से उस वानर को देखकर चिड़ियाँ ने कहा कि- हे वानर ! तुम वर्षा-काल में इधर-उधर क्यों भ्रमण कर रहे हो ? तुम घर को क्यों नहीं करते हो ? यह सुनकर उस वानर ने इस प्रकार से कहा कि-

हे सूची के समान मुखवाली ! हे दुराचारिणी ! रे रे पंडित माननेवाली ! गृह-आरंभ में असमर्थ हूँ और गृह के भंजन में समर्थ हूँ।

इस प्रकार से कहकर और उछलकर उस वानर ने एक-एक तृण कर उस माले को विदिशाओं में डाला। वह चिड़ियाँ अन्यत्र जाकर सुख से रही।

यह विचारकर वृद्ध हंस मौन से स्थित हुआ । कालान्तर में वह लता वृक्ष के चारों ओर प्रसरित होने लगी । एक बार वृक्ष के अग्र तक बढ़ गयी । शिकारी उस पर चढ़कर वृक्ष के ऊपर चढ़ा । वहाँ उस शिकारी ने पाश-समूह को स्थापित कीये । रात्रि के समय में हंस-कोश शयन के लिए वृक्ष पर आये । वे सभी पाशों से बाँधे हुए बुंबारव को करने लगे । तब वृद्ध ने कहा कि- पूर्व में मेरा कहा हुआ नहीं किया था, उससे यह मरण आया है । उन हंसों ने कहा कि- हे तात ! शरण के लिए लता-अंकुर का रक्षण किया था, वह विपरीतपने से परिणत हुआ है । इसलिए अब जीवन उपाय का चिन्तन करो, जो कि-

शरीर, चित्त के आधीन और धातुओं से बद्ध है । चित्त के नष्ट हो जाने पर धातु नष्ट हो जाते हैं । उस कारण चाहिए और स्वस्थ चित्त में बुद्धियों की संभावना होती है ।

तब वृद्ध ने कहा कि- हे पुत्रों ! तुम मृत के समान निरुच्छ्वास सहित रहो, अन्यथा शिकारी गले को मरोड़ देगा । उन हंसों ने वैसे ही किया । इसप्रकार से छलित कीये गये उस शिकारी ने पक्षियों के समूह को मृत के समान जानकर विश्वस्त होकर उसने सभी हंसों को नींचले भाग में छोड़ दीएँ । तद्-अनन्तर सभी ने भी वृद्ध के वाक्य से पलायन किया और चिरंजीवी हुए । पश्चात् वृद्ध ने कहा कि-

हम वहाँ निरुपद्रव वृक्ष के ऊपर दीर्घ काल पर्यन्त रहे हुए थे, मूल से वल्ली(लता) उत्पन्न हुई, उससे शरण से ही भय हुआ है ।

यह कहकर इन्द्रदत्त ने पुनः भी कहा कि- हे राजन् ! पिता के द्वारा संतापित किया गया शिशु माता के शरण में जाता है, माता के द्वारा कष्ट दिया गया पिता के शरण में जाता है । उन दोनों के द्वारा उद्देजित किया गया शिशु राजा के शरण में जाता है । राजा के द्वारा भी सन्तापित किया गया बालक महाजन के शरण में जाता है । जहाँ

पर माता विष दे रही है, पिता गले को मरोडता हैं, राजा प्रेरणा देता हैं और महाजन मूल्य कर ग्रहण करता हैं, तो किसका शरण किया जाय ? जैसे कि-

माता-पिता ने पुत्र को दिया हैं, राजा शत्रु के समान घातक (अथवा उपेक्षा करनेवाला) हैं और देवताएँ बलि की इच्छा कर रहे हैं, लोक क्या करेगा ?

अत एव हे राजन् ! मेरा यम-अतिथि होना ही योग्य हैं । उस वचन को सुनकर राजा ने कहा कि- हे बालक ! जो कोई भी तुझे मारता हैं, वह मेरा शत्रु ही हैं । तुम सुख से रहो । मुझे नगर आदि से प्रयोजन नहीं हैं, इस प्रकार से कहकर स्व-सेवक के पास में सर्वत्र नगर में अमारि की उद्घोषणा करायी । इस प्रकार से उसके धैर्य से संतुष्ट हुआ देव राजा को प्रणाम कर, नगर के गोपुर का निर्माण कर और प्रशंसा कर स्व-स्थान पर चला गया ।

सर्व लोगों के अभियोग से भी राजा ने हिंसात्मक वाक्य का आदर नहीं किया और वैराग्य से चारित्र को प्राप्त कर राजा ने सादि और अंत-हीन शिव सौख्य को प्राप्त किया ।

इस प्रकार उपदेश-प्रासाद में चतुर्थ स्तंभ में उन्पचासवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



पचासवाँ व्याख्यान

अब वृत्तिकान्तार नामक आकार कहा जाता है-

दुर्भिक्षा और अरण्य के संपर्क में जीवन के लिए मिथ्यात्व का आश्रय लिया जाता है, वह कान्तार वृत्ति नामक आकार (आगार) है।

दुर्भिक्ष में- अन्न आदि के अभाव में। अरण्य-जल, फल आदि से रहित ऐसा प्रदेश, उसके संपर्क में-संयोग में। किसी उत्सर्ग और अपवाद को जाननेवाले संविग्न के द्वारा भी जीवन की रक्षा के लिए, मिथ्यात्व-नियम भंग आदि किया जाता है, वह तृतीय आकार कहा जाता है। कष्ट में भी कोई उत्सर्ग पक्ष में रहे हुए, अच्चंकारी के समान स्व-धर्म को नहीं छोड़ते हैं। वह यह प्रबन्ध है-

क्षितिप्रतिष्ठपुर में धन श्रेष्ठी था। उसकी भद्रा नामक पत्नी थी। उन दोनों को आठ पुत्र और उनके ऊपर भट्टिका नामकी एक पुत्री थी। एक बार श्रेष्ठी ने स्व-जन के समक्ष कहा कि- मेरी इस पुत्री को कोई भी चुंकारे नहीं, उससे वह अच्चंकारी भट्टा नाम से प्रसिद्ध हुई।

एक दिन राजा के मंत्री ने उसके सुंदर यौवन को देखकर उसके पिता के पास में उसे माँगी। श्रेष्ठी ने कहा कि- जो इसके वाक्य का उल्लंघन नहीं करेगा, मैं उसे दूँगा, अन्य को नहीं। मंत्री ने भी स्वीकार किया। शुभ लग्न में विवाह हुआ। अच्चंकारी के साथ में वैषयिक सौख्य से कितने ही दिन व्यतीत हुए। उसने पति के आगे कहा कि- हे प्राणेश ! सूर्य के अस्त हो जाने पर आप अधिकारी के द्वारा कहीं पर भी नहीं जाना चाहिए जो मेरी प्रीति से प्रयोजन हो। मंत्री ने उसके वाक्य को स्वीकार किया।

एक दिन राजा ने पूछा कि- हे मंत्री ! तुम प्रति-दिन सकाल में ही गृह में क्यों जा रहे हो ? उसने यथा स्थित कहा। राजा ने विनोद

के लिए कुछ बहाना कर और दो प्रहर संस्थापित कर उसे विसर्जित किया । मंत्री गृह में गया । अच्चंकारी के द्वारा द्वार को बंद किया हुआ देखकर उसने कहा कि- हे प्रिये ! द्वार खोलो ! मैं राजा की आज्ञा से रुका था, स्वेच्छा से नहीं । परवश मुझ पर कोप मत करो । इस प्रकार बार-बार कहे जाते हुए उस वचन को सुनकर और क्रोध से द्वार को खोलकर तथा दोनों दृष्टियों को ठगकर के वह गृह से बाहर निकली । वह पिता के गृह में जाती हुई चोर के द्वारा पकड़ी गयी । वस्त्र, आभरणों को ग्रहण कर उसे पल्ली के स्वामी को दिया । पल्ली के स्वामी ने भोग के लिए उसकी अत्यंत कदर्थना की । उसने कहा कि- मैं प्राण के त्याग में भी शील का खंडन नहीं करूँगी, ऊषर-भूमि में वर्षा के समान तुम व्यर्थ ही प्रयत्न कर रहे हो । फिर भी वह प्रतिबोधित नहीं हुआ । तब उसके प्रतिबोध के लिए अच्चंकारी ने वृत्तांत कहा-

एक तेजो-लेश्या से युक्त तापस वृक्ष के नीचे स्थित था । बगुले ने उसके मस्तक के ऊपर मल का प्रक्षेप किया । उस तापस ने क्रोध से तेजो-लेश्या के द्वारा उस बगुले को जला दिया । तब उस तापस ने सोचा कि-जो कोई भी मेरी अवज्ञा करेगा, मैं उसे इस विद्या से जला दूँगा । वह तापस भिक्षा के लिए किसी श्रावक के घर में गया । उस श्रावक की शीलवती स्त्री थी । वह अपने पति-कार्य में व्यग्र हुई भिक्षा को लेकर विलंब से आयी । क्रोधित हुए उस तापस ने उसके ऊपर तेजोलेश्या छोड़ी । परन्तु शील के माहात्म्य से वह जली नहीं । उस स्त्री ने इस प्रकार से कहा कि- हे त्रिदंडी ! मैं वह बगुला नहीं हूँ ? तापस ने कहा कि - अरण्य में बनी हुई वार्त्ता को तुम कैसे जानती हो ? उस स्त्री ने कहा कि- वाणारसी का कुंभकार तुझसे इस व्यक्तिकर को कहेगा ।

तापस ने वहाँ जाकर के कुंभकार से पूछा । कुंभकार ने कहा कि- इस स्त्री को और मुझे शील के माहात्म्य से ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उससे जाना है, इसलिए तुम भी शील में प्रयत्न करो । इस वार्त्ता को सुनकर शीलवती के शाप के भय से विरक्त हुए भील ने अच्चंकारी को किसी पुरुष के समीप में विक्रय किया । उस पुरुष ने बब्बरकुल में कारीगर के गृह में उसको बेची । उसने भी अच्चंकारी से भोग के लिए प्रार्थना की । अच्चंकारी ने उसका कहा नहीं किया । उसने पुनः कहा कि- यदि तुम अन्न-वस्त्र आदि सुख की इच्छा करती हो तो मेरा कहा हुआ प्रमाणित करो । तृतीय आगार को जानती हुई भी उसने निश्चय को नहीं छोड़ा । तब क्रोधित होकर उस कारीगर ने स्त्री के शरीर से रुधिर को निकालकर एक पात्र में स्थापित किया । उस में उत्पन्न हुए कृमियों के रुधिरों से वह वस्त्रों को रंगने लगा । रक्त के स्राव से अच्चंकारी पांडुरोगवाली हुई परंतु, शील भग्न नहीं किया ।

इस ओर उस नगर में व्यापार के लिए आये और वहाँ पर भ्रमण करते हुए उसके ज्येष्ठ भाई ने उस बहन को देखा । उस धनपाल ने कारीगर को धन देकर अपनी बहन को छुड़ाया और उसे ग्रहण कर वह स्व-नगर में गया । पति ने उसे वापिस लाकर के सर्वस्व स्वामिनी की । तब उसने प्रतिज्ञा की कि- मैं मरणांत में भी क्रोध नहीं करूँगी ।

उस नगर के वन में कायोत्सर्ग में स्थित मुनिपति का देह किसी अग्नि से जला । उनकी चिकित्सा के लिए कुंचिकश्रेष्ठी ने अन्य दो मुनियों को अच्चंकारी के गृह में लक्षपाक तैल के लिए भेजा । उन्होंने तैल माँगा । अच्चंकारी ने दासी को-तुम तैल का घड़ा ले आओ, इस प्रकार से आदेश दिया । इस बीच इन्द्र ने उसकी इस प्रकार से प्रशंसा की कि- अब जगत् में अच्चंकारी भट्टा के समान

कोई भी क्षमावान् नहीं हैं। उस इन्द्र के वाक्य के ऊपर श्रद्धा नहीं करता हुआ नास्तिक देव अच्चंकारी के गृह में आया। उसने देव-शक्ति से दासी के हाथ से एक कुंभ को गिरा दिया। अच्चंकारी ने द्वितीय कुंभ मँगाया। देव ने उसे भी गिरा दिया। इस प्रकार से ही तृतीय कुंभ के भी भग्न हो जाने पर अच्चंकारी स्वयं ही चौथे कुंभ को ले आयी। वह घड़ा शील के माहात्म्य से भग्न नहीं हुआ। उसने तैल दिया।

मुनि ने कहा कि- हे भद्रे ! हमारे लिए घड़ों के भंग से तुम्हें बड़ा व्यय हुआ है। तुम दासी के ऊपर क्रोध मत करना।

अच्चंकारी भट्टा थोड़ा हँसकर कहने लगी कि- हे भगवन् ! मैंने क्रोध-मान का फल पूर्व में अनुभव किया है। वह क्या है ? इस प्रकार से उन मुनि के द्वारा पूछने पर उसने मुनि से स्व-स्वरूप का निवेदन किया। उसे सुनकर और प्रत्यक्ष होकर उस देव ने अच्चंकारी से इन्द्र का वृत्तांत कहा। पूर्व में भग्न हुए तैलों के घड़ों को सज्जित कर और अच्चंकारी की प्रशंसा कर तथा स्वर्ण की वृष्टि कर देव स्व-स्थान पर चला गया। दोनों साधुओं ने भी उसकी प्रशंसा की और उस तैल से साधु को स्वस्थ किया। अच्चंकारी भी गर्व से रहित हुई श्रावक-धर्म का परिपालन कर और अन्त में समाधि से मरकर तथा देव सुखों को भोग कर मोक्ष में जायगी।

सम्यक्त्व-बुद्धिशाली अच्चंकारी के इस संबंध को सुनकर दुःख में भी धर्म को न छोड़ें। वह शीघ्र से लक्ष्मी को प्राप्त करेगा।

इस प्रकार संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थकी वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में पचासवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।



इक्यावनवाँ व्याख्यान

अब गुरु-निग्रह नामक आगार कहा जाता है-

मिथ्यात्व से युक्त चित्तवाले माता-पिता और कलाचार्य जिस अकृत्य को कराते हैं, वह गुरु-निग्रह कहा जाता है ।

गुरु-निग्रह :- नियम-भंग आदि से उसके आदेश दीये गये को करना, जैसे कि-

माता, पिता और कलाचार्य तथा इनकी ज्ञातियाँ और धर्म के उपदेश देनेवाले वृद्ध जन, ये सज्जनों को मान्य गुरु-वर्ग हैं ।

इनके मध्य में जो कुदृष्टिवालों के भक्त हैं, उनके वाक्य से निषिद्ध का भी सेवन किया जाता है, उससे व्रत-भंग नहीं होता । कोई अपवाद पक्ष को छोड़कर उत्सर्ग पक्ष का ही स्वीकार करते हैं । इस विषय में यह सुलस का उदाहरण है-

राजगृह नगर में कालसौकरिक नामक अतीव निर्दय, अभव्य तथा पाँच सो भैंसों का वध कर्त्ता निवास कर रहा था । एक दिन श्रेणिक ने स्व नरक-गमन के निवारण के लिए जिस कालसौकरिक को कूँ में डाला था, उसने वहाँ भी पाँच सो मिट्टीमय भैंसों को मार दीये । इस प्रकार नियंत्रित कर कूँ में डाले गये उसने मन से ही अनेक सैकड़ों की संख्याओं में भैंसों को मारा । इस प्रकार जीव-हिंसा कर, पाप कर्मों का अर्जन कर और सातवें नरक के आयु को बाँधकर प्रान्त में वह रोग से आक्रान्त हुआ । तब उसके पुत्र सुलस ने पिता के सुख के लिए सुंदर भोजन, पानी, गीत, गान, कोमल फूलों की शय्या और चंदन के विलेपन आदि बहुत उपचार कीये । फिर भी उसे लेश-मात्र से भी सुख नहीं हुआ ।

सुलस ने आकर के अभयकुमार से सब कहा । तब मंत्री ने

कहा कि- यह नरकगामी हैं। आनुपूर्वी इसके सम्मुख आ गयी हैं, इस लिए सुख के हेतु दुःख के लिए हो रहे हैं। तुम नीरस आहार का दान, खारे पानी का पान, गधे और कुत्ते के शब्दों को सुनाना, तीक्ष्ण काँटों की शय्या और अशुचि विलेपन आदि का उपचार करो, जैसे कि सुख हो। सुलस के वैसा करने पर उसे शांता हुई। वहाँ से मरकर सातवीं नरक में गया। प्रत्यक्ष पाप के फल को देखकर उसका पुत्र सुलस मंत्री अभयकुमार और श्रीवीर के वचन से श्रावक हुआ।

अब एक दिन माता-बहन आदि स्वजन वृद्धों ने मिलकर उसे कहा कि- तुम पिता के समान पाप करो, धन के समान हम पाप समूह को विभाजित कर लेंगे। इस प्रकार से प्रेरित कीये गये सुलस ने कुठार के प्रहार से लेश-मात्र से स्व पैर को ही छेद दिया और पृथ्वी के ऊपर गिर पड़ा। उसने कहा कि- पाप के समान ही अब तुम मेरे दुःख को विभाजित कर ग्रहण करो, ऐसे वाक्य से वे मौन हो गये किन्तु सुलस ने जीव-वध नहीं किया, क्योंकि-

सौकरिक के पुत्र सुलस के समान जो मनुष्य सुगति के मार्ग को अच्छी प्रकार से जानते हैं, वे मरण की भी इच्छा करते हैं किन्तु मन से भी पर-पीड़ा को नहीं करते हैं।

क्रम से श्रावकत्व का परिपालन कर वह सुलस देव हुआ।

इस विषय में आरोग्य ब्राह्मण का यह उदाहरण है-

उज्जयिनी में बाल्य काल से ही रोग की बहुलता से रोग ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मण था। लोगों से उस नाम को सुनकर वह प्रति-दिन खेद को वहन करता था। एक दिन देशना करते हुए मुनि से इस धर्म-वाक्य को सुना-

हे स्वामी ! मेरा आयु शीघ्र से जा रहा है न कि पाप-बुद्धि। वय व्यतीत हो चुकी है लेकिन विषयों की अभिलाषा नहीं गयी। औषधि

की विधि में प्रयत्न हैं न कि धर्म में, यही मेरी महामोह की विडंबना है। शरीर अनित्य है, वैभव शाश्वत नहीं है, मृत्यु नित्य निकट में रहा हुआ है, उससे धर्म-संग्रह करना चाहिए।

उस वाणि से प्रतिबोधित होकर उस ब्राह्मण ने बारह व्रतों को ग्रहण कीये। अणुव्रत आदि के शुद्ध पालन में तत्पर होने से, सुश्रावकपने से और संपादन होती हुई चिकित्सा सामग्री के द्वारा भी, रोग आदि सहन का ही आश्रय कर वह इस प्रकार से कहता था कि-

यह दुःख का विपाक तुझे पुनः भी सहन करना पड़े, संचित कीये हुए कर्मों का नाश नहीं होता है। इस प्रकार से धारण कर जो-जो दुःख आ रहा है उसे तुम सहन करो, पुनः भी तुझे अन्य स्थान में सद्-असद् का विवेक कहाँ से होगा ?

इन्द्र ने निश्चल मनवाले उस ब्राह्मण की इस प्रकार से प्रशंसा की कि- अहो ! रोग-ब्राह्मण महासत्त्वशाली हैं, जो इस प्रकार से गुरु-वर्ग के द्वारा अनेक चिकित्सा के उपायों में स्थापित किया जाता हुआ भी उनकी अनपेक्षा से रोग की व्यथा को सहन कर रहा है। उसकी अश्रद्धा करते हुए दो देव वैद्य के रूप में आये और उससे कहने लगे कि- हे रोग से पीड़ित ब्राह्मण ! हम दोनों तुझे रोग से विमुक्त करेंगे। परंतु तुम रात्रि में मद्य, मांस और मक्खन का परिभोग करो। वैद्य के द्वारा कहे हुए इस वचन को सुनकर उसने सोचा कि- ब्राह्मण कुल में उत्पन्न और अब विशेष से जिन-धर्म को स्वीकार करनेवाले मुझे लोक और लोकोत्तर में निन्दनीय होने से इस गर्हित कार्य को छोड़ना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि-

नीति में निपुण पुरुष यदि निन्दा करें अथवा स्तुति करे, यथेच्छा से लक्ष्मी प्रवेश करे अथवा जाय, आज ही मरण हो अथवा युगान्तर में हो, लेकिन धीर पुरुष न्याय मार्ग से पद-मात्र भी

विचलित नहीं होतें ।

इस प्रकार से विचारकर रोग-ब्राह्मण ने कहा कि- हे वैद्यों ! मैं दूसरी औषधियों से भी चिकित्सा की इच्छा नहीं करता हूँ, तो पुनः सर्व धर्मवन्तों को असेवनीय इन औषधियों से क्या प्रयोजन है ? जैसे कि - मद्य में, मांस में, शहद में और छांस से बाहर कीये हुए मक्खन में सूक्ष्म जन्तु राशियाँ उत्पन्न होती है और विलीन होती है । अग्नि के द्वारा सात गाँवों को भस्मसात् करने पर जो पाप होता है, मधु (शहद) बिन्दु के भक्षण से वही पाप होता है । धर्म की अभिलाषा से श्राद्ध में जो मोहित हुआ मनुष्य मधु को देता है, वह लंपट खादकों के साथ में घोर नरक में जाता है ।

जब रोग-ब्राह्मण ने इस प्रकार से कहा, तब दोनों वैद्यों ने उसके स्व-जनों से इसका ज्ञापन किया । शास्त्र की कथाओं के द्वारा स्व-जन आदि वर्ग उसे चिकित्सा में प्रवर्तन कराने लगा । जैसे कि-

धर्म से संयुक्त शरीर का प्रयत्न से रक्षण करना चाहिए, जैसे पर्वत से पानी प्रकट होता है वैसे ही शरीर से धर्म प्रकट होता है ।

इस प्रकार से पिता आदि से प्रज्ञापन किया जाता हुआ भी दृढ़ धर्मपने से उसे देह आदि प्रत्याशा के परिहार से निर्वाण सुख की अभिलाषा ही थी । उसने देह और धन की पीड़ा के उदाहरण को इस प्रकार से कहा था-

आपदा के लिए धन का रक्षण करें । धन से भी पत्नी का रक्षण करें । धन से भी और पत्नी से भी सतत आत्मा का रक्षण करें ।

तथा धर्मवन्तों को देह धन तुल्य हैं और आत्मा पुनः देह के समान हैं । इस प्रकार से होने से देह-पीड़ा की उपेक्षा से आत्मा का रक्षण करना चाहिए । इस प्रकार से उसकी निज प्रतिज्ञा में निश्चलत्व को जानकर दोनों देवों को महान् हर्ष हुआ । अहो ! यह सात्त्विकों में

प्रधान हैं, सत्य है और प्रशंसनीय हैं इस प्रकार से कहकर दोनों देवों ने निज रूप को प्रकट किया । इन्द्र के द्वारा की गयी प्रशंसा के स्वरूप को कहकर और उसके सर्व रोगों का हरण कर उसके गृह को रत्नों से भर दिया । उससे यह सर्वत्र आरोग्य-ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध हुआ । इस प्रकार से गुरु निग्रह आकार (आगार) को जानते हुए भी उसने धर्म में स्थैर्य को नहीं छोड़ा था । इस प्रकार से स्व-नियमों का परिपालन कर उसने स्वर्ग के सौख्य को प्राप्त किया ।

इस प्रकार संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में इक्यावनवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



बावनवाँ व्याख्यान

अब देवाभियोग की व्याख्या की जाती हैं-

कुलदेव आदि के वाक्य से जो मिथ्यात्व किया जाता है, वह सम्यक्त्व में रत हुए को देवाभियोग होता है ।

देव आदि उपसर्ग से कोई चुलनीपिता आदि के समान ग्रहण कीये हुए धर्म में चपलता को प्राप्त करते हैं, फिर भी उनको महान् दोष नहीं लगता, मिथ्या-दुष्कृत आदि से शीघ्र ही वापिस लौट जाते हैं । नमिराजर्षि के समान कोई उत्सर्ग पक्ष में स्थित हुए चलित नहीं होते हैं, इस विषय में यह उदाहरण है-

अवन्ति देश में सुदर्शनपुर में मणिरथ राजा था, उसका युगबाहु नामक अनुज युवराज था और उसकी प्रिया मदनरेखा थी । एक दिन राजा उसे किसी स्थान पर देखकर कामासंक्त हुआ ।

जो कि कामदेव रूप संपत्ति को देखकर स्व-आत्मा में ही

जला था, पुनः लोक में यह प्रवाद वृथा हैं कि वह हर के द्वारा जलाया गया था ।

मणिरथ ने मदनरेखा को आवर्जित करने के लिए शीघ्र से पुष्प, तांबूल और वस्त्र आदि भेजें । उसने भी-यह ज्येष्ठ का प्रसाद हैं इस प्रकार से मानकर उसे ग्रहण किया । एक बार दूती ने राजा के वाक्य से उससे राजा का इच्छित कहा । मदनरेखा ने उसे सुनकर दूती से कहा कि-

जगत् में प्रसिद्ध नारियों में शील ही महा-गुण हैं, जैसे जीव के चले जाने पर प्राणियों को सब वृथा हैं, वैसे ही शील के लुप्त हो जाने पर सब वृथा हैं ।

इसलिए मुझसे अयोग्य वाक्य का कथन राजा को युक्त नहीं हैं । दूती ने वैसे ही राजा से निवेदन किया । तो भी राग से लोलुप उसने सोचा कि- मैं बन्धु को मारकर मदनरेखा को ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं ।

एक बार वसन्त की क्रीड़ा के लिए युगबाहु स्व-स्त्री के साथ में उद्यान में गया था । वहाँ प्रिया सहित स-विस्तार क्रीड़ा कर रात्रि में वहीं पर कदलीगृह में सो गया । अवसर को जानकर राजा ने तलवार सहित गुप्त-रीति से कदलीगृह में प्रवेश किया । हा ! काम के उदय में कुल-मर्यादा, यश, धर्म, लज्जा आदि को छोड़कर मणिरथ ने बंधु को तलवार से गले पर मारा ! वहाँ से राजा स्व-गृह में चला गया । मदनरेखा स्वामी के अवसान समय को जानकर और विलाप कर गद्-गद् सहित कहने लगी कि-

हे भाग्यशाली ! लेश-मात्र भी आप व्यर्थ में खेद को मत करो, सर्वत्र भी प्राणियों का पूर्व कृत कर्म अपराध कर रहा हैं, उस कारण से आप मन को समाधि में लीन करो, जिन का शरण ग्रहण

करो, ममत्व को छोड़ो और सर्व प्राणियों पर मैत्री करो ।

इत्यादि वचन से शांत हुए कोपवाले उसने पञ्च नमस्कार का स्मरण करते हुए पञ्चम कल्प के सौख्य को प्राप्त किया । मदनरेखा निज ज्येष्ठ कार्य को जानकर स्व-शील की रक्षा के लिए पुत्र आदि को छोड़कर गर्भ सहित रात्रि के समय में ही पलायन कर महा-अरण्य में आयी । वहाँ शेर, सिंह आदि के शब्दों से त्रस्त हुई महासती ने वृक्ष-तल पर पुत्र को जन्म दिया । रत्न कंबल से उस बालक को वेष्टित कर और स्व-पति के नाम से अंकित मुद्रिका उस बालक के हाथ में डालकर, वस्त्र, देह आदि को साफ करने के लिए सरोवर में प्रवेश करती हुई वह जल-हाथी के द्वारा सूँढ़ से ग्रहण कर आकाश में फेंकी गयी ।

तब नन्दीश्वर में जाते हुए विद्याधरेन्द्र ने उसे आकाश में ही ग्रहण की । रोती हुई मदनरेखा ने पुत्र प्रसव का वृत्तांत और उन्मार्ग में मुक्त पुत्र के बारे में कहा । उसे सुनकर विद्याधर ने विद्या के बल से उसके स्वरूप को कहा कि- हे भद्रे ! वक्र शिक्षित अश्व के द्वारा अपहरण कीये गये मिथिला के स्वामी पद्मरथ ने तुम्हारे पुत्र को ग्रहण कर स्व-पत्नी को पुत्रपने से दिया हैं । तुम विषाद को छोड़कर मुझे पतित्व से भजो । यह सुनकर उसने कहा कि- हे पूज्य ! पूर्व तुम मुझे नन्दीश्वर में यात्रा कराओ, पश्चात् मैं इच्छित के पूरण में प्रयत्न करूँगी । वह मदनरेखा को नन्दीश्वर में ले गया ।

नन्दीश्वर में जब मदनरेखा बावन तीर्थंकरों को नमस्कार कर और वहाँ पर आये हुए मणिचूड नामक चक्रवर्ती राजर्षि को प्रणाम कर स्थित हुई थी, उतने में ही अवधि से पूर्व भव के स्वरूप को जानकर और ब्रह्मकल्प से आकर युगबाहु देव पहले उसके पाद-कमल को प्रणाम कर तत्पश्चात् साधु को नमस्कार कर बैठा । उसे

देखकर मणिप्रभ विद्याधर ने- तूने यह क्या अनुचित किया है ? इस प्रकार से उस देव को उपालंभ दिया ।

चारण श्रमण मुनि ने तब देव के पूर्व भव के स्वरूप को कहकर उससे कहा कि- धर्माचार्य का अनुस्मरण कर यह देव यहाँ पर शीघ्र आया है, यह योग्य है, जो इसने मुनियों को छोड़कर पहले इस महासती को नमस्कार किया है । क्योंकि-

यति के द्वारा अथवा श्रावक के द्वारा जो अर्हत्-धर्म में स्थिर किया गया है, वही उसका धर्माचार्य होता है, इसमें संशय नहीं हैं ।

इस प्रकार से यह सुनकर विद्याधर ने उस देव से क्षमा माँगी । मुनि भगवंत ने विद्याधर को उपदेश द्वारा वासना से मुक्त किया । देव ने मदनरेखा को मिथिला में छोड़ी । वहाँ पर सुख से युक्त पुत्र को जानकर स्वस्थ चित्तवाली हुई उसने प्रवर्तिनी के पास में दीक्षा ग्रहण की । उस बालक का नमि नाम किया । क्रम से यौवन को प्राप्त हुए नमि के पिता ने एक हजार और आठ कन्याओं से विवाह कराया । पद्मरथ नमि को राज्य के ऊपर स्थापित कर स्वयं ने दीक्षा ग्रहण की ।

इस ओर जिस रात्रि में मणिरथ ने बंधु को मारा था, उस रात्रि में काले सर्प से डंसा हुआ वह रौद्रध्यान में रक्त हुआ चतुर्थ नरक में गया । तब युगबाहु का पुत्र चन्द्रयशा राज्याधिकारी हुआ ।

एक दिन नमि राजा का पट्ट हस्ती आलान स्तंभ को उखाड़कर चंद्रयशा की राज्य सीमा पर आया, चन्द्रयशा ने उसे ग्रहण किया । नमि ने दूत के मुख से याचना की, फिर भी उसने नहीं दिया । तब नमि युद्ध के लिए वहाँ आकर और उसकी नगरी को रोककर वहाँ पर स्थित हुआ । साध्वी ने उस वृत्तांत को जानकर स्वयं ही नमि राजा से कहा कि- हे नमि ! बड़े भाई के साथ युद्ध करना योग्य नहीं है । उसे सुनकर विस्मित हुए नमि ने पूछा कि- कैसे यह मेरा

बन्धु है ? साध्वी ने नमि से सर्व संबंध के बारे में कहा । उसे सुनकर और स्व-पिता के नाम से अंकित अंगूठी को देखकर तथा निश्चय कर राजा को विशेष से विश्वास उत्पन्न हुआ । इस प्रकार से नमि को युद्ध से पीछे लौटाकर और चन्द्रयशा के समीप में जाकर सर्व व्यक्तिकर कहकर साध्वी ने परस्पर प्रीति युक्त किया । स्वयं ही व्रत की इच्छावाले चन्द्रयशा ने स्व बंधु नमि का अपने राज्य के ऊपर अभिषेक कर दीक्षा ग्रहण की ।

एक दिन अखंड दोनों राज्यों का पालन करते हुए नमि के देह में छह मासिक महा-दाह ज्वर उत्पन्न हुआ । अनेक आयु-वैदियों के द्वारा चिकित्सा करने पर भी उसका दाह शान्ति को प्राप्त नहीं हुआ । एक दिन वैद्यों के कथन से सभी रानियाँ चंदन को घिसने लगी । परस्पर संघर्ष से उन रानियों के कंगनों का शब्द हुआ । राजा उस शब्द को सुनने में असमर्थ हुआ । पति के आदेश से स्त्रियों ने एक-एक कंगन को धारण किया । तब राजा ने पूछा कि- अब क्यों कंगनों का आवाज नहीं सुनायी दे रहा है ? उन्होंने एक-एक कंगन दिखाया ।

इस ओर नमि राजा के चारित्र आचारक कर्म बंधन के तूट जाने पर यह अध्यवसाय उत्पन्न हुआ-

कंगन के समूह के दृष्टांत से निश्चय से बहु परिग्रहवाला जीव दुःख का वेदन करता है, उससे एकाकीपना ही श्रेष्ठ है । इस प्रकार से दाह की उपशान्ति के लिए एकाकी विहार को सोचते हुए उसने स्वप्न में मेरु के ऊपर श्वेत गज पर चढ़े हुए खुद को देखा । मैंने पूर्व में भी कहीं पर ऐसे स्वर्णमय पर्वत को देखा है, इस प्रकार के ऊहापोह के वश से उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । वह पूर्व भव में अगणनीय पुण्य स्वरूपवाले श्रामण्य के पालन से, लक्ष्मी के माप रहित पुष्पोत्तर विमान में श्रेष्ठ देव हुआ था । तब उस देव ने जिनों

के जन्मों में स्वर्ण-शैल (मेरुपर्वत) को देखा था। अब नमि देवता के द्वारा प्रदत्त लिंगवाला प्रव्रज्या को ग्रहण कर वहाँ से निकला।

अब उस समय में अद्भुत प्रतिबोध से रञ्जित हुए इन्द्र ने अवधि से जानकर, ब्राह्मण का रूप ग्रहण कर और उसके समीप में जाकर इस प्रकार से कहा कि- हे मुनि ! तेरे नगर में बहुत लोगों का रोदन और शोक-शब्द हो रहा है और तेरी नगरी दहन की जा रही है। दया की मूलवाली प्रव्रज्या कही जाती है, इसलिए पूर्वापर से विरुद्ध तेरा व्रतीपना योग्य नहीं हैं, उससे सर्व को सौख्य सहित कर तुम्हें व्रत का आचरण करना योग्य हैं। पुनः इन्द्र ने कहा कि- हे नाथ ! यह अग्नि और वायु तुम्हारे ही आलय और अंतःपुर को जला रहे हैं। क्यों तुम इसकी उपेक्षा कर रहे हो ?

इस प्रकार से इन्द्र के द्वारा प्रेरित कीये गये प्रत्येकबुद्ध ने कहा कि-

इन कारणों में मुझे कुछ भी नहीं है, उससे मैं सुख से रह रहा हूँ और जी रहा हूँ, मिथिलानगरी के दहन में मेरा कुछ-भी नहीं जल रहा है। सर्व भी स्वार्थ के लिए प्रयत्न कर रहे हैं और उसके बिना दुःख को प्राप्त कर रहे हैं, उससे मैं भी निर्मम चित्त से स्वार्थ को साध रहा हूँ।

पुनः इन्द्र ने कहा कि- चाँदी, स्वर्ण और मणि आदि से कोश की वृद्धि कर व्रत का आचरण योग्य हैं। यह सुनकर नमि ने कहा कि- सदा ही कैलास के समान स्वर्ण और चाँदी के असंख्यात पर्वत हो, लोभी मनुष्य को उन पर्वतों से कुछ-भी नहीं होता है क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनंतिक हैं।

इत्यादि उत्तराध्ययन में कही हुई युक्तिओं से मुनि ने ब्राह्मण को निरुत्तरवाला किया। इस प्रकार से ही उसे अक्षोभित चित्तवाला जानकर, सत्त्व के आश्रय इन्द्र ने ब्राह्मण के रूप को छोड़कर और प्रणाम कर इस प्रकार से स्तुति की कि- अहो ! तुमने क्रोध को जीत

लिया है, अहो ! मान को पराजित किया है, अहो ! तुमने माया का तिरस्कार किया है, अहो ! तुमने लोभ को वश कर लिया हैं ।

इस तरह से बहुत प्रकार से स्तुति कर इन्द्र स्वर्ग में गया । मुनि ने क्रम से केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष को साधा ।

जिसने इन्द्र की आज्ञा से भी धर्म को नहीं छोड़ा था, महावीर ने जिनकी शास्त्र में प्रशंसा की हैं, वे प्रत्येकबुद्ध नमिराज साधु ही मुझे सौख्यप्रद हो ।

इस प्रकार संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में बावनवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



त्रेपनवाँ व्याख्यान

अब बलाभियोग से - इस प्रकार का आगार कहा जाता है- बहुतेकों के हठ वाद से अथवा बल से, त्याग कीये हुए का सेवन करना, यह बलाभियोग कहा जाता है, ये छह (आगार) द्वार के रूप में माने गये हैं ।

उत्सर्ग पक्ष में रहे हुए कोई पर-बल से भी स्व-व्रत को नहीं छोड़ते हैं, इस विषय में यह सुदर्शन का प्रबन्ध है-

चंपा में ऋषभदास श्रेष्ठी था और उसकी पत्नी सुशीलवाली अर्हद्दासी थी । एक दिन माघ मास में सुभग नामक उनका भैंसों का पालक श्रेष्ठी की भैंसों को चराकर घर पर आता हुआ सायंकाल में नहीं ढंके हुए, प्रतिमा में रहे हुए और शीत से आर्त मुनि को मार्ग में देखकर और उनकी प्रशंसा कर, घर पर आकर, रात को व्यतीत कर, समय पर उठकर, भैंसों को आगे कर जाते हुए वैसे स्थित मुनि को

देखकर उनके समीप में बैठा ।

इस ओर सूर्य के उदय प्राप्त होने पर वैं चारण-मुनि 'नमो अरिहंताणं' इस प्रकार से कहकर आकाश में उड़ें । सुभग ने उस पद को आकाश-गामिनी विद्या के मंत्र के समान मानकर चित्त में स्थापित किया । एक दिन वह उसी पद को अर्हत् के समीप में पढ़ने लगा । उस पद के ध्यान में लीन उसे देखकर श्रेष्ठी ने पूछा कि- तूने इसे कहाँ से प्राप्त किया है ? उसने कहा कि- मुनि से ! सर्व वृत्तांत के कहने पर संतुष्ट हुए श्रेष्ठी ने उसे संपूर्ण नमस्कार मंत्र पढ़ाया ।

इस ओर नमस्कार की गणना करते हुए उसे क्रम से वर्षाकाल आया । मेघ के द्वारा पृथ्वी मंडल को एक समुद्र के रूप में कीये जाने पर सुभग भैंसों को लेकर वन में गया । मध्य में नदी का पूर आया । अब उसने आकाशगामिनी विद्या की बुद्धि से उसी का स्मरण करते हुए नदी में छलांग दी । अन्तराल में वह कील से वींधा हुआ मरकर के उसी श्रेष्ठी का सुदर्शन नामक पुत्र हुआ । क्रम से माता-पिता ने उसे मनोरमा नामकी श्रेष्ठी की पुत्री से विवाहित किया ।

इस ओर सुदर्शन की कपिल नामक राजा के पुरोहित के साथ में निबिड़ प्रीति हुई थी । एक दिन पति के द्वारा कहे हुए सुदर्शन के गुणों के श्रवण से अनुरागिनी हुई पुरोहित की पत्नी कपिला कामातुर हुई सुदर्शन के महल में आकर-आज तुम्हारे मित्र का शरीर अस्वस्थ है, तुम शीघ्र से सुख को पूछने के लिए मेरे घर पर आओ, इस प्रकार से कहकर और उसे गुप्त गृह के अंदर ले जाकर, द्वार देकर और लज्जा को छोड़कर काम के लिए प्रार्थना की । पर-स्त्रीयों की रति में नपुंसक के समान उस श्रेष्ठी ने शील की रक्षा के लिए हे स्त्री ! मैं नपुंसक हूँ। क्यों तुम व्यर्थ ही मुझसे प्रार्थना कर रही हो ? इस प्रकार से कहकर और वहाँ से निकलकर घर पर आया ।

एक दिन राजा पुरोहित और सुदर्शन सहित क्रीड़ा करने के लिए उद्यान में गया। वाहन में चढ़ी हुई अभया रानी भी कपिला के साथ में वन में आयी। इस ओर कपिला ने छह पुत्रों से युक्त सुदर्शन की प्रिया को मार्ग में देखकर-यह स्त्री कौन हैं? इस प्रकार अभया से पूछा। उसने कहा कि- यह श्रेष्ठी की स्त्री हैं और ये उसके पुत्र हैं। तब कपिला ने मूल से उस वृत्तांत को कहा। रानी ने उसे कहा कि- इसने छल से तुझ सरल स्त्री को ठगा है। कपिला ने कहा कि- हे देवी! तेरी भी चतुरता को मैं तब मानूँगी, जब तुम इसके साथ में क्रीड़ा करोगी, इस प्रकार के उसके वचन को सुनकर रानी ने उसे अंगीकार किया।

एक बार राजा आदि के वन में क्रीड़ा करने के लिए चले जाने पर शून्य गृह में कायोत्सर्ग में स्थित सुदर्शन को कामयक्ष की मूर्ति के दंभ से वाहन में चढ़ाकर पंडिता नामक स्व-धात्री के द्वारा लाकर के स्व-भुवन के अंदर गुप्त-रीति से रखकर अभया कामविभ्रम आदि दिखाने के साथ में अत्यंत प्रार्थना करने लगी। तो भी सुदर्शन का मन लेश मात्र से भी चलित नहीं हुआ। अभया स्तन-उपपीड़ से उसे सर्व अंगों में आलिंगन देने लगी, तो भी चित्त क्षोभित नहीं हुआ। तब कुपित हुई अभया ने पूत्कार किया। उसे सुनकर रक्षक उसे पकड़कर राजा के आगे ले गये। पूछने पर भी अभया के ऊपर दया से उसने मौन का आश्रय लिया। उससे दोष की संभावना कर रुष्ट हुए राजा ने कहा कि- इसे विडंबित कर और नगर में भ्रमण कराकर मारो, ऐसा रक्षकों को आदेश दिया। वैसा कर रक्षकों के द्वारा ले जाये जाते हुए सुदर्शन को उसकी प्रिया ने देखा। तब उस प्रिया ने कलंक के उतर जाने तक जिनेश्वर के आगे कायोत्सर्ग किया।

इस ओर रक्षकों ने उसे शूल पर चढ़ाया और वह शूल सिंहासन हुई। अब रक्षकों ने उसके वध के लिए तलवार से प्रहार

कीये और वेंकठ में हारपने को, मस्तक पर मुकुटपने को, दोनों कानों में कुंडलपने को, हाथ और चरणों में कड़ापने को प्राप्त हुए । आरक्षकों ने राजा से उस आश्चर्य का ज्ञापन किया । राजा वहाँ आकर के श्रेष्ठी का सत्कार कर और स्व-हस्ती के ऊपर बैठाकर महोत्सव सहित स्व-गृह में ले गया । उस वृत्तांत को जानकर मनोरमा ने कायोत्सर्ग को छोड़ा । राजा ने सुदर्शन के मुख से रानी के वृत्तांत को जानकर के श्रेष्ठी के वचन से अभया को अभय देकर और श्रेष्ठी को हाथी के स्कंध पर आरोपित कर स्व-गृह में भेजा । उस वृत्तांत को जानकर अभया स्वयं को लटकाकर मृत हुई और पंडिता पाटलीपुर में वेश्या के समीप में गयी ।

अब भव से विरक्त हुआ सुदर्शन व्रत को ग्रहण कर विचरण करते हुए पाटलीपुर में गया । वहाँ पर पंडिता प्रतिलाभ के बहाने से स्व-गृह में ले जाकर के और द्वार को बंद कर कदर्थित कीये गये भी चलित नहीं हुए । सायंकाल में छोड़ने पर वें मुनि वहाँ से निकलकर और वन में जाकर स्मशान के अंदर प्रतिमा से स्थित हुए । वहाँ पर भी व्यंतरी हुई उस अभया रानी ने पूर्व के वैर से अनेक उपसर्ग कीये । तो भी उस मुनि का मन चलित नहीं हुआ । शुभ ध्यान से उस मुनि ने केवलज्ञान को प्राप्त कर देशना दी । तब अभया ने भी सम्यक्त्व को प्राप्त किया । इस प्रकार से चिर समय तक केवल-पर्याय का परिपालन कर मोक्ष में गये ।

सुदर्शन के समान जो मनुष्य बलाभियोग से भी स्व-धर्म में दृढता को भजते हैं, सुदर्शनों से सुंदर वें क्षण में ही जगत् में संपत्ति-पद को प्राप्त करते हैं ।

इस प्रकार से संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में तेपनवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।

चत्वनवाँ व्याख्यान

अब छह भावनाओं का निरूपण किया जाता है-

दोनों प्रकार के धर्म की भी सम्यक्त्व की ये छह भावनाएँ हैं, जैसे कि- मूल, द्वार, प्रतिष्ठान, आधार, भाजन और निधि ।

सम्यक्त्व को इस रूप से जाने, सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए धर्म रूपी वृक्ष का मूल हैं और मुक्ति रूपी नगर का द्वार हैं, जिन द्वारा कहे हुए धर्म रूपी वाहन का सुनिश्चल पीठ हैं । विनय आदि का आधार हैं, धर्म रूपी अमृत का भाजन (पात्र) हैं और ज्ञान आदि रत्नों की निधि हैं ।

गमनिका-सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए यति और श्रावक रूप धर्म रूपी वृक्ष का सम्यक्त्व मूल हैं और उस मूल के निश्चल होने पर स्वर्ग और मोक्ष आदि फल प्राप्त कीये जाते हैं, इस प्रकार यह प्रथम भावना हैं । मोक्ष रूपी नगर का द्वार हैं, क्योंकि सम्यग्-दर्शन रूपी द्वार को छोड़कर न ही प्रवेश और अंदर गमन होता है, दूसरे नगर में नगर-द्वार के बिना प्रवेश नहीं होता है, इस प्रकार से यह द्वितीय भावना हैं । तथा जिन द्वारा कहे हुए धर्म रूपी वाहन का सम्यग्-दर्शन सुनिश्चल प्रतिष्ठान अर्थात् पीठ हैं और उस पीठ के निश्चल होने पर धर्म चिर काल तक रहता है, इस प्रकार से यह तृतीय भावना हैं । तथा विनय आदि गुणों का दर्शन आधार या अवस्थान हैं, इसके बिना विनय आदि गुणों का अस्थिरत्व होता है, यह चतुर्थ भावना है । तथा धर्म रूपी अमृत का भाजन दर्शन हैं । पात्र के बिना धर्म रूपी अमृत अन्य स्थान में स्थित नहीं होता, इस प्रकार से यह पाँचवी भावना हैं । तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि रत्नों का सम्यक्त्व निधान हैं, जैसे निधान के बिना रत्नों का स्थान नहीं होता, वैसे ही सम्यक्त्व के बिना रत्नत्रय का भी आवास स्थान नहीं होता, यह छठी भावना हैं । इस

प्रकार से सम्यक्त्व का विचार करें ।

इस विषय में विक्रमराजा का उदाहरण हैं और वह यह हैं-
कुसुमपुर में हरितिलक राजा था और उसकी पत्नी गौरी थी ।
उन दोनों का पुत्र विक्रम था । पिता ने उसे बत्तीस राज-कन्याओं के
साथ में विवाहित किया । उन राज-कन्याओं के साथ में दोगुंदुक देव
के समान सौख्य का अनुभव करते हुए दुष्कर्म के वश से अकस्मात्
ही खाँसी, श्वास और ज्वर आदि रोगों से उपद्रवित हुआ बहुत मंत्र,
तंत्र और औषधि आदि से उपचारित करने पर भी शान्ति को प्राप्त
नहीं हो रहा था । उससे रोग से पीड़ित हुए विक्रम ने रोग की शान्ति
के लिए धनंजय-यक्ष को सो भैंसें मानी, वह भी व्यर्थ हुआ ।

इस ओर वन के रक्षक से वन में आये हुए विमलकेवली को
जानकर वंदन करने के लिए उत्सुक हुआ राजा वहाँ पर गया । कुमार
ने कहा कि- हे तात ! आप मुझे वहाँ पर ले जाओ । मुनि के दर्शन से
मेरी व्याधि का क्षय और पाप का क्षय हो । राजा ने वैसा किया ।
केवली ने देशना दी । राजा ने विक्रम के महा-व्याधि का कारण पूछा ।
केवली ने कहा-

पूर्व में अन्याय का मंदिर पद्म राजा था । एक दिन उसने
शिकार करते हुए प्रतिमा में रहे हुए साधु को देखकर निष्कारण ही वैर
का चिन्तन करते हुए मुनि को बाण से मारा । तब धार्मिक प्रधान
आदि ने राजा को पिंजरे में डाला और उसके पुत्र को राज्य के ऊपर
स्थापित किया । समाधि ध्यान से मुनि सर्वार्थसिद्ध विमान में देव हुए ।

अब कितने ही दिनों के बाद पिंजरे से निकालकर नगर से
बाहर किया गया वह वन में इधर-उधर भ्रमण करने लगा । उस
राजा ने द्वेष से मुनि को मारा । तब मुनि ने ज्ञान से उसे दुराचारी
जानकर तेजो-लेश्या से भस्मसात् किया और वह मरकर के सातवीं

नरक में गया । तब आयु के क्षय से उसने स्वयंभूरमण में मत्स्यत्व को प्राप्त किया । वहाँ से सातवीं नरक में जाकर पुनः मत्स्य-भव में जाकर छठी नरक में गया ।

इस प्रकार से एक-एक नरक में दो बार, तीन बार भ्रमण कर-कर के कुदेव कुमार होकर तिर्यच, पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु आदि और अनंत काय आदि में महाआपदा को सहन करते हुए पद्म ने अनंत उत्सर्पिणीयों को व्यतीत की । अकाम निर्जरा से स्व-कर्मों को लघु करता हुआ कोई श्रेष्ठी-पुत्र होकर और तापस होकर के तेरा पुत्र हुआ हैं । अल्प मात्र में अवशिष्ट रहे हुए ऋषि-घात के पाप से यह रोगों से पराभूत हुआ हैं ।

इस प्रकार से दुःश्रवणीय पूर्व भव को सुनकर और जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त कर कुमार ने अपने आपसे इस प्रकार से कहा कि-

हे जीव ! मिथ्यात्व-मोह से मूढ़ हुए तुमने कहाँ-कहाँ पर भ्रमण नहीं किया हैं और छेदन-भेदन प्रमुख किस-किस दुःख को प्राप्त नहीं किया हैं ? फिर केवली भगवंत से कहा कि-

हे भगवन् ! मेरे ऊपर प्रसन्न हो और भव रूपी कूर्छ में से धर्म रूपी रस्सी से बाहर निकालो । मुनि ने छह भावनाओं से युक्त दर्शन का वर्णन किया । सम्यक्त्व मूलवाले श्रावक-धर्म का स्वीकार कर वह स्व-पुर में आया और निरोगी हुआ । एक दिन स्वयं ही उस यक्ष ने कहा कि- हे कुमार ! तुम मेरी शक्ति से सज्ज देहवाले, हुए हो, तुम मुझे सो भैंस दो ।

कुमार ने हँसकर के कहा कि- केवली-प्रसाद से मेरे रोग गये हैं । क्या तुम याचना करते हुए लज्जित नहीं हो रहे हो ? मैं कुंथु को भी नहीं मारता । यह सुनकर यक्ष ने क्रोध सहित कहा कि- रे ! तुम मेरे द्वारा कीये हुए को देखना, इस प्रकार से कहकर वह अदृष्ट हुआ ।

एक दिन वन में सर्वज्ञ की पूजा कर और घर पर आते हुए कुमार को दोनों पैरों से पकड़कर और भूमि के ऊपर पटककर यक्ष ने कहा कि- रे ! तुम अब भी स्व-आग्रह को क्यों नहीं छोड़ रहे हो ? यह सुनकर विक्रम ने यक्ष से इस प्रकार से कहा कि- हे यक्ष ! तुम जीव-हिंसा मत करो, क्योंकि-

करोड़ो ग्रन्थों से जो कह गया है, मैं उसे अर्ध श्लोक में कहूँगा- परोपकार पुण्य के लिए हैं और पर-पीडन पाप के लिए हैं । पृथ्वी पर स्वर्ण, गाय और पृथ्वी आदि के दाता सुलभ हैं, किन्तु जो पुरुष प्राणियों को अभय प्रदाता हैं वह लोक में दुर्लभ हैं ।

इत्यादि कुमार के साहस को देखकर यक्ष ने कहा कि- तुम मुझे प्रणाम करो, मैं उससे ही संतुष्ट होऊँगा । कुमार ने कहा कि- हे यक्ष ! प्रहास, विनय, प्रेम, प्रभु और भाव के भेद से नमस्कार पाँच प्रकार से होते हैं । वहाँ पर मत्सर से और अवहेलना से जो किसी को भी नमस्कार होता है, वह प्रहास है । पिता आदि को जो नमस्कार है, वह विनय है । जो मित्र आदि को नमस्कार है, वह प्रेम है । जो राजा आदि को नमस्कार किया जाता है, वह प्रभु है और गुरु आदि को जो नमस्कार किया जाता है वह भाव-नमस्कार है । इनके मध्य में तुम किस नमस्कार के योग्य हो ? यक्ष ने कहा कि- हे कुमार ! तुम मुझे अंतिम नमस्कार ही करो, क्योंकि मेरे द्वारा ही जगत् की सृष्टि, संहार, पालन और संसार से निस्तारण आदि किया जाता है । कुमार ने कहा कि- हे यक्ष ! जहाँ तुम ही भव-समुद्र में मग्न हो तो अन्यो को कैसे तारोगे ? क्योंकि-

जैसे कि- लोह की शिला खुद को भी डुबाती है और विलग्न हुए पुरुष को भी डुबाती है, वैसे ही आरंभ से युक्त गुरु स्व-पर को डुबोता है ।

इत्यादि युक्तियों से प्रतिबोधित हुआ यक्ष कुमार के ऊपर पुष्प-वृष्टि कर, तुम संकट में मेरा स्मरण करना, इस प्रकार से कहकर तिरोहित हुआ ।

एक दिन कुमार ने यक्ष की सहायता से दुर्जय कलिंग देश के राजा को युद्ध में जीता । अब एक दिन विक्रम राजा राजपाटिका में जाते हुए एक श्रेष्ठी के घर पर महोत्सव को देखकर प्रमोद को धारण करते हुए क्रीड़ा कर और वापिस आते हुए वही श्रेष्ठी के आवास में रोदन-क्रन्दन को देखकर के पूछा । तब किसी ने कहा कि- हे स्वामी! जन्म मात्र को प्राप्त हुआ इसका पुत्र अभी ही मर गया है, इसलिए लोग विलाप कर रहे हैं ।

इस प्रकार से सुनकर राजा ने वैराग्य को प्राप्त किया, जैसे कि- बाल्य अवस्था से ही धर्म का आचरण करे, यह जीवन अनित्य है, हमेशा पके हुए फलों के समान पतन से भय हैं ।

इस प्रकार से विचारकर और स्व-पुत्र को राज्य के ऊपर स्थापित कर दीक्षा दिन में केवलज्ञान को प्राप्त कर परम-पद को प्राप्त किया ।

इसलिए विक्रम के समान भावनाओं के द्वारा सम्यक्त्व का सेवन करना चाहिए, जिससे कि दोनों लोक में महोदय शीघ्र से प्रकट हो सकें ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में चव्वनवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



पचपनवाँ व्याख्यान

अब सम्यक्त्व के छह स्थानों में जीव-सत्ता नामक प्रथम स्थान का यह स्वरूप है -

जीव अनुभव से सिद्ध हैं और ज्ञान रूपी चक्षुवालों को वह प्रत्यक्ष हैं तथा वह अनेक वांछाओं के द्वारा जाना जाता है, इस प्रकार से वही अस्ति स्थान है ।

यहाँ पर कोई मिथ्यात्वी इस प्रकार से जीव के अभाव का आवेदन करते हैं कि- आत्मा नहीं हैं, सम्यग् प्रकार से पाँच इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष से ग्रहण करने के लिए अशक्यत्व के कारण से और आकाश-कुसुम के समान होने से, इसलिए आत्मा नहीं हैं ।

उसे दूर करने के लिए कहा जाता है कि- निश्चय ही स्व-संवेदन से अनुभव होनेवाला आत्मा है, तथा ज्ञान-चक्षुवालों को अर्थात् केवलियों को वह प्रत्यक्ष हैं । जीव न कि केवली-गम्य हैं किन्तु अनुमान-गम्य से भी सिद्ध हैं । वह अनेक वांछाओं के द्वारा-सुख, दुःख और कल्पना जालों के द्वारा निश्चय किया जाता है । यहाँ पर यह साधन हैं । चैतन्य, सुख, दुःख और इच्छा आदि का कारण होने से आत्मा हैं । जो कार्य है उसका वह-वह कारण-भूत हैं, जैसे कि घड़े का कारण मिट्टी का पिंड हैं वैसे ही यह जीव है । जिनकी सम्यग् बुद्धि हैं, उनकी सम्यक्त्व स्थानता जानी जाती हैं, इस प्रकार से निश्चय ही वही प्रथम अस्ति-स्थान हैं ।

अब जीव नित्यत्व स्थान का निरूपण किया जाता है-

द्रव्यार्थ की अपेक्षा से आत्मा व्यय और उत्पाद से विवर्जित है तथा पर्याय पक्ष से अनित्य है और सद्-भाव से शाश्वत हैं ।

द्रव्य का आश्रय कर यह आत्मा व्यय-उत्पाद से वर्जित हैं विनाश और उत्पत्ति से विरहित है, अर्थात् यह आत्मा कभी-भी

उत्पन्न नहीं होता हैं और नहीं मरण प्राप्त करता हैं । निश्चय से इस प्रकार से कहते हुए आचार्य ने नित्य एकांत पक्ष का ही स्वीकार किया है, अतः उसका निराकरण किया जाता है कि- पर्याय के पक्ष से अनित्य है- अशाश्वत हैं, जैसे कि पूर्व में कृत कराये हुए के स्मरण से- मैंने पूर्व जन्म में इस श्रीमद् अर्हद्-बिंब को कराया था और अब उसे देखने से ज्ञान की उत्पत्ति से स्मरण हुआ है । इसलिए ही उसके सपर्याय भाव से भवान्तर में गमन करने के द्वारा सादि-सान्त काल के भांगे से विशिष्टता से अनित्य है, इस प्रकार से इतना कहने से आत्मा नित्य है और उसके पर्याय अनित्य है और कभी-भी द्रव्य और पर्याय से रहित नहीं होता हैं, जो कि पूज्यों के द्वारा कहा गया है कि-

पर्याय से रहित द्रव्य को और द्रव्य से वर्जित पर्यायों को क्या कभी किसीने, कौन-से रूपवाले अथवा किस मान से देखें हैं ?

दूसरी बात यह है कि- सद्भाव से सत्ता के आश्रय से शाश्वत है तथा अनादि-अनन्त केवल अवस्थायीपने से ध्रुव जाने, इस प्रकार से मन में निश्चय कर सम्यक्त्व स्थानता को जानें ।

इस विषय में यह इन्द्रभूति का प्रबंध हैं-

मगधदेश में गोबर ग्राम में वसुभूति ब्राह्मण था और उसकी पृथ्वी नामकी पत्नी थी । उन दोनों का पुत्र इन्द्रभूति था और वह स्व-बुद्धि से व्याकरण, न्याय, काव्य, अलंकार, वेद, पुराण, उपनिषद् आदि सर्व शास्त्रों का जानकार हुआ, परंतु वह वेद के अर्थ का चिन्तन करता हुआ जीव के संशय को धारण कर रहा था । वह स्व- आत्मा में सर्वज्ञ के आडंबर को वहन करता हुआ एक बार वीर के समवसरण में आया ।

तब जिन ने उसे आलापित किया कि- हे इन्द्रभूति ! तुम इस युक्ति से जीवाभाव को स्थापित कर रहे हो कि- यह जीव घडा, छत,

गृह के समूह के समान प्रत्यक्ष से दिखायी नहीं देता है, इसलिए खरगोश के सींग के समान प्रत्यक्ष प्रमाण से जो नहीं देखा गया हैं, वह नहीं हैं। तथा अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष के द्वारा प्रवर्तन करता हैं, जैसे कि- पूर्व में रसोई-घर आदि में धूम से अग्नि को प्रत्यक्ष से ग्रहण कर उसके उत्तर काल में - जहाँ पर धूम है वहाँ पर अग्नि हैं, इस प्रकार से जानता हैं। और न ही इस प्रकार से आत्मा के लिंगी के साथ में किसी लिंग की भी प्रत्यक्ष से सिद्धि होती हैं कि जिस चिह्न से जीव में प्रत्यय हो। तथा जीव आगम से ग्राह्य भी नहीं है क्योंकि सभी के आगम परस्पर विरोधि हैं, जैसे कि-

हे भद्र ! तुम गीदड के पैर को देखो, यह लोक इतना ही है जहाँ तक इन्द्रिय से गोचर हैं, इस प्रकार से अबहुश्रुत कहते हैं।

हे सुंदर नेत्रोंवाली ! तुम खाओ, पीओ ! हे श्रेष्ठ शरीरवाली ! जो अतीत हुआ है, वह तेरा नहीं है, हे स्त्री ! जो व्यतीत हुआ है वह नहीं लौटता है और यह शरीर समुदाय-मात्र ही है।

इस प्रकार से नास्तिक कहते हैं।

तथा वेद में- सशरीरवाले को प्रिय-अप्रिय की अपहति नहीं है तथा अशरीरीपने से रहे हुए को प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करते हैं।

तथा कपिल-मत में- अकर्ता, निर्गुणी, भोक्ता और चिद् रूपवाला पुरुष हैं। इत्यादि शास्त्र से भी विरुद्धत्व के कारण से आत्मा की सिद्धि नहीं हैं। तथा यहाँ त्रिभुवन में भी आत्मा के समान कोई पदार्थ नहीं हैं जो उपमा से उपमित की जा सकें। इस प्रकार से सर्व प्रमाणों से अतीत जीव नहीं है, ऐसा तुम मान रहे हो। वह अयोग्य हैं।

हे आयुष्यमन् ! तेरे चित्त में रहे हुए जीव के संशय के समान सर्वत्र ही मैं- प्रत्यय से मैं अतीन्द्रिय भी जीव को देख रहा हूँ। अहं (मैं)

प्रत्यय से ग्रहण करने योग्य आत्मा को छुपाते हुए तुझे मेरी माता वंध्या है इसके समान स्व-वाक्य व्याहति दोष आ रहा हैं । तथा तुम स्मृति, जिज्ञासा, करने की इच्छा, गमन करने की इच्छा, कहनेवाला इत्यादि ज्ञानविशेष उन गुणों के स्व-संवेदन प्रत्यक्षपने से जीव का स्वीकार करो । तथा देह आदि और इन्द्रियों का अधिष्ठाता और भोक्ता वह जीव ही हैं । जिसका भोक्ता नहीं है, उसका भोग्य भी नहीं है, जैसे कि गधे के सींग के समान । शरीर आदि भोग्य है उससे विद्यमान भोक्तृकवाला हुआ । पुनः हे सौम्य ! तेरे संशय के सद्भाव से जीव है ही, जहाँ-जहाँ संशय हैं, वहाँ-वहाँ वह हैं, जैसे कि टूँठ और पुरुष के समान । कोई मनुष्य दूर से ही वन में टूँठ और पुरुष को देखकर टूँठ और पुरुष दोनों ही के दो धर्मों का अन्वेषण करता है कि- क्या यह टूँठ हैं अथवा पुरुष हैं ? और इस प्रकार का संशय आत्मा-शरीर दोनों के सत्त्व में ही उत्पन्न होता है, दोनों में से एक के भी अभाव में नहीं होता है । इस प्रकार के अनुमान से तुम जीव-अस्तित्व का स्वीकार करो ।

तथा हे सौम्य ! सभी आगम परस्पर विरुद्धता से युक्त हैं उससे कौन-सा आगम प्रमाण है ? और कौन-सा अप्रमाण है ? इस प्रकार का संदेह योग्य नहीं है क्योंकि सभी आगम आत्मा-सत्त्व को स्थापित करते ही हैं, जिसप्रकार से शाब्दिक कहते हैं कि- जो व्युत्पत्तिमत् और सार्थक शुद्ध पद होता है, वह वस्तु होती ही है, जैसे कि-सूर्य, और व्युत्पत्ति से रहित जो शब्द है, वह वस्तु नहीं हैं, जैसे कि-डित्थडवित्थ आदि ! जैसे कि-

ध्यान-हीन मनुष्य परमानन्द से संपन्न, निर्विकारी, रोग-रहित और निज देह में व्यवस्थित आत्मा को नहीं देखते हैं । उत्तम पुरुष आत्मा की चिन्तावाले होते हैं । मध्यमा मोह की चिन्तावाले

होते हैं । अधम पुरुष काम की चिन्तावाले और अधमाधम पर-चिन्तावाले होते हैं । जैसे कमलिनी के ऊपर नीर सर्वदा भिन्न रहता है वैसे ही सर्वदा यह आत्मा स्वभाव से देह में रहता है ।

जो सर्व शास्त्रों से संमत जीव-अभाव को कहते हैं, वे मिथ्यावादी ही हैं, इसलिए तुम असंख्य प्रदेशात्मक जीव का स्वीकार करो । तथा हे गौतम ! आत्मा के समान कोई पदार्थ नहीं है, वह योग्य नहीं है ! धर्म-अधर्म-आकाश पदार्थ उसके प्रदेश के प्रमाणवाले ही हैं । उनका स्थापन हरिभद्रसूरि कृत षड्दर्शन समुच्चय की बृहद्वृत्ति से जानें । तथा जैसे तेरे देह में आत्मा हैं, वैसे अन्य देह में भी हैं । सर्वत्र हर्ष-शोक, संताप, सुख-दुःख आदि विज्ञान उपयोग के दर्शन होने से । तथा आत्मा कुंथु होकर के हाथी होता है और इन्द्र होकर के तिर्यच होता है । इसलिए अचिन्तनीय शक्तिमान् विभु, कर्त्ता, ज्ञाता और कर्म से भिन्न-अभिन्न स्वरूपमय से देखा जाय ।

तथा तुम विज्ञान, घन आदि वेद के वाक्य का यह अर्थ कर रहे हो कि- विज्ञान-घन रूप आत्मा इन पाँच भूतों से उत्पन्न होकर, तत्पश्चात् उन महाभूतों में ही विनष्ट हो जाता है, तब विज्ञान घन आत्मा नष्ट हो जाता है । इसलिए ही पर भव में आत्मा नहीं होती है, पूर्व में ही सर्व विनाशकपने से नष्ट हो जाने से । इस प्रकार से यह अयोग्य है । इस वेद पद का यह अर्थ योग्य है, उसे तुम सुनो-

विज्ञान अर्थात् ज्ञान और दर्शन का उपयोग है, उससे घन अर्थात् निबिड यह जीव है । इन ज्ञेय-भाव से परिणत हुए भूतों से घट आदि से उत्पन्न होकर या घट आदि ज्ञानोपयोग से उत्पन्न होकर और वें ही उपयोग के लिए आलंबन लीये गये भूत है । अनु-पश्चात् काल-क्रम से अन्य मनस्कत्व आदि से दूसरे अर्थ में उपयोग होने पर ज्ञेय-

भाव से वें विनाश को प्राप्त करते हैं, न कि पुनः यह आत्मा सर्वथा ही विनष्ट होता है, जिससे कि एक यह आत्मा ही तीन स्वभाववाला हैं। वह कैसे ? तो कहते हैं कि- पूर्व के उपयोग के विगमन से विनश्वर स्वरूपवाला हैं, अपर विज्ञान के उपयोग के स्वभाव से उत्पाद स्वरूपवाला है और अनादि काल से प्रवृत्त हुए सामान्य विज्ञान मात्र संतति से पुनः यह आत्मा अविनष्ट ही रहता है। इस प्रकार से अन्य सर्व भी वस्तु को तीन स्वभाववाली जानें। प्रेत्य-संज्ञा नहीं हैं और अन्य वस्तु के उपयोग काल में वर्तमान वस्तु के उपयोग से पहले की विज्ञान की संज्ञा नहीं होती है। इस अर्थ से तुम जीव-सत्त्व का स्वीकार करो।

इस प्रकार से त्रिजगत् के स्वरूप को जाननेवाले भगवान् से समस्त ही पर प्रबोध के उपाय में कुशलपने से संशय रहित हुए, पचास वर्षीय और गृहीधर्म को छोड़नेवाले इन्द्रभूति ने भागवती दीक्षा ग्रहण की। भगवान् के द्वारा वें गणधर पद पर स्थापित कीये गये। स्वर्ण के समान वर्णवाले, सप्त हाथ ऊँचे देह के मानवाले, अनेक लब्धियों से युक्त, शुद्ध चरित्र के पर्याय से चतुर्थ ज्ञान को प्राप्त करनेवाले, क्षयोपशम दर्शन से युक्त, यावज्-जीव षष्ठ-तप करनेवाले, विषय-कषाय आदि को जीतने के गुणवाले वें श्री इन्द्रभूति गणधर हुए थे, जिन्होंने तीस वर्ष पर्यंत सर्वज्ञ की सेवा की थी।

एक दिन वीर ने स्व-निर्वाण के समय को समीप में जानकर प्रेम-छेदन के लिए देवशर्मा ब्राह्मण के प्रतिबोध के लिए गौतम को वहाँ पर भेजा। तब सोलह प्रहर पर्यंत देशना देकर जगदीश्वर ने अक्षय सौख्य को प्राप्त किया। श्रीगणधर उसे प्रतिबोधित कर जिन के समीप में आते हुए देव गण से सर्वज्ञ के मोक्ष को जानकर वज्राहत

हुए के समान अकस्मात् ही शोक सहित चित्तवाले हुए इस प्रकार से सोचने लगें कि- अहो ! कृपासमुद्र ने यह कौन-सी चेष्टा की है जो मुझे इस समय दूर भेजा है ? क्या मुझसे मोक्ष-मार्ग संकीर्ण हुआ होता ? हे त्रिभुवन में एक सूर्य सदृश । अब कौन मुझे प्रश्नों का उत्तर देगा ? इत्यादि विचारकर पुनः पुनः महावीर शब्द का संस्मरण करते हुए सूखे हुए कंठ-तालु से युक्त उन गणधर के मुख में उन अक्षरों के मध्य में से 'वी' इस प्रकार का वर्ण रहा ।

तब द्वादशांगी आगम को जाननेवालों होने से एक ही शब्द से सर्व शास्त्रार्थ संदर्भ के शक्तिमान् गणधर को 'वी' इस प्रकार से वर्ण-पूर्वक सुशब्द स्मृति पथ में आएँ-वीतराग, विबुद्ध, विषय-त्यागी, विज्ञानी, विकारों को जीतनेवालों, विद्वेषी, विशिष्ट श्रेष्ठ, विश्वपति, विगत-मोही, इत्यादि शब्दों के मध्य में वीतराग शब्द के अर्थ की परिभावना करते हुए मोह रहित हुए, उन्होंने पंचम ज्ञान को प्राप्त किया । देव गणों ने स्वर्ण कमल की रचना आदि विधि की । अनेक भव्यों को प्रतिबोधित कर और बारह वर्ष पर्यंत केवली पर्याय का परिपालन कर सादि-अपर्यवसित सौख्य को भोगा ।

विमल केवल ज्ञान रूपी गुण से उत्तम, जिनवर द्वारा कहे हुए आगम में उत्पन्न विनिश्चयवाले और प्रथम साधु गण के स्वामी (गणधर) गौतम में मैं सुंदर स्तुति का विधान करता हूँ ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में पचपनवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



छप्पनवाँ व्याख्यान

अब कर्त्ता नामक तृतीय स्थान कहा जाता हैं-

जीव हेतुओं के द्वारा शुभाशुभ कर्मों को करता हैं, उससे आत्मा कर्त्तृक जाना जाय, जैसे कि- कारणों से कुंभकार के समान ।

यह भावार्थ हैं- जैसे कुम्हार मिट्टी, चक्र, वस्त्र आदि कारणों से घड़े को उत्पन्न करता हैं, वैसे ही कषाय आदि बंध के हेतुओं से जीव कर्म को बाँधता है । इस प्रकार से तत्त्व का ज्ञाता सम्यक्त्व स्थानता में अवगाहन करता है, इस प्रकार से यह तृतीय स्थान हैं ।

अब भोक्तृ स्थान का निरूपण किया जाता है-

स्वयं कीये हुए कर्मों को स्वयं ही उनका अनुभव करता है और कभी-भी अकृत कर्मों का भोग नहीं होता ।

इस विषय में अग्निभूति का उदाहरण है और वह इस प्रकार से है-

मगधदेश में गोबरग्राम में वसुभूति ब्राह्मण रहता था और पृथ्वी नामकी उसकी पत्नी थी । उन दोनों को अग्निभूति पुत्र हुआ ।

एक दिन अग्निभूति सोमभट्ट के गृह में यज्ञ करने के लिए पाँच सो छात्रों के साथ में आया । तब प्रथम ही गये इन्द्रभूति को प्रभु के समीप में प्रव्रजित हुए सुनकर के उसने सोचा कि- तीनों भुवन में भी दुर्जय मेरे भाई इन्द्रभूति को किसी दुष्ट इन्द्रजालिक ने छल आदि से छलित किया हैं । जगत् के गुरु ऐसे मेरे भाई का चित्त भ्रमित हुआ हैं, उससे मैं जाकर उस दुष्ट को युक्ति से निग्रहित करूँगा । अहो ! सर्वज्ञ और सूर्य सदृश मेरे भाई को धिक्कार है, जो मुझे छोड़कर अकेला गया था । स्व-शक्ति को नहीं जानते हुए इसने क्या किया ? इसने सिंह का आलिंगन किया है । अब मेरा वहाँ पर शीघ्र जाना ही योग्य हैं । इत्यादि वचन से गर्जना कर वह प्रभु के समीप में आया ।

तब सर्वदर्शी के द्वारा नाम और गोत्र से भाषित किया गया वह सोचने लगा कि- मैं जगत् में प्रसिद्ध हूँ, मुझे कौन नहीं जानता? यदि मेरे हृदय में रहे हुए संशय को जानेगा और दूर करेगा, तब मुझे विस्मय होगा। इस प्रकार से उसके विचार करते हुए भगवान् ने कहा कि- हे अग्निभूति गौतम ! तुम यह मान रहे हो कि क्या कर्म है अथवा नहीं ? निश्चय ही तेरा संशय अनुचित है। तुम वेद पदों के अर्थ को नहीं जानते हो, उससे तुम संशय कर रहे हो। उनका यह अर्थ है, और वे यें वेद के पद हैं- पुरुष ही यह सर्व हैं (ग्निं) जो हुआ है और जो होनेवाला है तथा अमृतत्व का स्वामी है, जो अन्न से अतिरोहन करता है, जो चलता और जो नहीं चलता है, जो दूर पर है और जो समीप में हैं, जो इस सर्व के अंदर है और जो इस सर्व के बाहर से जो हैं इत्यादि।

तेरे पक्ष में उनका यह अर्थ है- पुरुष आत्मा ही है, ग्निं शब्द निश्चय में है और वह कर्म-निषेध के अर्थ में हैं। यह सर्व-प्रत्यक्ष वर्तमान चेतनाचेतन हैं, जो हुआ हैं- जो अतीत हैं। और जो होनेवाला हैं- मुक्ति और संसार। उत शब्द समुच्चय बोधक हैं। अमृतत्व का- अमरण का, मोक्ष का। ईशान- प्रभु हैं। जो अन्न से अतिरोहन करता है- जो आहार से वृद्धि को प्राप्त करता हैं। जो चलता है, जैसे कि- पशु आदि ! जो नहीं चलता है, पर्वत आदि ! जो दूर पर हैं- मेरु आदि ! और जो समीप में हैं। वह भी आत्मा ही है, इस प्रकार से अर्थ हैं। जो अंतर्-मध्य में। इस चेतन-अचेतन के। सर्व का जो ही हैं- इस सर्व के बाहर से। वह सर्व पुरुष ही हैं, इस प्रकार से तुमने इससे कर्म-अभाव को स्थापित किया है और वह अयोग्य हैं, क्योंकि कोई वेद-वाक्य विधिवाद से युक्त हैं, कोई अर्थवाद प्रधान हैं और अपर अनुवाद पर हैं।

वहाँ पर स्वर्ग की इच्छावाला अग्निहोत्र यज्ञ को करें, इत्यादि विधिवाद प्रधान हैं। अर्थवाद तो स्तुति-अर्थवाद अथवा निन्दा-अर्थवाद से हैं। वहाँ पर-पुरुष ही इत्यादि स्तुति-अर्थवाद-पर हैं और पशु वध का हेतु होने से यज्ञ को न करे, इसप्रकार से यह निन्दा-अर्थवाद है। बारह मास का संवत्सर होता है, अग्नि उष्ण होता है, अग्नि हिम का औषध है, इत्यादि अनुवाद प्रधान हैं क्योंकि लोक में प्रसिद्ध अर्थ का ही इनमें अनुवाद होने के कारण से। उससे पूर्व में कहे हुए स्तुतिपरी को जात्यादि मद के त्याग के लिए और अद्वैतवाद प्रतिपादक के रूप में देखो। तथा हे सौम्य ! वहाँ पर आत्मत्व से अविशिष्ट आत्माओं की जो यह देव, असुर, मनुष्य, तिर्यच आदि रूप अथवा राजा, रंक आदि रूप जो वैचित्र्य हैं, उसे तुम निहंतुक मत देखो और सदा ही भाव-अभाव के दोष प्रसंग को प्राप्त मत करो, क्योंकि-

सत्त्व अथवा असत्त्व नित्य हैं, हेतु रहित होने से और अन्य की अपेक्षा नहीं होने से। और जो ही इसके वैचित्र्य का हेतु है, वही कर्म हैं। तथा पौराणिक भी कर्म की सिद्धि को स्वीकार करते हैं और वें जिस प्रकार से कहते हैं-

जैसे-जैसे निधान में रहे हुए के समान पूर्व कृत कर्म का फल अवस्थित होता है, वैसे-वैसे प्रदीप हाथ में ली हुई के समान उसका प्रतिपादन करने में उद्यत मति प्रवर्तन करती हैं।

हे पांडव-ज्येष्ठ (हे युधिष्ठिर) ! जो मानव वहाँ पर पूर्व कृत कर्म का स्मरण नहीं करते हैं, वह यह दैव है, इस प्रकार से कहा जाता है।

इसलिए मूर्त कर्म को स्वीकार करना चाहिए और कर्म के अमूर्तत्व में कर्म के पास से आत्माओं का अनुग्रह और उपघात न हो, जैसे कि आकाश आदि के समान। इस कर्म के साथ जीव का संयोग अनादिक जानें। यदि सादि हो तो मुक्त आत्माओं को भी

कर्म-योग हो, क्योंकि अकर्मकत्व के अविशेषणने से । तब मुक्त अमुक्त हो और यह इष्ट नहीं है, उस कारण से प्रवाह से संयोग अनादिक हैं । फिर अनादि संयोग में जीव का कर्म के साथ में कैसे विरह हो ? तो कहा जाता है कि- जो कि स्वर्ण और पाषाणों का संयोग अनादिक है, फिर भी उस प्रकार की सामग्री के सद्-भाव में धमन आदि से शल्य का वियोग देखा गया है, और इस प्रकार से ही जीव का भी ध्यान-अग्नि के द्वारा अनादि कर्म के साथ में वियोग सिद्ध होता है ।

तथा हे आयुष्यमन् ! कर्म के अभाव में धर्म-अधर्म, दान-अदान, शील-अशील, तप-अतप आदियों का सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक आदि फल सर्व ही व्यर्थ हो । उस कारण से स्व-पक्ष को छोड़कर तुम कर्म सद्भाव का स्वीकार करो । जगत् आदि सभी वस्तुओं का कर्त्ता ईश्वर ही है, उससे वंध्या के पुत्र की लीला के समान अदृष्ट कर्म की कल्पना से क्या प्रयोजन है ? जो तुम्हारे द्वारा स्वीकृत किया गया है कि वह मूर्त्त हो तो अमूर्त्त कर्त्ता जगत् आदि का सर्जन करता है, वह अयोग्य है । यदि वह मूर्त्त अथवा कुम्हार के समान क्यों दिखायी नहीं देता है ? यदि अमूर्त्त जगत् का सर्जन करता है तो शरीर आदि के अभाव से उसे जगत् सृष्टि में सामर्थ्य कैसे हो ? इसलिए शुभ-अशुभ कर्मों का कर्त्ता जीव ही है और भोक्ता भी जीव ही हैं । इसलिए ही आगम में कहा गया है कि- हे भगवन् ! जीव से आत्मा-कृत दुःख हैं, पर-कृत दुःख हैं अथवा उन दोनों से कृत दुःख हैं ? हे गौतम ! आत्मा-कृत है न कि पर-कृत, न ही उन दोनों से कृत हैं । इसलिए आत्मा कीये हुए को स्वयं ही भोगता है । तथा हे अग्निभूति ! मैं ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को प्रत्यक्ष से देख रहा हूँ । उससे तुम सत्त्व का स्वीकार करो । तुम्हारे संशय और विज्ञान के समान मुझे

जीव, कर्म आदि कोई भी वस्तु अदृश्य नहीं हैं । तथा वेद में-पुण्य कर्म से पुण्य और पाप कर्म से पाप इत्यादि हैं । उस कारण से आगम से भी सिद्ध कर्म का तुम स्वीकार करो ।

इस प्रकार से भगवान् से प्रतिबोधित हुए उसने स्व-क्रोध को छोड़कर सोचा कि- अहो ! महा-भाग्य है, जो मुझे विश्व से पूज्य और निबिड़ जड़ता के एक हरण करने में सूर्य के समान अनंत गुणों से युक्त गुरु मिले हैं । इस प्रकार से आनंद सहित उसने छियालिसवें वर्ष में पाँच सो छात्रों के साथ में दीक्षा ली । दश वर्ष पर्यंत छद्मस्थ पर्याय का परिपालन कर केवलज्ञान प्राप्त किया । सोलह वर्षों तक भवस्थ केवलज्ञान को भोग कर उन्होंने अभवस्थ केवलज्ञान पद को अलंकृत किया । यहाँ पर बहुत युक्तिवाले व्याख्यान को श्रीजिन-भद्रगणि क्षमाश्रमण कृत महाभाष्य बृहद्वृत्ति से जानें ।

जिनेन्द्र के वाक्य से संशय रहित हुए द्वितीय भट्टारक श्री-अग्निभूति ने संयम को ग्रहण कर और त्रस आदि जीवों में दयामय आगम की प्ररूपणा कर निर्वाण नगर को प्राप्त किया ।

इस प्रकार से संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में छप्पनवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



सत्तावनवाँ व्याख्यान

अब निर्वाण नामक पंचम स्थान का निरूपण किया जाता है-

बंध हेतुओं के अभाव में घाति कर्मों के क्षय से केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर, शेष कर्मों के क्षय से मोक्ष होता है । तीनों भुवन में सुर, असुर और राजाओं को जो सुख हैं, मोक्ष के सुख-संपदा से उस सुख का स्वाद अनन्त भाग में भी नहीं हैं । निर्वाण पद को अनंत सुख से संपूर्ण, अक्षय और प्रवाह से अनादि-अनंत इस प्रकार से विश्व के जाननेवालों ने कहा है ।

अब यह छद्म मोक्षोपाय नामक स्थान है ।

शास्त्र में ज्ञान आदि तीनों ही मोक्ष के उपाय प्रकाशित कीये गये हैं । इस प्रकार से सम्यक्त्व-रत्न के छट्टे स्थान का चिन्तन करे ।

इस विषय में प्रभास गणधर का उदाहरण है-

राजगृह नगर में बल नामक ब्राह्मण रहता था और उसकी अतिभद्रा नामकी पत्नी थी । उन दोनों को प्रभास नामक पुत्र हुआ था । वह वेद, सांख्य, मीमांसा, अक्षपाद, योगाचार आदि शास्त्रों का ज्ञाता होने से अहंकार के पूरण से स्व-आत्मा के बिना सर्व जगत् को मूर्ख के समान मान रहा था ।

इस ओर यज्ञ के समय में समूहित हुए ब्राह्मणों के मध्य में इन्द्रभूति आदि जो-जो महावीर स्वामी के समीप में गये थे, वे-वें सिंह को देखकर के हिंसक प्राणियों के समान निज-निज मान को छोड़कर प्रभु-चरण रूपी मानस-सरोवर में हंसत्व को प्राप्त हुए । लोगों के मुख से उस वार्ता को सुनकर प्रभास ने सोचा कि-निश्चय से इस रूप से स्व-धाम से ईश्वर ही हमको पवित्र करने के लिए आये जान पड़ रहे हैं । अन्यथा ऐसी शक्ति न हो । इसलिए मैं उसके

पांडित्य, स्वरूप, चातुर्य और श्रेष्ठ वर्णनीय का अवलोकन करता हूँ । दोनों प्रकारों से भी मेरा वहाँ पर गमन करना न्याय से युक्त है । एक ज्ञाति समूह भेद के अभाव से योग्य हैं और द्वितीय पुनः किसी युक्ति से यदि मैं उसे घुणाक्षर के न्याय से जीतता हूँ तो सभी के मध्य में मेरी श्रेष्ठता हो, इस प्रकार से विचारकर वह प्रभु के समीप में आया ।

तब प्रभु ने कहा कि- हे आयुष्यमान् प्रभास ! तुम इस प्रकार से मान रहे हो कि निर्वाण है अथवा नहीं ? विरुद्ध वेद पदों के अर्थ के कारण से तुझे यह संशय हुआ है और वें यें वेद पद हैं- जो यह सर्व अग्निहोत्र है वह यावज्जीव हैं, तथा-वह गुफा दुरवगाहनीय है । तथा-पर और अपर दो ब्रह्म हैं और वहाँ पर पर-ब्रह्म सत्य और अपर ब्रह्म ज्ञान अनंत हैं ।

तुम्हारे मन में इन पदों का यह अर्थ है कि- जो अग्निहोत्र है वह यावज्जीव ही करना चाहिए और अग्निहोत्र की क्रिया भूत-वध के हेतु होने से पाप व्यापार रूपवाली हैं और वह स्वर्ग के फलवाली ही होती है न कि मोक्ष फलवाली । यावज्जीव इस प्रकार के कहने से काल का अंतर नहीं है । जहाँ पर अपवर्ग(मोक्ष) के हेतु हुई क्रिया के अंदर आरंभ हो, उससे साधन के अभाव से मोक्ष का अभाव हुआ है । तथा गुफा-मुक्ति रूपिनी है और वह संसार के अभिनन्दियों को दुरवगाहनीय है अर्थात् दुष्प्रवेशनीय हैं । तथा पर-ब्रह्म-सत्य और मोक्ष है और अनंत-ब्रह्म-ज्ञान हैं । प्रथम वाक्य-नास्तित्व (नहीं है, इसका) का सूचक है और दूसरा वाक्य-अस्तित्व (है का) का सूचक जानें । तुझे इस प्रकार से संशय है कि- इनके मध्य में से कौन-सा प्रमाण वाक्य है ?

हे प्रभास ! इन पदों का यही अर्थ करना चाहिए कि- जो यह अग्निहोत्र है, उसे यावज्जीव सर्व-काल ही करना चाहिए और

अथवा शब्द से मुमुक्षुओं के द्वारा मोक्ष का हेतु-भूत अनुष्ठान भी करना चाहिए, इस प्रकार का अर्थ योग्य है । तथा हे सौम्य ! तुम इस प्रकार से मान रहे हो कि- क्या दीपक के समान ही इस जीव का निर्वाण होता है ? जो कि कोई बौद्ध विशेष इस प्रकार से कहते हैं कि-

जैसे कि- विराम को प्राप्त हुआ दीपक न ही पृथ्वी में जाता है और न ही अंतरीक्ष में, न ही किसी दिशा में और न ही किसी विदिशा में, किन्तु तैल के क्षय से केवल शान्ति को प्राप्त करता है । वैसे ही निर्वृति को प्राप्त हुआ जीव न ही पृथ्वी में जाता है और न ही अंतरीक्ष में, न ही किसी दिशा में और न ही किसी विदिशा में, किन्तु क्लेश के क्षय से केवल शान्ति को प्राप्त करता है ।

तथा जैन-आगम में क्या है ?-

केवल सच्चिद् दर्शन रूपवाले, सर्व पीड़ा, दुःख से परिमुक्त हुए तथा क्षीण हुए आन्तर शत्रु गणवाले ऐसे मुक्ति में गये हुए जीव आनंदित होते हैं ।

अब इसका यह प्रतिविधान है कि- प्रदीप के अग्नि का सर्वथा ही विनाश नहीं होता है क्योंकि दूध के समान ही परिणामवन्त होने के कारण से अथवा परिणामांतर को प्राप्त हुए चूर्ण कीये हुए घड़े के समान सर्वथा नाश नहीं होता है । यदि सर्वथा नाश नहीं होता है तो बुझ जाने के बाद यह अग्नि साक्षात् क्यों दिखायी नहीं देती है ? तो उत्तर कहते हैं कि- दीपक के बुझ जाने के अनंतर ही अंधकार का पुद्गल रूप विकार प्राप्त किया जाता है और जो प्राप्त नहीं किया जाता है वह अत्यंत सूक्ष्म परिणाम को प्राप्त करने के कारण से है जैसे कि काले मेघ के विकार के समान । निश्चय से पुद्गल की परिणति विचित्र रूपवाली है ।

जैसे कि-पत्र के रूप में किया गया स्वर्ण चक्षु से ग्राह्य होकर

और शुद्धि के लिए अग्नि में डाला गया, भस्म में मिला हुआ वह स्पर्शन इन्द्रिय के ग्राह्यता को प्राप्त करता है और सूक्ष्म रीति से चूर्ण किया गया तथा धूल से संपर्क से युक्त हुआ वह निकृष्ट और मूल्य रहित होता है । इत्यादि अनेक पुद्गलों में विचित्रपने को स्व-बुद्धि से विचार करना चाहिए । तथा दीपक के पुद्गल चक्षु से ग्राह्य होकर पश्चात् बुझ जाने पर यें ही अंधकार रूप से हुए घ्राणेन्द्रिय के ग्राह्यता को प्राप्त करते हैं । जैसे अन्य रूप को प्राप्त हुआ दीपक बुझ गया है (निर्वाण हुआ है) इस प्रकार से कहा जाता है, वैसे ही जीव भी कर्मों से विरहित हुआ केवल अमूर्त संपूर्ण जीव स्वरूप लाभ के लक्षणवाले अबाध परिणामांतर को प्राप्त हुआ निर्वाण-निर्वृति(मोक्ष) को प्राप्त हुआ, इस प्रकार से कहा जाता है । शब्द आदि विषयों के उपभोग के अभाव से, देह, इन्द्रिय के अभाव से यह जीव निःसीम सुखवाला होता है । यहाँ पर कहा जाता है कि- मुक्त हुए जीव को परं-प्रकृष्ट, अकृत्रीम-स्वभाविक सौख्य होता है, इस प्रकार से यह प्रतिज्ञा-वचन हैं । ज्ञान का प्रकर्ष होने पर जन्म, वृद्धावस्था, व्याधि, मरण, अरति, चिन्ता, उत्सुकता आदि संपूर्ण बाधा के रहितत्व के कारण से, यह हेतु हैं । तथा अविप्रकृष्ट मुनि के समान, जैसे कि- जो कुछ-भी इस संसार में माला, चंदन, स्त्री के संभोग आदि से उत्पन्न हुआ और जो चक्रवर्ती आदि पुण्य-फल हैं वह निश्चय से दुःख ही हैं, विनाशी होने से और कर्मोदय से उत्पन्न होने के कारण से । जैसे कि- पामा रोग में खुजलने के समान और अपथ्य आहार आदि के समान है । और जैसे कि कहा गया है कि-

नग्न हुए प्रेत से आविष्ट हुए के समान झंकार शब्द करती हुई उस स्त्री का आलिंगन कर गाढ से आयासित हुआ सर्वांग से अपने को सुखी मानता वह निश्चय से क्रीड़ा करता है । सकल काम-गवी

सदृश संपत्तियाँ भोगी गयी, उससे क्या हुआ ? स्व-धनों के द्वारा प्रियों को संतुष्ट किया, उससे क्या हुआ ? शत्रुओं के सिर के ऊपर पैर दिया, उससे क्या हुआ ? प्राणियों के देहों से कल्प पर्यंत स्थित हुआ, उससे क्या हुआ ? इस प्रकार से स्वप्न और इन्द्रजाल के समान तथा परमार्थ से शून्य कुछ-भी साधन-साध्य का समूह नहीं हो जो अत्यंत निर्वृति करनेवाला और बाधा रहित हो, उससे हे जनों । यदि चेतना है तो तुम ब्रह्म की वांछा करो ।

इसलिए सर्व सुख, तत्त्व से दुःख ही है और जो महाभाष्य में कहा गया है कि- दुःख के प्रतिकार से चिकित्सा के समान विषय-सुख दुःख ही है और वह उपचार से सुख हैं तथा उसके बिना उपचार नहीं होता हैं ।

विषय-सुख तत्त्व से दुःख ही हैं, जैसे कि-दुःख के प्रतिकार रूप में होने से कुष्ठ, बवासीर रोग में क्वाथ का पान, छेदन, डंभन आदि चिकित्सा के समान है । लोक में जो वहाँ पर सुख का देखाव है, वह उपचार से ही है और अपारमार्थिक के बिना कहीं पर भी उपचार का प्रवर्तन नहीं होता है, जैसे कि- बालक आदि में सिंह आदि उपचार के समान । उस कारण से मोक्ष का सौख्य निरुपम है, यह स्थित हुआ है । तथा हे प्रभास ! वेद में भी संसार और मोक्ष स्वरूप का प्रतिपादन किया हुआ है, जैसे कि-सशरीरवाले को प्रिय-अप्रिय की अपहति नहीं हैं । अशरीरीपने से रहे हुए को प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करते हैं । न- यह निपातन निषेध अर्थ में हैं । हि, वै-यह दोनों भी निपात है और 'हि' शब्द का अर्थ होने से जिस कारण से अर्थ में हैं । शरीर के साथ रहता है वह सशरीरवाला जीव है, उसे ! प्रिय-अप्रिय का अर्थात् सुख-दुःख का, अपहति अर्थात् विघात, अन्त हैं । किन्तु अशरीरी को नहीं हैं । उससे अशरीर अर्थात् शरीर रहित,

मुक्ति अवस्था में-लोकाग्र में रहे हुए जीव को, प्रिय-अप्रिय अर्थात् सुख-दुःख, स्पर्श नहीं करते हैं। यह कैसे प्राप्त किया जाता है? तो कहते हैं कि- ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय के भाव से वह प्राप्त किया जाता है। जो कि दर्शन-सप्तिका में कहा गया है कि-

सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र संपूर्ण मोक्ष साधन के उपाय हैं, उससे यहाँ पर स-शक्ति से ज्ञात हुए तत्त्वों में प्रयत्न युक्त हैं। तथा-

जो प्रधान मुनि धर्मशीलवाले हैं वे नियम से ही दुःख-हीन होते हैं शीघ्र से परमार्थ तत्त्व को प्राप्त कर वे सुख के एक रूपवाले मोक्ष में जाते हैं।

इत्यादि युक्तिओं से प्रतिपादित कीये गये प्रभास ने निज संशय को छोड़कर तीन सो छात्रों के साथ में जिन के समीप में दीक्षा ग्रहण की। सोलह वर्षीय प्रभास ने गृहस्थ पर्याय को छोड़कर सर्वविरति का स्वीकार किया। आठ वर्ष तक छद्मस्थ पर्याय को भोगकर निरावरण, निर्व्याघात केवलज्ञान को प्राप्त किया। सोलह वर्ष तक बहुत भव्यों को प्रतिबोधित कर केवली ने जिसके लिए उद्योग किया था, उसी सौख्य को भोगा। इस प्रकार से संक्षेप से सर्व गणधरों का यह वक्तव्य हुआ।

महावीर स्वामी के विद्यमान होते नव गणधरों ने निर्वाण को प्राप्त किया तथा महावीर के निर्वाण के पश्चात् इंद्रभूति और सुधर्मा स्वामी ने राजगृह में निर्वाण को प्राप्त किया। इसप्रकार से यह आवश्यक निर्युक्ति में है। बाल्य काल में भी चारित्र पद को ग्रहण कर जिन्होंने प्रभु से पहले निर्वृत्ति को प्राप्त की थी, मुनियों में श्रेष्ठ वे प्रभास मेरे प्रचुर उदय के लिए हो।

सर्व भी गणधर एक मास तक पादोपगमन को प्राप्त हुए तथा

सर्व भी लब्धियों से संपन्न, वज्र ऋषभ नाराच संघयण और समचतुरस्र संस्थानवाले थे ।

इस प्रकार से संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में सत्तावनवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



अष्टावनवाँ व्याख्यान

अब यहाँ पर कितने ही अन्य भी सम्यक्त्व के भेदों का निरूपण किया जाता है-

जीव-तत्त्व की श्रद्धा से सम्यक्त्व एक प्रकार से होता है और निश्चय-व्यवहार से सम्यक्त्व दो प्रकार से माना गया है ।

केवल अनंतर कहे हुए सम्यक्त्व के इकसठ भेद व्यवहारदृष्टि के अंतर्गत होते हैं । अन्त्य छह भेद निश्चय के अन्तर्गत होते हैं । अब यह सम्यक्त्व पाँच प्रकार से होता है, जैसे कि- औपशमिकी, सास्वादन क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक-इस तरह से पाँच प्रकार से हैं ।

वहाँ प्राणी के कर्म-ग्रन्थि के भेदित होने पर प्रथम सम्यक्त्व लाभ में अन्तर्मुहूर्त तक औपशमिक सम्यक्त्व होता है । तथा शांत-मोहवाले मुनि को उपशमश्रेणि से मोह के उपशम से उत्पन्न हुआ द्वितीय औपशमिक सम्यक्त्व होता है ।

सम्यक्त्व को प्राप्त कर तत्काल ही उदीर्ण हुए अनंतानुबंधि से उसे वमन करता हुआ भवी जो उसके रस-आस्वाद को प्राप्त करता है वह सास्वादन नामक सम्यक्त्व जघन्य से एक समय तक और उत्कर्ष से छह आवली तक होता है ।

उदय को प्राप्त हुए मिथ्यात्व मोहनीय के क्षय और उपशम से संभवित क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, सम्यक्त्व गुण योगी को होता है ।

अनंतानुबंधि के क्षय हो जाने पर तथा मिथ्यात्व-मिश्र के सम्यक् प्रकार से क्षय हो जाने से क्षायिक के संमुख, सम्यक्त्व के अन्त्य अंश को भोगनेवाला और क्षपकश्रेणि को प्राप्त हुए प्राणी को वेदक नामक सम्यक्त्व होता है ।

मिथ्यात्व, मिश्र सम्यक्त्व के साथ अनंतानुबंधि के क्षय से जीव को जो तत्त्व-श्रद्धा होती है वह क्षायिक है ।

गुण से यह सम्यग्-दर्शन तीन प्रकार से होता है और वें नाम से इस प्रकार से हैं- रोचक, दीपक और कारक । वहाँ हेतु और उदाहरण के बिना शास्त्र में कहे हुए तत्त्वों में जो प्रत्यय उत्पत्ति रूपी दृष्टि है, वह रोचक कहा गया है ।

यहाँ रोचक के विषय में यह कृष्ण वासुदेव का प्रबन्ध है-

एक बार द्वारिका नगरी में वर्षा-रात्रि में नेमिजिन ने समवसरण किया था । कृष्ण ने पूछा कि- मुनि वर्षा में विहार क्यों नहीं करते हैं ? स्वामी ने कहा कि- बहुत जीवों से भूमि के आकुलित हो जाने से । उससे वह भी अंतः पुर के मध्य में रहते हुए चातुर्मासी को व्यतीत करने लगा । कृष्ण का वीरक नामक सेवक राज-दर्शन को प्राप्त नहीं करता हुआ नित्य ही प्रवेश द्वार के ऊपर पुष्प आदि से पूजा कर चला जाता था, परंतु भोजन, वस्त्र, दाढी-मूँछ, नख की शुद्धि नहीं कर रहा था । वर्षा काल के व्यतीत हो जाने पर वीरक ने आकर के राजा को नमस्कार किया । कृष्ण ने पूछा कि- तुम कृश क्यों दिखायी दे रहे हो ?

द्वारपाल ने विज्ञप्ति की कि- देवपाद को नहीं देखने पर भोजन आदि न करूँ, उससे यह ऐसा हुआ है । यह सुनकर संतुष्ट हुए

कृष्ण ने उसे सर्वत्र अवारित प्रवेशवाला कर नेमि को वंदन करने के लिए गया । धर्म को सुनकर उसने कहा कि- हे स्वामी ! मैं भागवती दीक्षा और व्रत ग्रहण करने के लिए असमर्थ हूँ, तो भी अन्य कोई लेगा तो मैं उसका महोत्सव करूँगा । इस प्रकार के अभिग्रह से वह घर पर आया । एक दिन विवाह के योग्य निज पुत्रियाँ प्रणाम करने के लिए आयी । कृष्ण ने उनसे पूछा कि- तुम को वशवर्ती स्वामिनी होना है अथवा दासी बनना है ? उन्होंने कहा कि- आपकी कृपा से हम स्वामिनी होंगी । कृष्ण ने भी कहा कि- यदि ऐसा है तो तुम विनम्रों को सम्मत ऐसे उत्तम व्रत को नेमिनाथ के समीप में ग्रहण करो । इस प्रकार से सुनकर उन सभी ने महाव्रत लिये ।

एक दिन एक रानी ने अपनी पुत्री को शिक्षा दी कि- तुम पिता से इस प्रकार से कहना कि मैं दासी होऊँगी । एक बार राजा ने पुत्री से पूछा, तब उसने सीखाया हुआ उत्तर दिया । तब कृष्ण ने सोचा कि- *इसके समान ही मेरी अन्य भी पुत्री संसार में न गिरें*, इसलिए मैं इसे इसके सीखाएँ दासीत्व फल को ही देता हूँ । इस प्रकार से सोचकर कृष्ण ने रहस्य में वीरक से पूछा कि- अरे ! पूर्व में तूने जिस किसी-भी अद्भुत कार्य को किया हुआ हो, उसे तुम निवेदन करो । तब उसने कहा कि- देह-चिन्ता करते हुए मैंने बेर पेड़ के शिखर के ऊपर रहे हुए गिरगिट को मिट्टी के ढेले से मारकर नीचे गिराया था । तथा वर्षा में बैल-गाड़ी के मार्ग में चक्र से उखाड़े हुए और पानी को वहन करनेवाले गड्ढे से बाहर जाते हुए पानी को बायें पैर से रोका था । तथा पांजनी-पात्र में प्रविष्ट हुई और गुम-गुम शब्द करती हुई मक्खियों के समूह को मैंने दोनों हाथों से रोकी थी । यह सुनकर कृष्ण थोड़ा हँसा और सभा में स्थित होकर कहने लगा कि- तुम वीरक के चरित्र और कुल के बारे में सुनो-

जिसने बेर पेड़ों के वन में निवास करनेवाले लाल-फणाओंवाले सर्प को क्षिति-शास्त्र से गिराया था, वह यह महान् क्षत्रिय हैं। जिसने चक्र के द्वारा खोदी हुई और कलुष पानी को वहन करनेवाली गंगा को अपने बायें पैर से रोका था, वह यह महान् क्षत्रिय हैं। जिसने कलशीपुर में निवास करनेवाली और शब्द करनेवाली सेना को बायें हाथ से रोकी थी, वह यह महान् क्षत्रिय हैं।

उससे यह वीरक इस केतुमञ्जरी के योग्य हैं, इस प्रकार से कहकर कृष्ण ने इच्छा नहीं करते हुए भी उस वीरक को वह कन्या दी। वीरक भी कृष्ण के भय से उससे विवाह कर और स्व-गृह में ले जाकर सेवा में तत्पर हुआ। वह बहुत दिनों के बाद कृष्ण के समीप में आया। कृष्ण ने उससे पूछा कि- क्या मेरी पुत्री तेरी आज्ञा का पालन कर रही है अथवा नहीं? वीरक ने कहा कि - मैं आपकी पुत्री की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। कृष्ण के द्वारा उसका अत्यंत धिक्कार कीये जाने पर, वह वीरक गृह में जाकर उससे कहने लगा कि- रे, तुम कलश को तैयार करो, गृह को साफ करो और जलाशय से जल लेकर आओ। पूर्व में नहीं सुने हुए को सुनकर उसने कहा कि- हे स्वामी! मैं कुछ-भी नहीं जानती हूँ। वीरक ने रस्सी से उसे गाढ़ रीति से मारा। वह रोती हुई पिता के आगे कहने लगी। कृष्ण ने कहा कि- तूने ही दासत्व को माँगा था। उसने कहा कि- हे पिताजी! मैं इसके गृह में नहीं रहूँगी। अब आपकी कृपा से मैं स्वामिनी ही होऊँगी। कृष्ण ने वीरक को अनुज्ञापन कर उसे प्रव्रज्या ग्रहण करायी किन्तु स्वयं ही अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से युक्त होने से व्रत आदि के ग्रहण में असमर्थ हुआ था।

एक दिन श्रीनेमिजिन ने रैवतक के ऊपर समवसरण किया था, तब स-परीवार कृष्ण वंदन करने के लिए गया। उसने अठारह

हजार साधुओं के गण को द्वादशावर्त-वंदन से वंदन किया । अन्य राजा श्रान्त हुए स्थित हुए । किन्तु वीरक कृष्ण की अनुवृत्ति से ही उसके साथ मैं द्रव्य से वंदन करने लगा । पसीने से भीगे हुए शरीरवाले कृष्ण ने श्रीनेमि से कहा कि- मैं तीन सो और साईठ संग्रामों से ऐसे श्रम को प्राप्त नहीं हुआ था । भगवान् ने कहा कि- हे कृष्ण ! तूने सप्तक के क्षय से क्षायिक और आगामिक चौबीसी में बारहवाँ अमम नामक और पश्चानुपूर्वी से तेरहवाँ तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन किया है तथा सातवीं पृथ्वी के योग्य आयु कर्म को तृतीय में ला दिया है । यह सुनकर उसने कहा कि- मैं पुनः भी वंदन कर उसे भी दूर करूँगा । जिन ने कहा कि- उस समय का निःस्पृहत्व भाव तो तभी चला गया था, परंतु तूने जगत् में सर्व उत्तम पदार्थों को स्वीकृत कीये है, इसके आगे भी तुम और किसकी इच्छा कर रहे हो ? पूर्व निदान से तृतीय नरक का आयुष्य तो बद्ध वासुदेव पद के आधीन है, उसका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि- राम(बलदेव) निदान-रहित कीये हुए होते हैं इत्यादि वचन से । उस भगवान् के वाक्य को निश्चलता से मानता हुआ कृष्ण स्व गृह में गया ।

यहाँ पर शिष्य का प्रश्न है कि- हे पूज्य ! तृतीय नरक में तो उत्कृष्ट से सात सागरोपम का आयु कहा गया है । नेमि जिन का और होनेवाले बारहवें तीर्थकर अमम नामक कृष्ण के जीव का अन्तर अडतालीस सागरोपम हैं, वह एक भव से कैसे पूर्ण हो ? इसका उत्तर देते हैं कि- श्रीहेमचन्द्राचार्य कृत नेमिचरित्र में पाँच भव कहे हुए हैं, तत्त्व को केवली जानते हैं । शुद्ध श्रद्धा गुण से युक्त श्रीकृष्ण शीघ्र से भव के पार को प्राप्त करेगा । वसुदेव-हिंडी में तो-कृष्ण तीसरी पृथ्वी से बाहर निकलकर भरतक्षेत्र में शतद्वार नगर में मांडलिक के भव को प्राप्त कर और प्रव्रज्या का स्वीकार कर तीर्थकर नाम बाँधकर

और वैमानिक में उत्पन्न होकर बारहवाँ अमम नामक तीर्थकर होगा, इस प्रकार से श्रीकृष्ण भव-पार को प्राप्त करेगा । रोचक गुण भी श्रेणिक आदि को तीर्थकर आदि पद दायकपने से प्रसिद्ध हैं ।

तीनों भुवन में जिसके गुणों को देव-मानव गा रहें हैं, वह श्रीकृष्ण श्रीजैन-शासन में तीन प्रकार से भक्त हुआ था ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद की वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में अष्टावनवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



उनसठवाँ व्याख्यान

अब कारक गुण की व्याख्या की जाती है-

जिस तरह से प्रवचन से सुना गया है, वैसे ही गुरु के वाक्य को और सर्व तप-व्रत आदि को करना चाहिए और वैसे सेवन करने से वह कारक माना गया है ।

इस विषय में यह काकजंघ-कोकास का उदाहरण है-

सोपारक में विक्रमधन राजा था और उस नगर में ही रथकारों में अग्रणी सोमिल रहता था, उसे देवल नामक पुत्र था । ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ उसी रथकार की दासी का कोकास नामक पुत्र था । वह रथकार अपने पुत्र को बड़े आक्षेप से प्रति दिन कलाओं को सीखाता था । क्योंकि-

माता-पिताओं के द्वारा मारा गया पुत्र, गुरु द्वारा शिक्षित किया गया शिष्य और हथोड़े से मारा हुआ स्वर्ण लोगों में अलंकार के रूप में होते हैं ।

परंतु उसे कोई-भी कला प्रकट नहीं हो रही थी । दासपने से

उसके समीप में मौनपने से ही रहते हुए भी गुरु से अधिकतर हुआ कोकास लीला से ही सर्व कलाओं की पात्रता को प्राप्त हुआ । क्रम से सोमिल के स्वर्ग लोक में चले जाने पर पुत्र की कला विकल से राजा की आज्ञा से कोकास ने ही उसके पद को ग्रहण किया ।

अहो ! प्राचीन के शुभाशुभ कर्म ऐसे होते हैं जो दासी का पुत्र होकर भी अत्यंत ऊँचे गृह-स्वामीत्व को प्राप्त किया और गृह-स्वामी ने भी दासत्व को प्राप्त किया । एक दिन गुरु की देशना से कोकास जैन मत में निपुण हुआ सर्वज्ञ धर्म की आराधना करने लगा ।

इस ओर मालव देश में विचारधवल राजा था । उसे चार नर-रत्न हुए थे । वहाँ रसोईयाँ यथा-अभिलाषित रसोई को करता था जिसको भोजन करने से उसी क्षण में, क्षणांतर में, प्रहर में, उसी दिन अथवा पक्ष-मास आदियों में यथा-इच्छित ही भूख उत्पन्न होती थी, न कि उसके पूर्व अथवा बाद में । शय्या-पालक कुछ वैसी शय्या की रचना करता था, जिसमें सोया हुआ पुरुष घड़ी आदि रूप यथा-इच्छित काल में जाग जाता था । अंगमर्दक एकपल आदि बहुत तैल को शरीर के अंदर आवर्तन करता था, पश्चात् सुख पूर्वक सर्व भी तैल को आकर्षण करता था और स्वल्प भी दुःख का उत्पादन नहीं करता था । चतुर्थ भंडागारिक वैसे भंडार की रचना करता था, जिससे कि उसमें रखे हुए धन को उसके बिना कोई नहीं देख सकता था और वहाँ पर खात्र और अग्नि का भय उत्पन्न नहीं होता था । इन रत्नों से चिन्तित विषयों को साधनेवाले राजा ने बहुत दिनों को व्यतीत कीये ।

एक दिन पुत्र के अभाव से विरक्त हुआ व्रत को ग्रहण करने की इच्छावाला राजा किसी गोत्री को राज्य देने की इच्छा करने लगा ।

तभी रत्न-चतुष्टय में लुब्ध हुए पाटलिपुत्र के राजा जितशत्रु ने सहसा ही उज्जयिनी को घेर दी। तब काक-तालीय न्याय के समान उस नगर का स्वामी शूल-रोग से पीड़ित हुआ समाधि से मृत्यु को प्राप्त हुआ। प्रायः कर महाशूल आदि की उत्पत्ति ही मृत्यु रूप नाटक की नान्दी हैं। जो कि कहा गया है कि-

जीव शूल, विष, सर्प, विसूचिका, पानी, अग्नि, शस्त्र और सभ्रमों के द्वारा मुहूर्त मात्र में देहांतर में संक्रमण करता हैं।

नायक के बिना सेना मार दी गयी हैं, इस प्रकार से सोचकर अमात्य आदि ने भेंट के समान वह नगरी जितशत्रु राजा को दी। पश्चात् राजा ने चारों भी पुरुष-रत्नों की परीक्षा की। एक दिन समग्र देह से तैल का आकर्षण करते हुए अंगमर्दक ने राजा की अनुज्ञा से एक जाँघ में पाँच कर्ष मित तैल को रखा। तब राजा ने सभा में कहा कि- अन्य जो कोई-भी अभिमानी हैं, वह इस जंघा से तैल को निकालें। अन्य अंगमर्दक बहुत उपायों से भी तैल को निकाल नहीं सकें, उससे वें सभी विलक्ष मुखवालों हुए। अंगमर्दक-रत्न भी उसी दिन में निकालने में समर्थ था, न कि अन्य दिन में। कूँ में कूँ की छाया के समान वह तैल वैसे ही रहा था। जाँघ के काली हो जाने के कारण से वहाँ से लेकर वह लोगों में काकजंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लोगों का मुख बंध नहीं होता है, यह सर्व विदित ही है। वैसा लोक में अच्छा नाम प्रसिद्धि को प्राप्त नहीं होता है, जैसा कि अपना नाम होता हैं, उदाहरण के लिए- माषतुष, कूरगडुक, सावद्याचार्य, रावण आदि के समान।

इस ओर कुंकण देश में निर्धन जनों का संहार करनेवाला और महा-राक्षस के समान महा-दुर्भिक्ष हुआ था, जिसमें धनवान् भी निर्धन के समान हुए थे और राजा भी रंक के समान हुए थे। जो कि

कहा गया हैं कि-

मान को छोड़ देता है, गौरव का त्याग करता हैं, दीनता को प्राप्त करता हैं, लज्जा को छोड़ देता हैं, नीचत्व का आलंबन लेता है, पत्नी-बन्धु, पुत्र-अपुत्रों में विविध अपकारों की चेष्टा करता है, उससे भूख से पीड़ित प्राणी क्या-क्या निंदित को भी नहीं करता हैं ?

ऐसे दुर्भिक्ष के प्रवर्तमान होने पर कोकास स्व-कुटुंब के निर्वाह के लिए उज्जयिनी में गया । वहाँ पर किसी सहाय के बिना राजा से मिलने में असमर्थ हुआ कोकास बहुत काष्ठों के कबूतरों का निर्माण कर उस प्रकार के कील आदि के प्रयोग से राजा के धान्य कोठारों में भेजने लगा । वें भी जीवन्त के समान तत्क्षण ही वहाँ जाकर कर्णों को लेकर चोंच के द्वारा शालि चावलों से उदर को कोठे को भरने के समान ही भर कर वापिस आतें थें । कोकास उन कर्णों से स्व कुटुम्ब का निर्वाह करता था । एक दिन धान्य-रक्षकों ने जहाजों के समान ही कर्णों से पूर्ण काष्ठ के कबूतरों को चोर के समान ही धान्यागारों से निकलते हुए देखें । उससे आश्चर्य को प्राप्त हुए वें उनके पीछे जाते हुए ही कोकास के गृह में गये । वें कोकास को राजा के समीप में ले गये । राजा के द्वारा पूछने पर उसने स्पष्ट कहा कि-

मित्रों के साथ में सत्य, स्त्रीयों के साथ में प्रिय, शत्रु के साथ में मधुर-झूठ तथा स्वामी के साथ में अनुकूल-सत्य कहना चाहिए ।

तत्काल ही अतिशय के दर्शन से संतुष्ट हुए राजा ने उसे कहा कि- तुम अन्य भी विज्ञान को जानते हो ? उसने भी कहा कि- हे स्वामी ! मैं सर्व रथकार के विज्ञान को जानता हूँ । कामित गति की ओर गमन करनेवाले ऐसे काष्ठमय मयूर, गरुड़ पक्षी, तोता, कल-हंस आदि पक्षियों के ऊपर श्रेष्ठ रथ के समान ही चढ़कर भूमि के समान ही आकाश के आंगण में भी कील आदि के प्रयोग से यथा-

इच्छित गमन किया जा सकता है और आया जा सकता हैं । उसे सुनकर कुतूहल प्रिय राजा ने उसे इस प्रकार से कहा कि- तुम मेरे मार्ग में गमन-आगमन करनेवाले एक गरुड़ पक्षी का निर्माण करो जिससे कि मैं सकल भू-मंडल को देख सकूँ । उसने निर्माण किया । राजा उसके दर्शन मात्र से ही संतुष्ट हुआ और वह राजा की आज्ञा से कुटुंब सहित भी सुख पूर्वक वहाँ पर रहने लगा, क्योंकि-

नमक के समान रस नहीं हैं और विज्ञान के समान ही बांधव नहीं हैं । धर्म के समान निधि नहीं हैं और क्रोध के समान वैरी नहीं हैं ।

एक दिन राजा ने विष्णु के समान ही कोकास और स्त्री के साथ उस गरुड़ के ऊपर आरोहण कर आकाश मार्ग में प्रस्थान किया । विविध देश आदि का उल्लंघन करते हुए और भृगुकच्छ नगर के ऊपर जाते हुए राजा ने कोकास से उस नगर का नाम आदि पूछा । वह भी गुरुओं के मुख से पूर्व में सुनी हुई कथाओं को कहने लगा कि- इस भृगुकच्छ नगर में पूर्व में श्रीमुनिसुव्रत स्वामी ने प्रतिष्ठान नगर से एक ही रात्रि में साईठ योजन का अतिक्रमण कर याग में हवन कीये जाते और पूर्व भव के मित्र ऐसे श्रेष्ठ घोड़े को प्रतिबोधित कर और उसे धर्म में स्थिर अनुरागी कर सौधर्म में सामानिक-ऋद्धि प्राप्त करायी थी । वहाँ पर तभी आकर उस देव ने जिन-समवसरण के स्थान पर जिन और निज घोड़े की मूर्ति से युक्त चैत्य और अश्वावबोध तीर्थ का स्थापन किया था । इस प्रकार विविध देशों को देखते हुए लंका नगरी को देखकर राजा ने उसका स्वरूप पूछा । तब उसने कहा कि- हे स्वामी ! यहाँ पर पूर्व में रावण हुआ था और लोक में उसकी ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार से सुना जाता है, जैसे कि-

रावण ने अपनी शय्या के पैर में नव ग्रहों को बाँधें थे । यम को बाँधकर पाताल में डाला था । उसके गृह-आंगण में वायुदेव

साफ-कर्त्ता था, चारों भी मेघ गन्ध-पानी के वर्षुक थें, यम अपनी भैंस से जल वहन कर्त्ता था, आरती उतारनेवाली सात भी माताएँ थी, शेष नाग छत्र धारक था, सरस्वती वीणा वादिनी, रंभा नृत्य-कारिका, तुंबुरु गायक, नारद दूत, महेश्वर ताल-वादक, सूर्य अन्न पकानेवाला, चन्द्र अमृत-स्रावी, मंगलग्रह भैंस को दोहनेवाला, बुध आईना दीखानेवाला, गुरु घड़ी यंत्र वादक, शुक्र मन्त्रीश्वर, मन्द पृष्ठ-रक्षक, अट्टासी हजार ऋषि प्याऊ-पालक, नारायण दीपिकाधारी, ब्रह्मा पुरोहित, इत्यादि ऋद्धि से समृद्ध^१ भी रावण ने पर-स्त्री के ग्रहण से दुःख को प्राप्त किया था ।

इस प्रकार से ही अन्य दिन पश्चिम दिशा में जाते हुए कोकास ने शत्रुञ्जय-रैवत प्रबंध का वर्णन किया । इस प्रकार से उत्तर दिशा में कैलास-अष्टापद नामक तीर्थ का तथा शाश्वत सिद्धायतन, जिन-कल्याणक स्थानादि को दिखाते हुए वह इस प्रकार से हस्ति-नापुर के स्वरूप को कहने लगा कि- हे राजन् ! यहाँ पर सनत्कुमार आदि पाँच चक्रवर्ती, पांडव, ऋषभदेव का वार्षिक तप का पारणा, शान्ति आदि तीन जिनों का मोक्ष कल्याणक को छोड़कर चार कल्याणक, विष्णुकुमार का उत्तर वैक्रिय की विकुर्वणा, कार्तिक श्रेष्ठी का एक हजार और आठ पुरुषों के साथ व्रत, प्रव्रज्या आदि अनेक शुभ कार्य हुए थें । प्रति-दिन इत्यादि पूर्व तीर्थों के माहात्म्य आदि के श्रवण से जिन-धर्म के मर्म को प्राप्त करनेवाले राजा को कोकास गीतार्थ के समीप में ले गया । गुरु ने देशना दी कि-

गृहस्थों को सम्यक्त्व मूल पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षापद व्रत हैं । दूसरे मेघों के समान ही अन्य धर्म फलों से विसंवादित भी होते हैं किन्तु पुष्करावर्त्त मेघ के समान ही जैन-धर्म

कभी-भी इस प्रकार से नहीं होता है । इत्यादि धर्म वाक्य को सुनकर राजा ने दर्शन मूलवाले बारह व्रतों को ग्रहण दिग्विरति व्रत के विषय में दिन के प्रति एक सो योजन से ऊपर गमन का नियम लिया था । एक दिन काष्ठ गरुड़ के पीठ ऊपर आरोहण कर यशोदेवी नामक अग्र-महिषी के साथ में गमन करने के मनवाले राजा को जानकर विजया नामक सौत स्त्री ने रोष से अन्य के समीप में मूल कील का संग्रह कर उस रूपवाली ही अन्य कील कराकर वैसे ही स्थापित की थी । क्योंकि-

स्त्रियाँ उन्मत्त प्रेम की उग्रता से जो आरंभ करती हैं, उसमें विघ्न करने में ब्रह्मा भी कायर होता हैं ।

कोकास और यशोदेवी के साथ में काष्ठ-गरुड़ के ऊपर आरोहण कर आकाश का उल्लंघन करते हुए राजा ने दिग्विरति व्रत का संस्मरण कर कहा कि- हे मित्र ! हमने कितने मात्र में क्षेत्र का उल्लंघन किया हैं ? उसने कहा कि- हे स्वामी ! दो सो योजन व्यतीत हुए हैं । उसे सुनकर राजा ने खेद सहित कहा कि- पीछे फिराओ, फिराओ ! व्रत को जानकर निषिद्ध के आचरण से मूल से ही भंग होता हैं और व्रत को जाने बिना ही ओघ से गमन करना अतिचारकारी है तथा वह प्रतिक्रमण आदि से शुद्ध होता हैं । हा ! हा ! कुतूहल-प्रिय मुझे धिक्कार हो, धिक्कार हो जिसने आत्मा के हित को भी नहीं जाना हैं । इत्यादि सर्वस्व गये के समान वह अत्यंत शोक करने लगा । तब रथकार का स्वामी कोकास जब गरुड़ को पीछे फिराने के लिए कील को ग्रहण करने लगा, तब अन्य कील का निश्चयकर चिन्तातुर हुआ कहने लगा कि- हे देव ! दुर्भाग्य के वश से किसी दुष्ट ने कील का परावर्तन किया हैं और उसके बिना यह पीछे गमन नहीं कर सकता हैं । यदि इसके आगे कितना मात्र ही क्षेत्र गमन किया जाये तो सर्व

सुखकारी होगा, अन्यथा यहाँ शत्रु सीमा भूतल पर पतन से अनर्थ होगा ।

यह सुनकर राजा ने कहा कि- हे मित्र ! क्यों तुम इस प्रकार अनंत भव दुःखदायी और विधि विध्वंसक वाक्य कह रहे हो ? अनाभोग आदि से निषिद्ध के सेवन से व्रत की मलिनता रूप से अतिचार ही होता है, किंतु जानकर उल्लंघन करने से व्रत-भंग ही होता है । अपक्व कुंभ के समान अतिचार से खंडित हुआ व्रत सुखपूर्वक संधान भी किया जा सकता है, किन्तु पक्व, भग्न हुआ कुंभ वैसा नहीं है । इसलिए आगे पद मात्र गमन की भी सर्वथा ही अनुमति नहीं है, क्योंकि-

इतर मनुष्यों को स्वीकार किया हुआ, जल, धूल, पृथ्वी आदि के ऊपर रेखा के समान ही होता है, किन्तु महात्माओं को स्वीकृत किया हुआ पाषाण रेखा के समान होता है ।

कटुक द्रव्य के आस्वादन के समान व्रत-उल्लंघन का फल अभी ही आ गया है, इसलिए तुम इस कील से ही वापिस फिराओ । उसकी दृढ़ता की पुनः पुनः प्रशंसा करते हुए कोकास ने गरुड़ को पीछे फिराने में प्रयुक्त किया, उतर्ने में ही दोनों पाँखों के मिल जाने से वह नीचे गिर पड़ा, परंतु भाग्य से सरोवर में गिरने से अभग्न अंगवालों उन्होंने तीर प्रदेश को प्राप्त किया । वहाँ समीप में काञ्चनपुर को देखकर रथकार ने स्वामी को शिक्षा दी कि-हे राजन् ! आप यहाँ पर सावधानता से रहो, जिससे कि कोई भी न जान सके । मैं इस नगर में रथकार के गृह में जाता हूँ । इस प्रकार से कहकर निःशंक ही राज-मान्य रथकार के गृह में आकर कोकास ने कील घड़ने के लिए विशिष्ट उपकरणों की याचना की । वह रथकार भी रथ के चक्र करण की सामग्री को मध्य में रखकर उनको लाने के लिए जब वह

घर के अंदर गया, तब कोकास ने उससे अधिक दिव्य चक्र का निर्माण किया, हाथ से छोड़ा हुआ जो सदा आघात के बिना स्वयं ही जाता है ।

अब आकर रथकार उस असाधारण कला को देखकर सोचने लगा कि- निश्चय से यह कोकास ही हैं, पृथ्वी के ऊपर उसके बिना अन्य को यह दिव्य कला कहाँ से हो ? इस प्रकार से निश्चयकर और किसी प्रपञ्च से वहाँ उसका संरक्षण कर राजा के समीप में जाकर सूत्रधार ने कहा कि- हे राजन् ! पुण्य से कहीं से कोकास मेरे गृह में आया है । यह सुनकर निज पुरुषों से उसे लाकर राजा ने इस प्रकार से पूछा कि- तुम्हारा स्वामी कहाँ हैं ? मारने के भय से, अत्यंत पटु बुद्धिवाले उसने भी थोड़ा चित्त में विचारकर स्व राजा की स्थिति और स्थान कहे । कनकप्रभ ने सैन्य के साथ वहाँ जाकर उसे बाँधा और विडंबना पूर्वक काष्ठ के पिंजरे में डाला । कलिंग का राजा उसे अन्न मात्र भी नहीं देता था । दया सहित मनवाले बहुत लोग राजा के भय से पुण्य के लिए कौर्वे के दान के बहाने से पिंड देने लगे । इस प्रकार कौर्वे के पिंड से प्राण-धारण करते हुए कभी-भी दुःखों को प्राप्त नहीं करनेवाले राजा ने स्व कर्म की निन्दा करते हुए दिनों को व्यतीत कीये । क्योंकि-

यहाँ पर कौन सदा ही सुखी हैं ? अथवा किसकी लक्ष्मी स्थिर है ? कौन मृत्यु से ग्रहण नहीं किया गया है ? कौन विषयों में गृद्ध नहीं हैं ?

एक बार राजा कोकास के वध के लिए सज्ज हुआ, तब लोगों ने कहा कि- हे स्वामी ! कील के लिए महल-भंग के समान यह आपको योग्य नहीं है । उत्तम पुरुष गुणों में स्व-पर विभाग का चिन्तन नहीं करते हैं, क्योंकि-

कलावान् पुरुष स्व अथवा पर भी सभी को बहुमान के योग्य होता है और विशेष कर राजा के अत्यंत महिमा से आस किया गया बहुमान के योग्य होता हैं ।

राजा ने सत्कार कर उसे कहा कि- हे कला-कुशल । तुम गरुड़ के समान ही आकाश-मार्ग में गमन करनेवाले मेरे योग्य कमल के आकारवाले भुवन का निर्माण करो । उसमें शत दल हो और उनमें मेरे पुत्रों के योग्य मंदिर हो, कर्णिका के स्थान में मेरे योग्य भुवन हो और उसके समीप में अमात्य आदि मंत्री वर्ग का स्थल हो, तुम इस प्रकार के देव विमान का निर्माण करो । जीवित-आशा से युक्त और गूढ़-आशयवाले उसने भी-स्वामी का आदेश प्रमाण हैं इस प्रकार से कहकर स्व-इच्छित की सिद्धि के लिए बाह्य से ही राजा के चित्त का आह्लादक कमल-गृह का निर्माण किया ।

कोकास ने गुप्त रीति से काकजंघ से कहा कि- हे स्वामी ! आप चिन्ता को छोड़कर जिन-ध्यान में निमग्न हो । मैं अमुक दिन में शत्रु को विडंबना पद पर आरोपण करूँगा । कोकास ने गुप्त वृत्ति से स्व राजा के पुत्र को सैन्य सहित लाया । उसे समीप में आया जानकर उसी दिन शुभ मुहूर्त आदि कर कोकास ने सपरिवार राजा कनकप्रभ को उसमें बैठाया । गर्व से सौधर्म भुवन का तिरस्कार करते हुए राजा भी हर्षित हुआ ।

इस ओर कोकास ने उल्लास पूर्वक कहा कि- हे स्वामी ! आप सपरिवार स्व-स्व स्थान के ऊपर बैठो । मैं कील के प्रयोग से तत्काल ही आकाश के कौतुक को दिखाता हूँ । भोजन के लिए भूख से पीडित रंक के समान वैं भी कौतुक को देखने के लिए स्व-स्व स्थल पर बैठें । कोकास स्वयं ही किसी बहाने से उस गृह से बाहर निकलकर कहने लगा कि- रे मूढ़ों ! तुम मेरे प्रभु के विडंबना के फल

को देखो, इस प्रकार से कहकर जब उसने कील का परावर्तन किया, तब निद्रालु के दोनों नेत्रों के समान सकल भी महल मिल गया। कलीदार कमल के अंदर रहे हुए भँवर के समान वहाँ वें सर्व हाहारव करने लगे। जो कि अन्य उक्ति में कहा गया है कि-

रात्रि व्यतीत होगी, सुप्रभात होगा, सूर्य उदय को प्राप्त करेगा, कमल रूपी लक्ष्मी हँसेगी, इस प्रकार से कोश में रहे हुए भ्रमर के विचार करते, हा ! हंत ! हंत ! गज ने कमलिनी को उखाड़ दिया।

इस ओर कोकास के संकेत से काकजंघ का पुत्र कनकप्रभ राजा के सुभटों को जीतकर और नगर में जाकर अपने पिता को काष्ठ-गृह से बाहर निकालकर रथकार के साथ में निज नगर में गया। स्व नियम से अधिक दूर होने के कारण से काकजंघ ने उसके राज्य को स्वीकार नहीं किया। स्व-राज्य करते हुए उसने निज भाई के साथ अपनी पत्नी के दुश्चरित्र को जानकर गांभीर्य से कुछ-भी प्रकट नहीं किया, क्योंकि-

मतिमंत पुरुष अर्थ-नाश, मन के संताप को, गृह में दुश्चरित्रों को, वञ्चन और अपमान को प्रकाशित नहीं करते।

इस ओर यहाँ पर स-परिवार राजा को निकालने की आशा से कमल-गृह को तोड़ने के लिए अन्य बहुत लोग कुहाड़ा आदि से घात दिला रहें थे, तब वें राजा आदि विपरीत ही वेदना को प्राप्त करने लगे। उससे अन्य गति से रहित हुए वें जन अवन्ती में जाकर कोकास से स्व स्वामी के जीवित भिक्षा की प्रार्थना करने लगे। उसने भी दास के समान उनके स्वामी की सेवा-कारिता को उन लोगों के प्रति कहकर और शीघ्र से उस नगर में जाकर उस भुवन को उद्घाटित कर बाहर निकाला। राजा ने भी पिता के समान आराधना कर उसे विसर्जित किया।

एक दिन गुरु को नमस्कार कर काकजंघ और कोकास दोनों ने स्व पूर्व भव के बारे में पूछा । सूरि ने कहा कि- हे राजन् ! पूर्व भव में गजपुर का स्वामी ऐसा तेरा यह जैन-ब्राह्मण सूत्रधार था । उसके वचन से तुमने अनेक महल कराएँ थें । एक दिन वहाँ पर कहीं से एक कला-पात्र जैन सूत्रधार आया था । उसकी जाति आदि से निन्दा करते हुए वह जैन-विप्र सूत्रधार तेरे आगे कलाओं के मात्सर्य से चुगली करने लगा, क्योंकि-

कलावान्, धनवान्, विद्वान्, क्रियावान्, धन-मानवान्, राजा, तपस्वी और दाता स्व तुल्य को सहन नहीं करते ।

हे राजन् ! तुमने भी जैन सूत्रधार को छह घड़ी पर्यंत कारा-वास में डाला था, पश्चात् उसको छोड़ाया । उसकी आलोचना कीये बिना ही राजा और सूत्रधार सौधर्म के सौख्य को भोगकर तुम दोनों हुए हो । जाति मद से कोकास को दासत्व मिला हैं और व्यर्थ ही उसे छह घड़ी तक धारण कर रखने से तुम दोनों को छह मास पर्यंत दुःख हुआ हैं । इस प्रकार से ज्ञानी के द्वारा कहे हुए को सुनकर और स्व-पुत्र को राज्य के ऊपर स्थापित कर राजा ने रथकार के साथ में दीक्षा ली और क्रम से केवलज्ञान को प्राप्त कर दोनों ने सिद्धि-गति को प्राप्त की ।

कोकास की बुद्धि से धर्म में दृढ़ किया गया और कारक दर्शन से संपन्न प्रसिद्ध श्रीकाकजंघ राजा ने अतीन्द्रिय ज्ञान से पर सिद्धि गति को प्राप्त की थी ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में उन्साठवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



साठवाँ व्याख्यान

अब यह दीपक सम्यक्त्व इस प्रकार से हैं-

मिथ्यादृष्टि अथवा अभव्य स्वयं धर्म कथा आदि से दूसरों को बोधित करता है, इस प्रकार से यह दीपक दर्शन होता है।

यहाँ पर यह भावना है- अनादि-सान्त भांगा-वाला प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि किसी पुण्य से श्रावक-कुल में उत्पन्न होता है। वहाँ पर कुलाचारता से गुरु आदि सामग्री को प्राप्त कर महत्त्व के अर्थीपने से अथवा मत्सर, अहंकार, हठ आदि से जिन-बिंब, मंदिर आदि श्रावकोचित सुकृतों को करता है। परन्तु देव आदि स्वरूप को नहीं पहचानने से और ग्रन्थि का भेदन नहीं करने से वह प्राणी सम्यग् भाव के बिना ही अनंत बार सुकृतों को करता है। परंतु उसे करने से कोई विशिष्टतर लाभ नहीं होता, जो कि आगम में कहा गया है कि-

प्रायः कर जीव ने असमंजस की वृत्ति से अनंत देव-मंदिर और प्रतिमाओं का निर्माण कराया है, किन्तु दर्शन लेश भी शुद्ध नहीं हुआ। इस प्रकार से दर्शन-रत्नाकर में है।

तथा अनादि-अनन्त भांगे से आद्य गुणस्थानवर्ती अभव्य बहुत बार सामग्री के सद्भाव होने पर भी भव-मध्य में कभी-भी सास्वादन स्वभाव को प्राप्त नहीं करता। त्रिभुवन को शरण देनेवालों ने जो कहा है कि-

काल में सुपात्र दान, विशुद्ध सम्यक्त्व, बोधि-लाभ और अंत में समाधि मरण को अभव्य जीव प्राप्त नहीं करते। इन्द्रत्व, चक्रीत्व, पाँच अनुत्तर देव विमान में वास और लोकांतिक देवत्व को अभव्य जीव प्राप्त नहीं करते। शलाका पुरुषपना, नारदपना, त्रायस्त्रिंश, पूर्वधर, इंद्र, केवली से दीक्षितपना, सास्वादन, यक्षिनी

और यक्ष-इनको अभव्य जीव प्राप्त नहीं करतें हैं । संगम, कालसूरि, कपिला, अंगारमर्दकाचार्य, दो पालक, नो-जीव की स्थापना करनेवाला गोष्ठामाहिल और उदायी राजा का मारक-यें अभव्य प्रसिद्धि में आए हैं ।

चारों सामायिकों के मध्य में अभव्य को कभी उत्कृष्ट श्रुत सामायिक का लाभ होता है वो भी साडे नौ पूर्व तक, किन्तु उससे अधिक नहीं । मिथ्यात्व से संयुक्त यें दोनों भी भव्य और अभव्य धर्म-कथन आदि से, आदि शब्द से मातृ स्थान अर्थात् समिति और गुप्ति के अनुष्ठान के अतिशय से दूसरों को बोधित करते हुए अर्थात् शासन को दीपित करते हुए । कारण में कार्य के उपचार से उन दोनों में दीपक सम्यक्त्व होता है, यह भावार्थ है ।

इस विषय में यह अंगारमर्दकसूरि का संबंध है-

क्षितिप्रतिष्ठपुर में श्रीविजयसेनसूरि के शिष्य ने रात्रि के समय स्वप्न में पाँच सो हाथियों से घेरे हुए एक सूअर को देखा । प्रातः काल में गुरु के प्रति वैसा ही कहा । उसे सुनकर सूरि ने कहा कि- पाँच सो शिष्यों से युक्त आज एक अभव्य गुरु आयगा । उसी दिन पाँच सो शिष्यों से चरण सेवित रुद्राचार्य वहाँ पर आये । भोजन आदि से उसकी भक्ति कर द्वितीय दिन स्व-शिष्य के संदेह निवारण के लिए उस सूरि के अभव्यत्व को ज्ञापन कराने के लिए लघुनीति के स्थान में गुप्त रीति से सुविहिताचार्य और स्व-शिष्य के द्वारा जले हुए कोयले रखवाये । रात्रि के समय में अभव्याचार्य के शिष्यों ने मात्रा के परिष्ठापन के लिए गति-आगति करते हुए पैर से दब जाने से कोयले की आवाज को सुना । कोयले रूपी द्रव्य को नहीं जानने से जीवों का उपमर्दन जानकर वें सभी पुनः पुनः पश्चात्ताप से स्व-आत्मा की निन्दा करने लगे और प्रतिक्रमण करने लगे । तत्पश्चात्

रुद्रसूरि स्वयं ही, लघुनीति के स्थान में आये । उन कोयले के शब्दों को सुनकर, पुनः पुनः उपमर्दन करने के द्वारा शब्द करते हुए कहने लगा कि- यें अरिहंत के जीव पूत्कार कर रहें हैं । सूरि ने यह वाक्य स्व-शिष्य को प्रत्यक्ष से सुनाया । सूरि ने प्रातः काल में रुद्रसूरि के शिष्यों से कहा कि- अभव्य होने से यह तुम्हारा गुरु सेवा के योग्य नहीं हैं, क्योंकि-

सर्प एक मरण को देता हैं, किन्तु कुगुरु अनंत मरण को देता हैं, उससे सर्प को ग्रहण करना श्रेष्ठ हैं, लेकिन कुगुरु की सेवना श्रेयस्कारी नहीं हैं । असंयत माता-पिता और गुरु को वंदन न करें तथा स्वच्छंद राजा और देवताओं की भी सेवना न करें । भ्रष्टाचार सूरि, भ्रष्टाचार की उपेक्षा करनेवाला सूरि और उन्मार्ग में स्थित सूरि, ये तीनों सूरि भी मार्ग का नाश करते हैं ।

अनुयोगद्वार सूत्र में बाह्य से आचरण करनेवालों इस प्रकार से कहे गए हैं- षट् काय अनुकंपा से रहित जो ये श्रमण गुणों से मुक्त योगी घोड़ों के समान दुर्दम और हाथी के समान निरंकुश, शरीर को परिष्कृत, प्रसाधित, स्निग्ध करनेवालों, श्वेत वस्त्रों को धारण करनेवालों, जिनेश्वरों की आज्ञा से स्वच्छंद और बाहर विहार करनेवालों, उभय काल भी आवश्यक के लिए उपस्थित होते हैं, वह लोकोत्तर द्रव्य आवश्यक ही है, इत्यादि । तथा प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में इस प्रकार से कहा गया है कि-

परमार्थ का संस्तव अथवा सुदृष्ट परमार्थ की सेवना और व्यापन्न कुदर्शन का वर्जन, यह सम्यक्त्व की श्रद्धा हैं ।

उससे मिथ्यादृष्टियों की सेवा से स्व-गुणों का च्यवन होता हैं, क्योंकि-

जो तप और संयम से हीन, नियम से रहित और ब्रह्मचर्य से परिहीन हैं वह अविरत जीव पत्थर के समान स्वयं ही डुबते हुए अन्य

को डुबाता हैं ।

यहाँ आवश्यक निर्युक्ति की बृहद्वृत्ति के अनुसार से कहे हुए अर्थ को प्रबन्ध के द्वारा दृढ़ करते हैं, जैसे कि-

एक साधु समुदाय में श्रमण गुणों से मुक्त एक योगी प्रतिदिन गोचरी आदि आलोचन के समय में पुनः पुनः आत्मा की निन्दा करता था और प्रतिक्रमण करता था । उसे देखकर बहुत मुनि उसकी प्रशंसा करने लगे ।

एक दिन सम्यग् ज्ञानादि से युक्त एक संविग्न साधु आये । उन्होंने भी वैसे करते उस योगी को देखकर अन्यो को यह उदाहरण कहा, जैसे कि-

एक ऋद्धिमान् गृहस्थ स्व-गृह को रत्नादि से भर कर पुण्य के लिए उसे अग्नि से भस्मसात् किया । तब सभी जन उसकी प्रशंसा करने लगे कि- अहो ! रत्नादि में इसकी निर्लोभता ! फिर से भी रत्नादि से भरे हुए गृह से भगवान् अग्नि को तर्पण दिया । तब वायु की प्रचंडता से बढ़ती हुई अग्नि की ज्वाला से समस्त गाँव भी भस्मसात् हुआ । राजा ने श्रेष्ठी को दरिद्र कर नगर से निकाल दिया । अन्य भी गाँव में वैसे करते एक व्यापारी को जानकर राजा ने पहले ही अशुभ भविष्य का विचार कर उसे नगर से बाहर किया । उससे सभी सुखी हुए । उस व्यापारी के समान ही यह योगी भी तुम्हारी प्रशंसा और सेवा के योग्य नहीं हैं । यह सुनकर सभी उस बाह्याचारी को छोड़कर स्व-स्व धर्म की आराधना करने लगे । इसलिए तुम भी अभव्य गुरु को छोड़कर चारित्र्य का आचरण करो ।

यह सुनकर विस्मय को प्राप्त हुए वैशिष्य इस प्रकार से सोचने लगे कि- अहो ! रुद्राचार्य का कोई महान् क्रिया-दंभ हैं, नित्य सेवा करने पर भी हम आज भी नहीं जान सकें हैं । इस प्रकार से विचारकर और अभव्य

गुरु को छोड़कर, संयम का परिपालन कर और देवत्व को प्राप्त कर तथा वहाँ से च्यवकर वें दिलीप राजा के पाँच सो पुत्र हुए । यौवन अवस्था में वें गजपुर के राजा द्वारा रचित स्वयंवर मंडप में गये थें ।

इस ओर अंगार मर्दक का जीव बहुत भवों में भ्रमण कर ऊँट के रूप में उत्पन्न हुआ । वह भी उसी नगर में बहुत भार के समूह से आक्रान्त हुआ रोते हुए देखा गया । ऊँट के झन-झन शब्द से अनुकंपा से युक्त हुए चित्तवाले उन्होंने कहा कि- अहो ! पूर्व के कर्म से अनाथ और अशरण यह महा-दुःख का वेदन कर रहा हैं । जो कि श्रीमद्देवेन्द्राचार्य ने कर्म-ग्रन्थ में कहा है कि- *गूढ हृदयी, शठ, शल्य से युक्त तिर्यच के आयुष्य को प्राप्त करता है*, इत्यादि चिन्तन करते हुए उन्होंने जातिस्मरण ज्ञान को प्राप्त किया । उस ज्ञान से पूर्व भव के स्व आत्मीय गुरुपने को उसमें जानकर उन राजपुत्रों ने उसे उस भव के दुःखों से दूर किया । भव-नाटक को देखकर राजपुत्रों ने चारित्र ग्रहण करने के द्वारा केवलज्ञान को प्राप्त किया ।

अंगारमर्दकाचार्य बाह्य से वैरागी था और उसके पाँच सो शिष्य मोक्ष की इच्छावाले थें । दीपक सम्यक्त्ववाले उसने लेश से भी स्व-आत्मा का हित नहीं किया था, इसलिए ही शुभाशय वालों को स्व-आत्मा की ही रुचि धारण करनी चाहिए ।

अंगारमर्दक यमी और बाह्य से शान्त था तथा पाँच सो मुमुक्षु पद को आश्रित कीएँ हुए थें । अंगारमर्दक ने दीपक सम्यक्त्व से लेश मात्र भी शुभ को प्राप्त नहीं किया था, उससे श्रेष्ठ श्रावक रोचक सम्यक्त्व को हृदय से वहन करें ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में साठवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।

इकसठवाँ व्याख्यान

अब यह सम्यक्त्व कौन-सी वस्तु है ? उसका निश्चय किया जाता है कि-

मिथ्या आदि पुद्गलों के अभाव से आत्मा के जो प्रदेश हैं, वे समस्त ही स्वच्छता को प्राप्त कीये गये, वही वास्तव में सम्यक्त्व हैं।

केवल मिथ्या आदि अर्थात् मिथ्यात्व और उप-लक्षण से अनंतानुबंधि कषाय के जो पुद्गल हैं, उनके क्षयोपशम आदि का अभाव हो जाने से, जिस गुण का प्रकटीकरण हो अर्थात् जीव के प्रदेशों में स्वच्छता रूप गुण श्रद्धात्मक हैं और वह वस्त्र के मलिनत्व के अभाव से उज्ज्वलता गुण के समान हैं। वही वास्तव में सम्यक्त्व हैं, जो स्व-आत्मा में होता है, यह तात्पर्य है।

यहाँ पर शिष्य का प्रश्न है कि- यदि आत्मा मदन कोद्रव के समान मिथ्यात्व के पुद्गलों का ही शुद्ध, अर्द्ध-विशुद्ध और अशुद्ध के भेदों से तीन पुंज करता है, जैसे कि-

दर्शन-मोह तीन प्रकार से हैं, जैसे कि- सम्यक्त्व, मिश्र तथा मिथ्यात्व और वे क्रमशः शुद्ध, अर्द्ध-विशुद्ध और अविशुद्ध होते हैं।

तो मिथ्यात्व के एक ही अणु, साधक और बाधक गुण में कैसे अन्तर्भाव को प्राप्त करतें हैं ? यदि दोनों में भिन्नत्व हो तो वह योग्य हैं। परन्तु उन पुद्गलों में मदनत्व चला गया है, उससे सम्यक्त्व मोहनीय शुद्ध होता है, फिर उनके मदनत्व का क्या हुआ ?

यहाँ पर उत्तर देते हैं कि- चतुर्विध महारस के स्थान में स्थित जो पुद्गल हैं, उनका मिथ्यात्व बाधक और विभाव हैं, उनके मध्य में कोद्रवों के मदन त्याग के समान महारस के अभाव से अनिवृत्तिकरण से एक स्थानक रस के अवशेष प्रायः रहते, क्रम से परम परिणाम का अनाच्छादक वह सम्यक्त्व मोहनीय हैं। थोड़ी

शंका आदि उत्पन्न होने के कारण से मोहनीय हैं। उसके क्षय हो जाने पर चरम दर्शनी को कदापि शंका आदि अतिचार नहीं होता, इस प्रकार से यह स्थित हुआ।

अब सम्यग्दृष्टियों के ज्ञान के बारे में कहा जाता है, जैसे कि-

एक-एक वस्तु सत् आदि अनंत धर्म से युक्त है। श्रद्धावान् ज्ञान-चक्षु से उस सर्व को भी सत्य मानता है। जिससे कि वस्तु के धर्मों को एकान्त से ही कहते हैं, उससे मिथ्यात्वियों की स्वभाविक अज्ञानता जाननी चाहिए।

प्रत्येक पदार्थ एक-एक वस्तु सत् आदि अनंत धर्मात्मक हैं, जैसे कि-एक घट वस्तु स्व-गुण रक्तत्व आदि से सत् हैं और पर पट आदि पर गुण से असत् है। आदि शब्द से पुद्गलों के साथ एकत्व है और व्यवहार से यह घट है किन्तु निश्चय से पट, लकड़ी, बैल-गाड़ी, स्वर्ण आदि धर्मों से युक्त यह चूर्ण आदि हुआ कदाचित् उनके अभाव से मिलता हैं। जीव भी व्यवहार से गोत्व, गजत्व, स्त्रीत्व, पुरुषत्व से युक्त होता हैं, किन्तु निश्चय से अछेद्य, अभेद्य आदि गुणों से युक्त होने से यह जीव पूर्वोक्त प्रकार से युक्त नहीं है। सम्यक्त्व से सम्यक्त्वियों को सर्वत्र ज्ञान होता है तथा इतरों को अर्थात् मिथ्या-दृष्टियों को उस प्रकार से नहीं हैं, जो कि महाभाष्य में कहा गया हैं कि-

सत् और असत् के विशेष रहित होने से, भव के हेतुओं को यथार्थता से प्राप्त नहीं करने से और ज्ञान के फल के अभाव से मिथ्यादृष्टि को अज्ञान होता हैं।

अब सम्यक्त्व में ही बुद्धि के गुण होते हैं, वह इस प्रकार से कहते हैं-

शुश्रूषा, श्रवण आदि बुद्धि के आठ गुण होते हैं, सम्यक्त्व-

वान् उनसे युक्त होता है, इस प्रकार से परमात्मा ने कहा है ।

केवल सुनने की इच्छा वह शुश्रूषा है और उसके बिना श्रवण आदि गुण नहीं होते हैं । आकर्षण अर्थात् श्रवण-सुनना, यह बड़े गुण के लिए होता है, क्योंकि योगबिन्दु में-

जैसे कि क्षार पानी के त्याग से और मधुर पानी के योग से बीज अंकुर को उत्पन्न करता है, वैसे ही तत्त्व के श्रवण से मनुष्य उन्नति को प्राप्त करता है । यहाँ पर खरें पानी के समान समस्त ही भव-योग माना गया है और मधुर पानी के योग के समान तत्त्व-श्रुति (श्रवण) मानी गयी है ।

तीसरा गुण ग्रहण अर्थात् शास्त्र का उपादान, धारण अर्थात् अविस्मरण, ऊह-सामान्य ज्ञान, अपोह-विशेष ज्ञान, अर्थ विज्ञान, ऊहापोह के योग से मोह, संदेह और विपर्यास को दूर करने से ज्ञान, इस प्रकार से यह तत्त्वज्ञान ऐसा ही है, यह निश्चय है । सर्व पदार्थों के परमार्थ के पर्यालोचन में परत्व होने के कारण से बुद्धि के इन आठ गुणों से युक्त दर्शन होता है ।

इस विषय में सुबुद्धिमंत्री का वृत्तांत है-

चंपा में जितशत्रु राजा था और सम्यग् प्रकार से जिनमत को जाननेवाला उसका सुबुद्धि नामक मंत्री था ।

एक बार मधुर और दिव्य रसोई कराकर और बहुत सामन्तों के साथ में भोजन के रस में आसक्त हुआ राजा- अहो ! रस, अहो ! गंध इत्यादि वाक्यों से प्रशंसा करने लगा । सुबुद्धि के बिना अन्य सभी ने भी वैसे ही प्रशंसा की । तब राजा ने मंत्री से पूछा कि- तुम किस लिए प्रशंसा नहीं कर रहे हो ? उसने कहा कि- हे राजन् ! शुभाशुभ वस्तुओं में मुझे विस्मय नहीं है, क्योंकि पुद्गल सुगंधि - दुर्गंधि, सुरसवाले भी विरसवाले होते हैं अथवा विपरीतपने से भी होते हैं,

उससे निन्दा और प्रशंसा योग्य नहीं है । राजा ने उसकी श्रद्धा नहीं की ।

एक दिन राजपाटिका में जाते हुए मार्ग में बहुत जीवों से आकुलित, दुर्गंधि और सूर्य के ताप से उबाले हुए खाई के पानी को देखकर तथा वस्त्र से नाक को ढँककर- अहो ! दुर्गंधि और निन्दनीय जल है, इस प्रकार से राजा ने कहा ! मंत्री ने कहा कि- हे राजन् ! आप जल की निन्दा मत करो । कल के प्रयोग से असुंदर भी सुंदरपने से परिणमन होता है । राजा ने अंगीकार नहीं किया । मंत्री ने रहस्य[गुप्त रूप से] में स्व-आप्त मनुष्यों से वस्त्र से गाले हुए खाई के पानी को कोरक घड़े में डलाया और उसे कतक-चूर्ण आदि से निर्मल किया । फिर से भी गाले हुए पानी को नूतन घड़ों में डाला ! इस प्रकार से इक्कीस दिनों के बाद वह पानी स्वच्छ, मधुर, शीतल और लोकोत्तर प्रायः हुआ ! सुगंध से वासित कर वह जल राजा के जल रक्षकों को दिया । समय पर वे राजा के समीप में जल ले गये । उस जल के लोकोत्तर गुणों को प्राप्त कर राजा ने उनसे पूछा कि- इस जल को कहाँ से प्राप्त किया है ? उन्होंने कहा कि- मंत्री ने अर्पण किया है । राजा ने मंत्री से पूछा, तब मंत्री ने कहा कि- हे राजन् ! आप यदि अभय दोगें तो मैं जल की उत्पत्ति के बारे में कहूँगा । राजा के द्वारा अभय देने पर मंत्री ने यथा वृत्तांत कहा । राजा ने श्रद्धा नहीं की । मंत्री ने पूर्वोक्त विधि से राजा के समक्ष किया । यह देखकर विस्मित हुए राजा ने कहा कि- तुमने यह कैसे जाना है ? उसने कहा कि- हे राजन् ! जिनागम, श्रुत आदि की श्रद्धा से और यह ही पुद्गलों का परिणाम है । हे राजन् ! पुद्गलों की अचिन्तनीय शक्ति परिणमन, स्वभाव, तिरोभावपने से अनेक प्रकार से हैं । वह ज्ञानियों के ज्ञान में प्रकट होता है, परंतु ज्ञानावरण आदि कर्मों से आवृत्त छद्मस्थों को सम्यग् उपलब्धि नहीं

होती, तो भी श्रुत के वचनों से अवश्य ही श्रद्धा करनी चाहिए, क्योंकि इहलोक में दो प्रकार से अनुपलब्धि हैं और वहाँ एक असत् वस्तु की है, जैसे कि खरगोश के सींग आदि के समान हैं। द्वितीय सत् भी वस्तुओं की अनुपलब्धि होती है और वह यहाँ पर अष्ट प्रकार से हैं, जैसे कि-

अति दूर होने से, यह प्रथम अनुपलब्धि है और देश, काल, स्वभाव के विप्रकर्ष से वह अनुपलब्धि तीन प्रकार से हैं। वहाँ कोई पुरुष ग्रामांतर में गया दिखायी नहीं दे रहा है, तो क्या वह नहीं हैं? हैं ही, परन्तु देश के विप्रकर्ष से उपलब्धि नहीं है। इस प्रकार से ही समुद्र से पार मेरु आदि विद्यमान होते हुए भी दिखायी नहीं देते हैं। तथा काल के विप्रकर्ष से अतीत निज पूर्वज आदि और होनेवाले पद्मनाभ आदि जिन प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं। तथा स्वभाव के विप्रकर्ष से आकाश के जीव पिशाच आदि दिखायी नहीं देते हैं और वे नहीं हैं ऐसा नहीं है।

तथा अति सामीप्य से, यह दूसरी अनुपलब्धि है, जैसे कि अति समीपता के कारण से नेत्र का काजल दिखायी नहीं देता, तो क्या वह नहीं हैं? है ही! तथा इन्द्रिय के घात से, यह तीसरी अनुपलब्धि है, जैसे कि- अन्ध, बधिर आदि रूप, शब्द आदि प्राप्त नहीं करते हैं, तो क्या वे नहीं हैं? है ही! तथा मन के अनवस्थान से यह चौथी अनुपलब्धि है, जैसे कि- अनवस्थित चित्तवाला गये हुए गज को भी नहीं देखता है, तो क्या वह नहीं हैं? हैं ही! तथा सौक्ष्म्य से, यह पाँचवी अनुपलब्धि है, जैसे कि- सूक्ष्मता के कारण से जल के अंदर रहे हुए त्रस-रेणु अथवा परमाणु, द्वयणुकादि अथवा सूक्ष्म निगोद आदि दिखायी नहीं देते हैं, तो क्या वे नहीं हैं? है ही! तथा आवरण से, यह छठी अनुपलब्धि है, जैसे कि- दीवार के अंतर में

व्यवस्थित की हुई वस्तु दिखायी नहीं देती है, तो क्या वह नहीं हैं ? किंतु वह है ही ! चंद्र मंडल का पर भाग दिखायी नहीं देता हैं, आगे के भाग से अवरुद्ध हो जाने के कारण से । जान कर भी आवरण के कारण से अनुपलब्धि होती है, जैसे कि- सज्जनों को भी मतिमंदता से शास्त्र के सूक्ष्म अर्थ विशेषों की अनुपलब्धि होती हैं । तथा अभिभव से, जैसे कि- सूर्य आदि के तेज से अभिभूत हुए ग्रह और नक्षत्र दिखायी नहीं देते हैं, तो क्या उनका अभाव हुआ है ? इस प्रकार से ही अंधकार में भी घट आदि दिखायी नहीं देते हैं । तथा समानाभिहार से, यह आठवीं अनुपलब्धि हैं, जैसे कि- मूँग की राशि में मुट्ठी-भर मूँग अथवा तिल की राशि में मुट्ठी-भर तिल डाले गएँ और उपलक्षित कीये गये भी दिखायी नहीं देते है और जैसे कि जल में डाले गये लवण आदि दिखायी नहीं देते हैं, तो क्या उनका अभाव हुआ है ?

इस प्रकार से आठ प्रकार से भी जैसे सत् स्वभाववाले भावों की भी अनुपलब्धि कही गयी है, वैसे ही पूद्गल, जीव आदि में विद्यमानता भी क्रम से होती हुई भी स्वभाव, विप्रकर्ष आदि से अनुपलब्धि ही है, इसे सर्वत्र मानना चाहिए ।

यहाँ पर अन्य कहता है कि- यहाँ पर जो देशान्तर में गये हुए देवदत्त आदि दिखाये गये हैं, यहाँ वें हमें अप्रत्यक्ष होते हुए भी देशान्तर में गये हुए किन्हीं लोगों को प्रत्यक्ष ही हैं, उससे उनकी विद्यमानता प्रतीत होती है, किन्तु किन्हीं ने भी कभी-भी जीव आदि को नहीं देखे हैं, तो उनकी सत्ता कैसे निश्चित की जाय ? यहाँ पर उत्तर देते हैं कि- किन्हीं को प्रत्यक्ष होने से जैसे देवदत्त आदि विद्यमान निश्चय कीये जाते हैं, वैसे ही जीव आदि भी केवलियों को प्रत्यक्ष होने से क्या विद्यमान नहीं हैं, इस प्रकार से विश्वास करें । जैसे कि नित्य

ही अप्रत्यक्ष परमाणु भी स्व-कार्य से अनुमान कीये जाते हैं, वैसे ही सर्वत्र जानें ।

इत्यादि सिद्धांत-वाक्य की युक्ति से और सुबुद्धि प्रधान की उक्ति से प्रतिबोधित हुए राजा ने देशविरतित्व को ग्रहण किया । क्रम से दोनों भी प्रवज्या को प्राप्त कर मुक्ति में गये । जो कि कहा गया है कि- पानी के दृष्टांत से सुबुद्धि के वचन से जितशत्रु राजा प्रतिबोधित हुआ था । अग्यारह अंगों को धारण करनेवाले वे दोनों भी श्रमण-सिंह (श्रमणों में सिंह तुल्य) सिद्ध हुए ।

दर्शन सकल बुद्धियों का निधान हैं, स-प्रबंध यहाँ पर उसका अत्यंत वर्णन किया गया है और वह समस्त मोक्ष के शुभ हेतुओं में मुख्य हैं । पाठक उसका अत्यंत उपयोग करें ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में चतुर्थ स्तंभ में इकसठवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।

यह चतुर्थ स्तंभ समाप्त हुआ ।



पंचम स्तंभ

बासठवाँ व्याख्यान

प्रथम खंड में दर्शन का वर्णन किया गया है । जिसे वह सम्यग् श्रद्धा होती है प्रायः कर उसे व्रत भी होते हैं, इस संबंध में उपस्थित यह द्वितीय व्रत खंड लिखा जाता है, जैसे कि-

अणुव्रत पाँच हैं, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत, इस प्रकार भेद से ये बारह माने गये हैं । वहाँ पाँच अणुव्रतों में यह आद्य

अणुव्रत हैं-

स्थूल जीव आदि की हिंसा का वारण यह प्रथम व्रत हैं, गृहस्थ उसे द्विविध-त्रिविध आदि भांगाओं से हर्ष पूर्वक ग्रहण करें।

स्थूल जीव-द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव हैं। आदि शब्द से निरर्थक ही स्थावरों में भी। उनकी हिंसा-घात, उसका वारण-निवारण। दो प्रकार से, तीन प्रकार के भांगाओं से गृहस्थ उस व्रत को हर्ष से ग्रहण करें, यह तात्पर्य हैं।

यहाँ पर यह भावना हैं- द्विविध-कृत-कारित रूप हैं। त्रिविध-मन, वचन, काया रूप योग हैं। आदि शब्द से एक-एक विध आदि हैं। वहाँ पर इस प्रकार के भागें हैं- यहाँ पर जो हिंसा आदि से विरति को स्वीकार करता हैं, वह अपनी आत्मा के द्वारा स्थूल हिंसा को नहीं करता हैं और अन्य के द्वारा नहीं कराता हैं। मन से, वचन से, काया से। इसकी अनुमति अप्रतिषिद्ध हैं क्योंकि पुत्रादि परिग्रह के सद्भाव होने से। भगवती आगम में गृहस्थों को त्रिविध त्रिविध से प्रत्याख्यान कहा गया हैं श्रुत में कहे जाने के कारण से वह निर्दोष ही है, तो वह किस कारण से कहा गया है? उत्तर कहते हैं कि- उसके विशेष विषयपने से, जैसे कि- जो प्रव्रज्या को ही ग्रहण करने की इच्छावाला है अथवा विशेष से जो अन्त्य समुद्र में रहे हुए मत्स्य आदि के मांस को अथवा स्थूल हिंसा की किसी अवस्था विशेष में प्रत्याख्यान करता है, वह ही त्रिविध त्रिविध से कर सकता है, यह अति अल्प विषयवाला भांगा है। बहुलता से तो द्विविध त्रिविध से हैं। आदि ग्रहण से द्विविध द्विविध से यह द्वितीय भांगा हैं। द्विविध एक विध से यह तीसरा हैं। एक विध त्रिविध से, यह चतुर्थ हैं। एक विध द्विविध से, यह पंचम भांगा हैं। एक विध एक विध से यह छठा भांगा हैं। आद्य व्रत में ये छह भागें कहे गये हैं। अन्य व्रतों में भी छह जानें।

जो आद्य व्रत में भांगों कीये गये हैं उनको सप्त गुणा कर मध्य में वें छह स्थापित कीये जाय, बाद में आगे के व्रतों के होते हैं । इस प्रकार से बारह व्रत तक जानें सभी को मिलाने पर यह भांगों की संख्या है-

तेरह सो और चौरासी करोड़, बारह लाख, सत्तासी हजार और दो सो- यह षट् भांगाओं का सर्वाग्र हैं ।

यहाँ पर बहुत कहने योग्य है, वह श्रावक व्रत भंग प्रकरण, धर्मरत्न ग्रन्थ आदि से जानें ।

यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि- जो मुनि गृहस्थ को राजादि अभियोग के बिना स्थूल प्राणि-घात की निवृत्ति को कराते हैं, उनको स्थावर हिंसा की अनुमति का दोष होता है, तब मुनियों को सर्वविर-
तित्व की हानि का प्रसंग आता है । इस प्रकार से प्रत्याख्यान करते हुए श्रावक स्व प्रतिज्ञा में अतिचार लगाते हैं । किस कारण से ? स्थावर त्रसपने से उत्पन्न होते हैं और त्रस स्थावरपने से, इस प्रकार से होने से प्रतिज्ञा का भंग होता है । जैसे कि-नगर निवासी को नहीं मारूँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा जिसने जिस काल में की है और तद् अनंतर यदि वह अरण्य में स्थित नागरिक को मारें, तो क्या उसे प्रतिज्ञा का लोप नहीं होता ? इस प्रकार से यहाँ पर भी वर्तमान में जिसने त्रस-वध की निवृत्ति की है, स्थावर-काय को प्राप्त यदि वह उसी त्रस को मारता है, तो उसे प्रतिज्ञा का लोप कैसे न हो ? इस प्रकार से प्रत्याख्यान करनेवालों को और करानेवालों को प्रतिज्ञा का लोप होता है ।

इसका यह प्रति-विधान है, गुरु जवाब देते हैं कि- यह तुम्हारा कौन-सा व्यामोह है ? यह पक्ष अत्यंत अज्ञान युक्त है, जैसे कि- श्रावकों ने साधु के आगे यह कहा कि- हम श्रमणत्व को ग्रहण करने के लिए समर्थ नहीं हैं । हम निरपराध त्रस-काय वध के

प्रत्याख्यान का पालन करेंगे। वें इस प्रकार की व्यवस्था को स्थापित करते हैं। राजा आदि अभियोग से त्रस को मारते हुए को भी व्रत-भंग नहीं होता, यह कैसे हो? जो प्रश्न हैं तो भावार्थ कथानक से जाना जाय और वह यह हैं-

रत्नपुर में रत्नशेखर राजा ने स्व अन्तःपुर आदि स्त्रियों को तथा नागरिकों को स्वेच्छा से क्रीड़ा रूप कौमुदी महोत्सव की अनुज्ञा दी। उसने उद्धोषणा करायी कि- नगर के मध्य में कोई भी पुरुष न रहें। सायंकाल में राजा आदि सभी पुरुष उद्यान में गये। इस ओर क्रय-विक्रय आदि में व्यग्र हुए एक व्यापारी के छह पुत्र नगर के मध्य में ही रहें थे। नगर के द्वार स्थगित हो गये। महोत्सव के निष्क्रान्त हो जाने पर राजा ने आरक्षकों से कहा कि - देखो, नगर में कोई पुरुष है अथवा नहीं विलोकन करते हुए आरक्षकों ने उस छह पुत्रों को देखा और रस्सी आदि से बाँधकर राजा के आगे रखा। क्रोधित हुए राजा ने छह को भी वध का आदेश दिया, क्योंकि-

राजाओं का आज्ञा का भंग, गुरुओं का मान मर्दन और लोगों का मर्म-वाक्य, ये अशस्त्र वध कहें गये हैं।

शोक से आकुलित उनके पिता ने राजा से विज्ञप्ति की कि-हे देव ! आप हमारा कुल-क्षय मत करो, सर्व धन ग्रहण करो और पुत्रों को छोड़ो। इस प्रकार से कहने पर भी राजा ने किसी भी प्रकार से नहीं छोड़ा। सभी के घात में प्रवृत्त राजा को जानकर पिता ने उन सभी पुत्रों के मध्य में से पाँचों के मोचन की याचना की। राजा ने पाँचों को भी नहीं छोड़ा। पश्चात् चारों की याचना की, तो भी राजा नहीं मान रहा था, पश्चात् तीनों की याचना की। राजा ने उनको भी नहीं छोड़ा। उसने दो पुत्र माँगे। राजा ने उन दोनों को भी नहीं छोड़ा। पिता ने एक पुत्र की याचना की। समस्त पौर-जन की विज्ञप्ति से राजा ने एक

ज्येष्ठ पुत्र को छोड़ा । यहाँ पर यह दृष्टांत की योजना है-

सम्यक्त्ववान् श्रावक सर्व प्राणातिपात विरति को करने में अशक्त राजा के स्थान में हैं । षट्काय के पिता तुल्य साधु के द्वारा प्रेरित करने पर भी सर्व-विरति का अंगीकार नहीं करता । साधु छह भी कार्यों को छोड़ता है । छह के मोचन में अशक्त श्रावक एक ज्येष्ठ त्रस-काय को छोड़ता है- पालन करता है, यह तात्पर्य है । साधु एक के मोचन से भी अपने को कृतार्थ मानता है । जिस प्रकार से उस व्यापारी की शेष पाँच पुत्रों की वध-अनुज्ञा नहीं थी, ऐसे ही साधु को भी शेष के वध की अनुमति नहीं है । किंतु जिस ही व्रत को ग्रहण कर संकल्प वध से निवृत्त हुआ श्रावक जिन ही स्थूल सत्त्वों की रक्षा करता है, उसके निमित्त से कुशल अनुबंध ही होता है, इसका यह अर्थ है ।

तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रस कहें जातें हैं । जब त्रस-आयु क्षीण होती है, तब त्रसकाय की स्थिति क्षीण होती है और वह जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से दो हजार सागरोपम से अधिक मानवाली हैं । तब वें त्रस-आयु को छोड़ देते हैं और अन्य भी त्रस के सहचर कर्मों को छोड़कर स्थावरपने से उत्पन्न होते हैं । जब स्थावर का आयुष्य भी क्षीण हो जाता है तथा स्थावर-काय की स्थिति भी क्षीण होती है, जो जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से अनंत-काल, असंख्येय पुद्गल-परावर्त्त है, तब काय-स्थिति के अभाव से और सामर्थ्य से त्रसपने से उत्पन्न होते हैं । वें त्रस, प्रत्येक आदि कर्मों से युक्त होते हैं । भव-स्थिति की अपेक्षा से उत्कृष्ट से उनका तैंतीस सागरोपम का आयुष्य है, इसलिए त्रस, स्थावरों से अन्य ही है । श्रावकों ने उनकी निवृत्ति ही की है, न कि स्थावरों की । नागरिक का दृष्टांत भी अयोग्य है । जो नागर के धर्मों से युक्त बाहर स्थित हुआ

भी वह नागरिक ही है । सर्वथा नगर धर्म के त्याग में तत्त्व ही नहीं मिलता है और वह अन्य ही हैं । तथा त्रसत्त्व के त्याग से जब स्थावरत्व को प्राप्त हुआ, तब यह अन्य ही है और कारण से उसे मारते हुए को व्रत-भंग नहीं होता । इसलिए तुम्हारा पक्ष अयोग्य हैं, इस प्रकार से यह प्रसंग से कहा गया है, विशेष से सुअगडांग दीपिका से जानें ।

अब कुमारपाल ने इस व्रत को मुख्य भांगे से स्वीकार किया था, यह उसका अधिकार है-

श्रीहेमचन्द्राचार्य ने पाटण में सभा में कहा कि-

जगत्-तल पर कहीं पर भी जीव-दया तुल्य धर्म नहीं हैं, उस कारण से सर्व प्रयत्न से मनुष्य जीव-दया करें ।

ग्वाला बबूल की शूलि के अग्र में पीरोयें हुए जूँ के अत्यंत पाप से एक सो और आठ बार शूलिका के ऊपर चढ़ने के द्वारा मरण को प्राप्त हुआ था ।

तथा लौकिकों के द्वारा कल्पित की गयी जीव-दया इस प्रकार से हैं-

जहाँ पर गाय प्यास रहित होती है, वहाँ वह सात कुलों को तारती है, सर्वथा सर्व प्रयत्न से तुम भूमि पर स्थित पानी करो ।

यहाँ पर गाय के विषय में जो दया है, वह उनके मत से दया हैं और इसमें पृथिवी, पानी, पूतर आदि की हिंसा भी हैं, इस प्रकार की रूपवाली सम्यग् अहिंसा नहीं हैं । यह सुनकर स्वयं व्रतों का स्वीकार कर कुमारपाल ने अठारह देशों में अमारि पटह दिलाया । काशी, गीजणि आदि चौदह देशों में मैत्र्य आदि से और बल से अमारि का पालन कराया । अठारह लाख अश्वों को, ग्यारह हजार हाथियों को, अस्सी हजार गो-धन को और पचास हजार ऊँटों को

गाले हुए जल का पान कराया ।

एक बार राजा के कायोत्सर्ग में स्थित होने पर मकोड़ा पैर पर लगा । पास में स्थित मनुष्यों से दूर कीये जाने पर भी वह दूर नहीं हुआ । राजा ने उसकी असमाधि को जानकर चिमटे से स्व त्वचा के साथ उसे दूर किया । तथा वर्षा के चारों मासों में स्व नगर के द्वारों से आगे नहीं जाऊँगा, इस प्रकार से नियम ग्रहण किया । जैसे कि-

वेदों में पारंगत को अखिल त्रैलोक्य देकर जो पुण्य होता है, वस्त्र से छाने हुए पानी से उससे करोड़ गुणा पुण्य होता है । हे राजन् ! सात गाँवों को जलाने पर जो पाप होता है, नहीं छाने हुए पानी के एक घड़े में वह पाप होता है । यहाँ पर मच्छीमार को संवत्सर से जो पाप होता है, नहीं छाने हुए जल का संग्रह करनेवाला उस पाप को एक दिन में प्राप्त करता है । वस्त्र से छाने हुए पानी से जो सर्व कार्यों को करता है, वह मुनि, वह महा-साधु, वह योगी और वह महाव्रती है । क्षार पानी में उत्पन्न होनेवाले पूतर जीव मीठे पानी से मर जाते हैं और मीठे पानी में उत्पन्न होनेवाले पूतर जीव खारे पानी से, उस कारण से पानी का संमिश्रण न करें ।

इस प्रकार से राजा ने पुराण में कहे हुए श्लोक-पत्री हाथ में लीये अपने आस जनों को सर्वत्र स्थान-स्थान पर, देश-देश में, नगर-नगर में और गाँव-गाँव में जीव-दया के निमित्त से भेजा । राजा ने- क्या कोई कहीं पर जन्तुओं की हिंसा कर रहा है अथवा नहीं ? यह जानने के लिए चारों ओर गुप्तचर भेजे । शीघ्रता से सर्वत्र भ्रमण करते हुए उन्होंने किसी गाँव में चोटले से पत्नी के द्वारा निकाली हुई और हाथ में रखी हुई एक जूँ को मारते हुए महेश्वर व्यापारी को देखा । वे चर पुरुष जूँ सहित उस श्रेष्ठी को पाटण में राजा के आगे ले गये । राजा ने कहा कि- रे दुष्ट चेष्टावाले ! तुमने इस दुष्कर्म को क्यों किया

है ? श्रेष्ठी ने कहा कि- मेरे मस्तक में मार्ग कर यह अन्याय से रक्त को पी रही हैं, इसलिए इसे मार डाला । राजा ने कहा कि- रे दुष्ट ! जीवों का स्थान भ्रष्ट करने से तुम ही अन्यायी हो । यदि तुम जन्तु की हत्या से नहीं डरते हो तो मेरी आज्ञा के लोप से भी नहीं, इस प्रकार से राजा ने उसका अपमान किया । वह श्रेष्ठी स्व जीव-भिक्षा की याचना करने लगा । राजा ने कहा कि- तुम गृह के सर्वस्व का व्यय कर जूँ पाप के प्रायश्चित्त में यूका-विहार कराओ (युका-जूँ), जिससे कि उसे देखकर कोई-भी जीव-वध का आचरण न करें । श्रेष्ठी ने वैसे ही स्वीकार किया ।

राजा का अमारि करण इसके आगे क्या वर्णन किया जाये, जो द्युत में भी कोई मारि, इस प्रकार से दो अक्षरों को नहीं कहता था ।

राजा ने सप्त व्यसनों को हिंसा के कारण जानकर पटह उद्घोषणा पूर्वक सातों भी व्यसनों को मिट्टीमय, मसी से लिस मुखवालों और मनुष्य रूप में कर तथा नामांकित कर गधे के ऊपर रखकर ढोल आदि के बजाने पूर्वक ही चौरासी चौराहों में भ्रमण और लकड़ी, मुट्ठी आदि से मारने पूर्वक ही पाटण से और निज अन्य देशों से निकाल दीये, इत्यादि बहुत से वर्णन जिनमंडन कृत इसके चरित्र से जाने ।

यहाँ पर प्रमा से अधिक व्यास होनेवाली श्रीकुमारपाल राजा की महिमा कैसे कहीं जाय ? कृपाव्रत को आश्रय कीये हुए जिसने यहाँ पर स्वयं ही निखिल जगत् को तन्मय किया था ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में पञ्चम स्तंभ में बासठवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



तिरसठवाँ व्याख्यान

अब गृहस्थों को मुनियों से बीस के सोलहवें-भाग से सवा भाग में (सवा-बीसा) जीव-दया होती है, उसे कहते हैं-

पूज्यों ने गृहस्थों के आद्य व्रत में बीस के उप-भाग से सवा प्रमाण की दया का निदर्शन किया है और उससे अधिक का प्रकाशन नहीं किया ।

केवल बीस के उप-भाग से सवा भाग की दया इस प्रकार से होती है, जैसे कि प्राचीन सूरीन्द्रों ने कहा है कि-

जीव-स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार से हैं । उनकी हिंसा-संकल्प और आरंभ दो प्रकार से होती हैं । संकल्प से हिंसा-सापराध और निरपराध दो प्रकार से हैं । निरपराध की हिंसा भी दो प्रकार से हैं - सापेक्ष और निरपेक्ष ।

स्थूल और सूक्ष्म जीवों से प्राणि-वध दो प्रकार से हैं । वहाँ पर स्थूल जीव-त्रस हैं और सूक्ष्म-यहाँ पर एकेन्द्रिय आदि-पृथिवी आदि पाँचों भी हैं , न कि सूक्ष्म नाम-कर्म के उदयवर्ती और सर्व लोक में व्याप्त होकर रहे हुए, उनके वध के अभाव से और स्वयं ही आयु के क्षय से मरण होने के कारण से । उनकी अविरति से बन्ध है, न कि हिंसा-जन्य बंध हैं । यहाँ साधुओं को दोनों प्रकार के भी वध से निवृत्त होने से बीस-बीसा की दया है । पृथ्वी, जल आदि में सतत आरंभवाले गृहस्थों को स्थूल जीवों के वध से निवृत्ति है न कि सूक्ष्म जीवों से । इस प्रकार से बीस भाग रूप धर्म में से अर्ध-भाग दस चला गया ।

स्थूल प्राणि वध भी दो प्रकार से हैं- संकल्प से और आरंभ से । वहाँ संकल्प से - मैं इसे मारता हूँ, इस प्रकार से मन-संकल्प रूप प्रथम भेद होता है, गृही उससे निवृत्त होता है, न कि आरंभ से

निवृत्त होता है, कृषि आदि आरंभ में त्रस का घात होने से, अन्यथा देह, स्वजन निर्वाह आदि के अभाव हो जाने से उससे आरंभ के कारण हिंसा होती हैं, इस प्रकार से पुनः अर्ध चला गया, उससे दस के भाग से पाँच हुए। संकल्प से भी दो प्रकार से हैं- सापराध और निरपराध। वहाँ निरपराध से निवृत्ति हैं। सापराध में तो बड़े और छोटे का चिन्तन, जैसे कि बड़ा अपराध है अथवा छोटा है, इस प्रकार से पुनः अर्ध के चले जाने से पाँच के भाग में ढाई हुए। निरपराध का वध भी दो प्रकार से है- सापेक्ष और निरपेक्ष। वहाँ निरपेक्ष से निवृत्ति हैं न कि सापेक्ष से। निरपराध में भी वहन कीये जाते भैंस, घोड़े आदि में और पाठ आदि में प्रमत्त पुत्रादि में सापेक्षपने से वध, बन्धनादि करने से, उससे पुनः अर्ध के चले जाने से श्रावक की जीव-दया ढाई के भाग से सवा स्थित हुई। इस प्रकार से प्रायः कर श्रावक का प्रथम अणुव्रत है। इस व्रत के पाँच अतिचार छोड़ने योग्य हैं, वे कहें जाते हैं-

क्रोध से बन्ध, छवि-छेदन, अधिक भार का अध्यारोपण, प्रहार और अन्नादि का रोध, अहिंसा के पाँच अतिचार कहें गये हैं।

बन्ध-रस्सी आदि से गाय, मनुष्यादि का नियंत्रण, स्व-पुत्रादियों का भी विनय के ग्रहण के लिए किया जाता है। इसलिए ही क्रोध से- प्रबल कषाय से जो वध है, वह प्रथम अतिचार है। छवि-शरीर की त्वचा, उसका छेद, कान आदि का काटना, क्रोध से अनुवर्तन करता है, वह द्वितीय अतिचार है। क्रोध से अथवा लोभ से गाय, ऊँट, गधा, मनुष्यादि के खंभे पर अथवा पीठ के ऊपर अधिक-वहन करने में अशक्य ऐसे भार का आरोपण, वह तृतीय अतिचार है। क्रोध आदि से प्रहार-वध, लकड़ी आदि से निर्दयता से मारना, यह चतुर्थ अतिचार है। क्रोध आदि से अन्नादि का रोध-

आहार, पान का व्यवच्छेद, यह पञ्चम अतिचार हैं ।

कोई प्रश्न करते हैं कि- यें वध आदि अतिचार क्यों हैं ? मलिनता के अभाव से उनका ग्रहण नहीं होने से और अंगीकार की हुई विरति के अखंडितपने से अतिचारों की उत्पत्ति नहीं हैं ।

यहाँ पर उत्तर देते हैं कि- मुख्यता से प्राणातिपात का ही प्रत्याख्यान किया गया है न कि वध आदि, लेकिन उनमें प्राणातिपात का हेतु होने के कारण से परमार्थ से वें भी प्रत्याख्यान कीये गये ही जानें । यदि इस प्रकार से हैं तो नियम का पालन नहीं करने से उनके करने में व्रत-भंग ही हैं, न कि अतिचार । ऐसा नहीं हैं, व्रत दो प्रकार से हैं- अन्तर्वृत्ति से और बाह्य वृत्ति से । वहाँ पर जब कोप आदि के आवेश से वध आदि में प्रवर्तन करता हैं, तब दया के शून्य से व्रत अन्तर्वृत्ति से भग्न हुआ और स्व-आयु तथा अत्यंत बलत्व आदि से जन्तु के मृत नहीं होने से बहिर् वृत्ति से पालन हुआ, उससे भंग-अभंग रूप अतिचार हैं । जैसे कि कहा भी हैं कि- मैं नहीं मारूँगा इस प्रकार से व्रत करनेवाले को मृत्यु के बिना ही यहाँ पर कौन-सा अतिचार हैं ? इस प्रकार की आशंका से उत्तर को कहते हैं कि- जो क्रोधित हुआ वध आदि को करता है, वह नियम की अपेक्षा रहित हुआ । उसे मृत्यु के अभाव से नियम हैं और कोप तथा- दया-हीनता से भग्न हुआ । देश के भंग से और अनुपालन से पूज्य अतिचार कहतें हैं । जैसे यें अतिचार न हो वैसे प्रवर्तन करना चाहिए, यह अर्थ हैं । इस व्रत-पालन के विषय में कुमारपाल राजा का वर्णन हैं-

उदयन मंत्री ने महोत्सव के साथ श्रीहेमचन्द्रसूरि को पाटण में प्रवेश कराया । कभी सूरि ने कहा कि- हे मंत्री ! तुम राजा से रहस्य में कहना कि-रात्रि में उपसर्ग होने से आज आप नूतन रानी के महल में नहीं सोयें । किसने कहा हैं ? इस प्रकार से पूछे तो अत्याग्रह होने

पर मेरा नाम कहना । राजा ने मंत्री के वचन से वैसा किया । रात्रि में विद्युत्पात से गृह के जल जाने पर और रानी के मरने पर आश्चर्य चकित हुए राजा ने सूरि को घर में बुलाया । सूरि को देखकर और आसन को छोड़कर, नमस्कार कर कहा कि- हे भगवन् ! मैं आपको अपना मुख भी दिखाने के लिए समर्थ नहीं हूँ । तब स्तंभ तीर्थ में रक्षण किया था । यहाँ पर भी जीवन-दान दिया है । इसलिए मेरे राज्य को ग्रहण कर मुझे ऋण-रहित करें । सूरि ने कहा कि- हे राजन् ! निःसंगतावालों को राज्य से क्या प्रयोजन है ?

हे राजन् ! यदि तुम कृतज्ञपने से प्रत्युपकार करने की इच्छा करते हो तो अपने लिए हितकारी जैन-धर्म में निज मन को स्थापित करो ।

जीव को पद-पद पर घर, प्रिया, पुत्र, दास, बान्धव, नगर, आकर, गाँव और राजाओ की संपदाएँ होती हैं, परन्तु पंडितों के द्वारा पूजित निर्मल तत्त्व-रुचि नहीं होती है ।

राजा ने कहा कि- हे स्वामी ! आप प्रति-दिन मेरे प्रतिबोध के लिए सभा में आये, जिससे कि अनेक ब्राह्मण आदि प्रणीत पक्षों के निरसन से मुझे सम्यग् धर्म-बुद्धि हो । उससे सूरि प्रति-दिन ब्राह्मण आदि के साथ में वाद और स्याद्वाद का स्थापन करने लगे ।

एक बार राजा ने सभा में पूछा कि- सर्व धर्मों के मध्य में कौन-सा धर्म श्रेष्ठ है ? सूरि ने कहा कि- भोज-राजा के आगे सरस्वती द्वारा दिया गया श्लोक सर्व दर्शनों के संवाद से कहा गया था, जैसे कि-

बौद्ध धर्म सुनना चाहिए, पुनः अरिहंतो का धर्म करना चाहिए, वैदिक धर्म का व्यवहार करना चाहिए और श्रेष्ठ शिव का ध्यान करना चाहिए ।

पुनः राजा ने कहा कि-

औषधि, पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च तथा पक्षियाँ, यज्ञ के लिए निधन को प्राप्त हुए पुनः उन्नति को प्राप्त करते हैं ।

इत्यादि वेद में कही हुई हिंसा को कोई धर्म के रूप में मानते हैं, वह कैसे है ? सूरि ने कहा कि- हे राजन् ! वह सत्य नहीं क्योंकि स्कन्द-पुराण में अट्टावनवें अध्याय में-

वृक्षों को छेदकर, पशुओं को मारकर, रुधिर का कीचड़ कर, तिल और घी आदि को अग्नि में जलाकर, आश्चर्य है कि स्वर्ग की अभिलाषा की जाती है ।

यज्ञ के लिए पशुओं का सर्जन किया गया है, यदि इस प्रकार से स्मृति कहती है तो स्मृति के जानकार मांस खानेवाले राजाओं को क्यों नहीं रोकते है ?

यदि यज्ञ के लिए पशु और ब्राह्मणों का सर्जन किया गया है तो सिंह आदि से देवों को क्यों तर्पण नहीं देते है ?

धर्म अहिंसा से उत्पन्न होता है, वह हिंसा से कैसे हो सकता है ? पानी में उत्पन्न होनेवाले कमल अग्नि से उत्पन्न नहीं होते हैं ।

पद्मपुराण में भी-

प्राणियों की हिंसा करनेवाले पुरुष, न वेदों से, न ही दानों से, न तर्पों से और न ही यज्ञों से किसी भी प्रकार से सद्-गति को प्राप्त करते हैं ।

सांख्यों के द्वारा-

छत्तीस अंगुल आयाम और बीस अंगुल विस्तारवाले दृढ़ गलने को कर बहुत जीवों को विशोधित करें । तीस अंगुल मानवाले और बीस अंगुल आयामवाले उस वस्त्र को द्विगुणा कर पानी को गालकर पीये । उस वस्त्र में रहे हुए जन्तुओं को जल के मध्य में स्थापित करें, इस प्रकार से पानी को पीये और ऐसा करनेवाला परम

गति में जाता है ।

इस प्रकार से लिंग पुराण में है-

मकड़ी के तंतु से गाले हुए बिन्दु में जो सूक्ष्म जन्तु हैं, वें यदि भ्रमर के समान बनें तो तीनों लोक में समा नहीं सकते । केसर और कुंकुम के पानी के समान सूक्ष्म जन्तुओं से संपूर्ण पानी को दृढ़ वस्त्र से भी शुद्ध नहीं किया जा सकता हैं ।

इस प्रकार से उत्तर मीमांसा में हैं-

सर्व दया मूल धर्म ही प्रमाणता को प्राप्त करता हैं, उससे तुम भ्रान्ति का परिहार कर दया-धर्म में स्थिर हो ।

इत्यादि वचन से जैन-धर्म को सत्यता से मानते हुए पुनः कहने लगा कि- हे भगवन् ! अन्य कहते हैं कि- जैन तो वेद से बाह्य हैं, नमस्करणीय नहीं है, वह कैसे ? सूरि ने कहा कि- हे राजन् ! वेद कर्म-मार्ग में प्रवर्तक हैं और हम नैष्कर्म्य-मार्गी हैं, इसलिए वेद-प्रामाण्य कैसे हो ? उत्तर-मीमांसा में वेद अवेद हैं, लोग अलोग हैं, यज्ञ अयज्ञ है इत्यादि वर्णन है ।

हे पितामह ! वेद में अविद्या और कर्म-मार्ग पड़े जाते हैं, उससे आप मुझे कर्म के मार्ग का क्यों उपदेश दे रहे हो ?

रुचिप्रजापति स्तोत्र में यह पुत्र-वाक्य हैं । यदि वेदों में जीव-दया है तो सर्व शास्त्रों से शुद्ध दया को करते हुए कैसे वेद-बाह्य हैं ?

हे भारत ! सभी वेद, सभी यज्ञ और सभी तीर्थों का अभिषेक वह नहीं कर सकता है, जो प्राणियों की दया करता है ।

इसलिए वेदों में दया नहीं है, तो नास्तिकों के शास्त्र के समान ही प्रमाण नहीं हैं । इत्यादि गुरु के वाक्यों से राजा वेद में कहे हुए को अप्रमाण मानने लगा । पुनः एक दिन सूरि से कहा कि- हे भट्टारक ! अन्य कहते हैं कि जैन प्रत्यक्ष देव सूर्य को नहीं मानते हैं । तब सूरि

ने कहा कि- हे राजन् ! सुनो, स्कन्द-पुराण के अन्तर्गत रुद्र द्वारा प्रणीत कपाल मोचन स्तोत्र में-

हे सूर्य ! तेरे द्वारा यह समस्त ही व्याप्त किया गया है, तुम तीनों जगत् को ध्यान करने योग्य हो । हे देव ! तेरे अस्त हो जाने से पानी रुधिर कहा जाता है । तेरी किरणों से ही संस्पर्शित हुआ पानी पवित्रता को प्राप्त होता है ।

इस प्रकार के प्रामाण्य से रात्रि में भोजन और पानी को छोड़ते हुए हम ही तत्त्व से मान रहें हैं । किसी ने ऐसा भी कहा है-

मेघ समूहों से सूर्य-मंडल के ढंक जाने से भोजन नहीं करते हैं और अहो ! सूर्य के अस्त हो जाने पर भोजन करनेवाले क्या सूर्य के सुसेवक हैं ?।

पुनः राजा ने पूछा कि- अन्य कहते हैं कि- विष्णु के बिना जैनों को मुक्ति नहीं है, वह कैसे ? सूरि ने कहा कि- हे राजन् ! सत्य है, परंतु जैन-ऋषि ही वैष्णव हैं, क्योंकि गीता में अर्जुन के आगे विष्णु का वाक्य है कि-

हे अर्जुन ! पृथिवी में भी मैं हूँ, वायु-अग्नि और जल में भी मैं हूँ । मैं वनस्पति में हूँ और सर्व प्राणियों में भी मैं रहा हुआ हूँ । सर्व में रहे हुए मुझे जानकर जो कभी-भी हिंसा न करें और मेरा लोप न करे, मैं उससे विनष्ट नहीं होता हूँ ।

तथा विष्णु-पुराण में पराशर ने कहा है कि-

हे राजन् ! जो पुरुष पर-स्त्री, पर द्रव्यों में और जीव-हिंसाओं में मति को नहीं करता है, वह विष्णु को संतुष्ट करता है । हे नृप (राजन्) ! जिसका मन रागादि दोष से दुष्ट नहीं हुआ है, उसने सर्वदा विशुद्ध चित्त से विष्णु की स्तुति की है ।

वहीं पर यम किंकर के संवाद में-

जो निज वर्ण और धर्म से चलित नहीं होता है, जो अपने मित्र और विपक्ष पक्ष के ऊपर सम मतिवाला है, जो किसी का कुछ हरण नहीं करता है और न ही किसी को मारता है, अत्यंत स्थिर मनवाले उसे तुम विष्णु का भक्त जानो । विमल मतिवाला, मात्सर्य रहित, प्रशान्त, पवित्र चरित्रवाला, अखिल प्राणियों का मित्र हुआ, प्रिय और हित वचनवाला तथा मान-माया से रहित ऐसे उस पुरुष के हृदय में सदा वासुदेव निवास करता है ।

इस प्रकार से तत्त्व-वृत्ति से जैन ही सर्व जीवों के रक्षक हैं न कि ब्राह्मण, जो उनसे विपरीत है । परमार्थ से नित्य और चिद् रूपवाला तथा ज्ञान-आत्मा से व्याप्त होता है, इस प्रकार से विष्णु है, इस प्रकार की व्युत्पत्ति से जिन ही विष्णु है और उनके भक्तों की मुक्ति ही है, यह निश्चय से है । इत्यादि अनेक प्रकार के उपदेशों से धर्म को जानकर राजा ने अहिंसा आदि व्रत का ग्रहण किया । तथा चारों वर्णों में-जो कोई भी स्व अथवा अन्य के लिए जीवों को मारेगा, वह राजद्रोही है, इस प्रकार से पाटण में पटह बजवाया । मच्छीमार, कसाई आदि को भी निष्पाप-वृत्ति से निर्वाह कराते हुए दयामयत्व किया ।

तत्पश्चात् काशी देश में बहुत मत्स्यों की हिंसा को सुनकर उसके निवारण के लिए हिंसा-अहिंसा के फल और स्वर्ग-नरक आदि चित्रों से चित्रित एक पट किया और उसके मध्य में श्रीगुरु-मूर्ति और उसके पास स्व-मूर्ति, इस प्रकार के चित्र-पट को तथा दो करोड़ स्वर्ण और दो हजार जात्य घोड़े आदि भेंट को स्व-मंत्रियों के हाथों से वाणारसी के स्वामी जयचन्द्र राजा लेकर जो सात सो योजन भूमि का स्वामी, चार हजार हाथी, साईठ लाख घोड़े और तीस लाख पैदल सेना से व्याप्त था तथा गंगा-यमुना तीर के बिना अन्यत्र जाने में समर्थ नहीं होने से पंगुराजा इस प्रकार से बिरुद को वहन करनेवाले उसके पास भेजा ।

कितने ही दिनों के बाद राजा के मुख को देखकर मंत्रियों ने चित्र-पट दिखाया । उन्होंने यथावत् स्वरूप को कहा कि- यह हमारी राज-गुरु की मूर्ति हैं । पुण्य-पाप फल इत्यादि दिखाकर गुरु ने हमारे इस राजा से जीव-दया धर्म ग्रहण कराया हैं । राजा ने भी सर्वत्र अमारि पटह बजवाया । प्रति संवत्सर दो हजार और चार सो भैंसों की बलि को ग्रहण करनेवाली स्व कुलदेवी श्रीगुरु की सहायता से अठारह देशों के आरक्षकपने को ग्रहण करायी गयी हैं । हमारे राजा की वैरिणी वह हिंसा अब कहीं भी स्थान को प्राप्त नहीं करती हुई श्रीकाशी देश में व्याप्त हो रही हैं, उसके निवारण के लिए हाथ में भेंट से युक्त हम यहाँ पर भेजे गए हैं । उससे संतुष्ट हुए काशी के राजा ने कहा कि-

यह योग्य हैं । श्रीगुर्जर राजा विवेक से बृहस्पति हैं, जिससे कि ऐसा कृपामय राजा चारों ओर भी दीप्तिमंत होता हैं । वह स्वयं ही कृपा को करवा रहा है उससे प्रेरित हुआ भी यदि मैं इसे न कराऊँ तो मेरी मति कैसी है ?

इस प्रकार से कहकर और स्व-देश आदि से एक लाख और अस्सी हजार मित जालों को तथा हजारों की संख्या में अन्य हिंसा के उपकरणों को मंगाकर चौलुक्य मंत्रियों के प्रत्यक्ष में ही जलाएँ और स्व देशों में अमारि पटह दिलाया । उससे द्विगुण भेंट देकर प्रधानों को विसर्जित किया और पाटण में आकर उन्होंने राजा से सर्व वृत्तान्त का निवेदन किया । स्वयं ने भी अठारह लाख घोड़ों पर पूंजणी से युक्त पर्याण आदि कराएँ । इत्यादि अवदात उसके चरित्र से जानें ।

इस प्रकार से संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में त्रैसठवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



चौसठवाँ व्याख्यान

अब हिंसा के अभाव से विरति होती है, इसे कहते हैं-

हित के इच्छुकों को द्रव्य-भाव से चार प्रकार की हिंसा का त्याग करना चाहिए, तब उनको प्राणियों को सौख्य देनेवाली देश-विरति होती है ।

द्रव्य-भाव से हिंसा चार प्रकार से हैं । वहाँ ईर्यासमिति से युक्त साधु को सत्त्व के वध में द्रव्य से हैं न कि भाव से । कीट की बुद्धि से अंगारों के मर्दन में अंगारमर्दक को अथवा मन्द प्रकाश में सर्प की बुद्धि से रस्सी को मारते हुए को भाव से होती है न कि द्रव्य से । मन, वचन और काया से शुद्ध साधु को न ही द्रव्य से और न ही भाव से तथा मैं इसे मारता हूँ इस प्रकार से हिरण के वध में परिणत हुए शिकारी को द्रव्य से और भाव से हिंसा होती है ।

हिंसन-हिंसा करना वह हिंसा है । वाचक - वर ने जैसे कि तत्त्वार्थ भाष्य में कहा है कि- प्रमाद से प्राणों का विच्छेद करना वह हिंसा है । अथवा जैसे कहा गया है कि-

पाँच इन्द्रिय, तीन प्रकार के बल[मनबल, वचनबल, काय बल], उच्छ्वास-निःश्वास और आयु, भगवन्तों ने इन दस को प्राण कहें है, उनका वियोगी करण हिंसा है ।

उसके त्याग से द्वितीय कषाय के बिना हितेच्छुओं को पञ्चम गुणस्थानक संबंधी देश-विरति होती है ।

जो कि गृहस्थों को त्रस-जीव की हिंसा निषेध की गयी हैं, तो वे यथा-इच्छा से स्थावरों में उसे करते हैं ? तो उत्तर देते हैं कि-

करुणाधारी और मोक्ष की कांक्षावाले उपासक निरर्थक ही स्थावर जीवों की भी हिंसा न करें ।

त्रस की हिंसा से निवृत्ति ही धर्म नहीं हैं, किंतु शरीर, कुटुंब

आदि प्रयोजन के बिना स्थावरों की हिंसा भी करते हुए व्रत को मलिन करते हैं, इसलिए अप्रतिषिद्धों में भी यतना करते हैं। श्रावक को त्रस आदि से रहित, संखारक को देखने आदि की विधि से तथा परिमित और अच्छी प्रकार से शोधित कीये हुए ईंधनों का ही प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा दया से विपरीतता की आपत्ति से व्रत मलिन होता है, उसे कहते हैं कि-

परिशुद्ध जल और लकड़ी, धान्य आदि का ग्रहण करना चाहिए तथा ग्रहण कीये हुए उनके रक्षण के लिए विधि से परिभोग करना चाहिए।

आगम में पृथ्वी आदि का जीवमयत्व इस प्रकार से कहा गया है-

हरे आँवले के प्रमाण में जो पृथ्वीकाय के जीव होते हैं, वे यदि सरसव मात्र हो जाय तो जंबूद्वीप में समा नहीं सकते हैं। जिनवरों ने एक पानी के बिंदु में जो जीव कहें हैं, वे यदि सरसव मात्र हो जाय तो जंबूद्वीप में समा नहीं सकते हैं।

दो प्रकारों से भी पृथ्वी आदि पाँच सूक्ष्म जीवों की अवगाहना अंगुल के असंख्येय भाग से जानें। अनंत जीवों से आश्रित एक शरीर-वह निगोद का एक सूक्ष्म शरीर होता है। उससे असंख्येय शरीरों को एकत्रित करने पर एक सूक्ष्म वायु का शरीर होता है। उससे असंख्येय गुण एक सूक्ष्म तेजस् शरीर हैं। उससे असंख्यात सूक्ष्म तेजस् देहों के मिलने पर एक सूक्ष्म जल शरीर होता है। उससे असंख्यात गुण एक सूक्ष्म पृथ्वी शरीर होता है। उससे असंख्येय गुण अधिक एक बादर वायु शरीर को जानें। उससे असंख्यात गुण बादर अग्नि देह का परिमाण हैं। उससे असंख्यात गुण एक बादर जल शरीर है। उससे असंख्यात गुण एक बादर पृथ्वीकाय शरीर है।

उससे असंख्यात गुण एक बादर निगोद शरीर होता हैं। यहाँ पर यह बादर पृथ्वीकाय शरीर की सूक्ष्मता हैं, जैसे कि-

कोई युवान् प्रयत्न से आहिरण के ऊपर स्थापित वज्र-रत्न के ऊपर हथौड़े से मारता हैं, परंतु वह भग्न नहीं होता और विपरीत ही लोहकार के आहिरण में प्रवेश करता है तथा उस वज्र-रत्न को चक्रवर्ती की स्त्री स्व-हस्त से चूर्ण कर स्वस्तिक को पूरती है। वह स्त्री निसातरक में इक्कीस बार तक उसका मर्दन करती हैं, तब किन्हीं जीवों को पीड़ा होती है और किन्हीं को मूल से भी नहीं होती है, किन्हीं का मरण और कोई जीव अल्प-मात्र भी दुःख को प्राप्त नहीं करते हैं। जैसे कि- किसी महा-नगर में किसी के गृह में चोर ने द्रव्य को लूँटा, कोई उस वार्ता को जानता हैं और कोई मूल से भी नहीं जानता हैं, उसके समान ही लवण आदि सचित पृथ्वीकायों में जानें। समयानुसार से स्थावरों में जीवत्व कहा जाता हैं-

पत्रित होते हैं, पुष्पित होते हैं, फल को देते हैं, काल और इंद्रिय के अर्थों को जानते हैं, उनका जन्म, वृद्धि और जरा होती है तो वे क्यों जीव नहीं हैं ?

जो पत्रित होते हैं- पत्रों को छोड़ते हैं, पुष्पों से युक्त होते हैं, फल देते हैं। काल को- स्व पत्र, पुष्प, फल के निमित्त काल को जानते हैं। तथा इंद्रियार्थों को- गीत आदि को जो जानते हैं तथा बकुल आदि वृक्षों को दर्शन से इत्यादि। तथा उनका जन्म, वृद्धि और जरा होती है, तो वे किस लिए जीव नहीं हैं ? जीव ही है, यह तात्पर्य है। यह प्रयोग हैं- मनुष्य के समान ही जन्म, जरा और वृद्धि से युक्त होने से वनस्पतियाँ जीव हैं। मेंढक के समान ही भूमि से स्वभाविक रीति से उत्पन्न होने से जल जीव सहित हैं। बालक समान ही आहार के द्वारा वृद्धि दिखायी देने से अग्नि जीव सहित हैं। गाय के समान

ही दूसरों से प्रेरित होने पर तीर्छि आदि नियत दिशाओं में गमन से पवन जीव सहित हैं। गधे के समान सर्व त्वचा के अपहरण में मरण से वृक्ष जीव सहित है। इस प्रकार से आगम और उपपत्ति से उनके जीवत्व को सिद्ध जानकर और तथा-प्रकार के धर्म को जानता हुआ स्थावरों में भी निरर्थक हिंसा को न करें, यही इसका तात्पर्यार्थ है। मैं अब इस व्रत की स्तुति करता हूँ-

सर्वज्ञों ने सर्व व्रतों में इसे मुख्य कहा है, मनुष्य सर्व पापों को दूर करनेवाले इस व्रत का प्रयत्न से पालन करें।

इस विषय में पूर्व कृत मुनिपति चरित्र के अनुसार से जिनदास श्रावक का यह प्रबन्ध लिखा जाता है-

चंपा में गुरु के मुख से धर्म देशना को सुनकर जिनदास श्रावक ने दर्शन मूलवाले व्रतों को ग्रहण किया। एक बार उसने एक बैल को निर्लाछन आदि दुःख की पीड़ा से दया करके छोड़ा था, क्योंकि-

दया के बिना देव-गुरु के चरणों की पूजा, सर्व इंद्रियों का यंत्रण, दान और शास्त्रों का अध्ययन, ये सर्व ही स्वामी रहित सैन्य के समान वृथा ही हैं।

खरगोश की दया से हाथी मेघकुमार, क्रौंचपक्षी की दया से मेतार्य ने मोक्ष को, कबूतर की दया से शांतिनाथ हुए थे और मुनि-सुव्रत स्वामी ने घोड़े की दया से साईठ योजन का विहार किया था।

चाणक्य ने भी कहा है -

दया-हीन धर्म को छोड़ दें, क्रिया-हीन गुरु को छोड़ दें, क्रोध-मुखवाली पत्नी को छोड़ दें और स्नेह रहित बांधवों को छोड़ दें।

उस बैल ने भी श्रेष्ठी के मुख से नित्य प्रतिक्रमण, शास्त्रादि

के श्रवण से देशविरति को प्राप्त किया । अष्टमी आदि में प्रासुक घास आदि और स्व-गुरु श्रेष्ठी के दर्शन के बिना वह भोजन नहीं करता था ।

एक दिन पर्व के दिन में शून्य-गृह में अष्टमी की रात्रि में पौषध को ग्रहण कर श्रेष्ठी कायोत्सर्ग में स्थित हुआ । इस ओर अयोग्य आचरण करनेवाले श्रेष्ठी की कुलटा पत्नी ने एक पुरुष के साथ उस शून्य-गृह में संकेत किया था । रात्रि के समय एक पलंग, चार लोह के कील और जार को ग्रहण कर शून्य-गृह में आकर श्रेष्ठी को नहीं जानती उसने वहाँ शून्य-गृह में पलंग रखा । विधि के वश से श्रेष्ठी के पैर के ऊपर पलंग का पैर आया । उसे स्थिर करने के लिए हथौड़े के घात से पैरों में भूमि पर्यंत कीलें रखीं । एक कील से श्रेष्ठी का पैर बाँधा । महा-व्यथा में उस युगल मेलापक के भार से आक्रान्त हुआ वह सोचने लगा कि-

हे शरीर ! खेद का चिन्तन कीये बिना तुम सहन करो, पुनः तुझे स्व-वशता दुर्लभ हैं । हे जीव ! पर-वश हुआ तुम अत्यंत ही सहन करोगें और वहाँ पर तुझे गुण नहीं हैं ।

हे बालक ! तुम मृत्यु से क्यों डर रहे हो ? वह भय-भीत हुए को नहीं छोड़ता हैं । जन्म प्राप्त नहीं हुए को वह ग्रहण नहीं करता हैं, तुम अजन्म में प्रयत्न कर ।

सज्जन दोष समूह को दूर कर मन में गुण को ही धारण करते हैं । मेघ क्षारभाव को छोड़कर समुद्र से पानी को ही ग्रहण करते हैं ।

इस प्रकार से श्रेष्ठी ने स्व-दोषों को ग्रहण कीये, परंतु उसके ऊपर क्रोधित नहीं हुआ । शुभ ध्यान से मरकर श्रेष्ठी ने सौधर्म स्वर्ग को प्राप्त किया । पश्चात् प्रातःकाल में स्व-स्वामी के मरण को जानकर- अहो ! यह अकार्य हुआ है, अब मैं क्या करूँ ? इस ओर बैल

आवश्यक क्रिया करने और श्रेष्ठी के दर्शन के लिए आया । स्त्री ने श्रेष्ठी के रुधिर से उसके दोनों सींगों को लीपें । पश्चात् उसने बुंबारव कर और हृदय में ताड़ना देकर कहा कि - इसने मेरे पति को मारा है । उसे सुनकर बहुत जन उस बैल की निन्दा करने लगे, क्योंकि-

जल के मध्य में मत्स्य के पैर, आकाश में पक्षियों की पाद-पंक्ति और नारीयों का हृदय-मार्ग, तीनों भी मार्ग अलक्ष्य हैं ।

स्व-निन्दा को सुनकर उस बैल ने सिर की संज्ञा से-मैंने नहीं मारा है, इस प्रकार से उनको ज्ञापन किया । लोग उन दोनों को राजा के आगे ले गये । तब मंत्री ने कहा कि- दोनों के मध्य में जो तपे हुए लोह के गोले को जीभ से छूओगा, वह सत्य प्रतिज्ञाधारी है । तब बैल ने संज्ञा से हाँ इस प्रकार से कहकर शीघ्र से राजा के द्वारा कराये हुए तप्त लोह के गोले को चाटने लगा । वह स्त्री श्याम मुखवाली हुई । राजा ने उसे नगर से दूर किया ।

श्रेष्ठी ने (बैल ने) दुःख से संकुलित होने पर भी तीनों प्रकार से स्व-अहिंसा धर्म को लेश-मात्र से भी नहीं छोड़ा था ।

जिस जिनदास ने शास्त्र-वचन से बैल को विवेकवन्त किया था, अपराध सहित पत्नी को देखकर मन से भी लेश-मात्र हिंसा का विचार नहीं किया था । [इससे वह सुखी हुआ]

इस प्रकार से संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में चौसठवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



पैंसठवाँ व्याख्यान

अब कुल-क्रम से आयी हुई हिंसा को भी छोड़ देते हैं, उसकी स्तुति करते हैं -

जो पंडित वंश के क्रम से आयी हुई हिंसा को भी छोड़ देता है, वह हरिबल के समान राज्य आदि संपदाओं का स्थान होता है ।

इस विषय में श्लोक में कहा हुआ यह उदाहरण है-

काञ्चनपुर में जितारि राजा था और उसकी लावण्य आदि रूप से युक्त वसन्तश्री नामक पुत्री थीं । इस ओर हरिबल नामक एक मच्छीमार पत्नी के साथ कलह से उद्विग्न हुआ मत्स्य-जाल को लेकर नदी के तट पर आया । वहाँ एक मुनि को देखकर गुरु के द्वारा कही हुई देशना को सुनी -

मेरुपर्वत से कौन बड़ा है ? कौन समुद्र से गंभीर है ? आकाश से क्या विशाल है ? और अहिंसा के समान कौन-सा धर्म है ?

भूमी के समान उन करोड़ पदों को पढ़ने से क्या लाभ है, जो इतना भी नहीं जाना गया कि पर-पीड़ा नहीं करनी चाहिए ।

महाभारत में भी-

हे युधिष्ठिर ! जो स्वर्ण मेरु को अथवा संपूर्ण पृथ्वी का दान देता है और कोई एक को अभयदान देता है, स्वर्णादि के दान के समान वह नहीं हो सकता ।

इत्यादि सुनकर और धर्म को जानकर उसने कहा कि- हे भगवन् ! मच्छीमार कुल के मुझ रंक के गृह में चक्रवर्ती के भोजन के समान हिंसा की निवृत्ति दुःत्याज्य है । ऋषि ने कहा कि- यदि तुम अधिक करने में असमर्थ हो तो, प्रथम जाल में पड़े हुए मत्स्य को छोड़ दो, तुम इस अल्प नियम को ग्रहण करो । उस नियम को स्वीकार कर उसने नदी के जल में जाकर जाल को फेंका । उस जाल में एक स्थूल

मत्स्य आया, उसे छोड़ दिया । पुनः भी वही मत्स्य जाल में आया । पहचान के लिए कंठ में कोड़ी को बाँधकर उसे छोड़ दिया । फिर से भी वही मत्स्य आ गिरा । इस प्रकार से अन्य स्थानों में भी सन्ध्या की अवधि तक वही आया । हरिबल की दृढ़ता से संतुष्ट हुए देव ने कहा कि- तुम इष्ट वर माँगों । उसने हर्ष से कहा कि- आपदा में शीघ्र से तुम मेरा रक्षण करना । देव वर देकर तिरोहित हुआ । मत्स्य लाभ के अभाव से पत्नी के भय से वह बाह्य देव-कुल में रहा ।

इस ओर गवाक्ष में स्थित राजकन्या ने हरिबल नामक किसी श्रेष्ठी पुत्र को देखकर किसी उपाय से उसे राग-सहित किया । उन दोनों ने संकेत स्थान दैव योग से परस्पर उसी देव स्थान को निश्चय किया । रात्रि के समय अश्व के ऊपर चढ़कर और स्व सर्वस्व का संग्रह कर वसन्तश्री उसके द्वार पर आयी । श्रेष्ठी के पुत्र ने इस प्रकार से विचार किया कि- राज-पुत्री होने के कारण से और कुल-मलिनता का हेतु होने से गुणियों को यह योग्य नहीं हैं, इस प्रकार से विचारकर वह स्व-गृह में ही रहा, क्योंकि-

स्त्री-जाति में दांभिकता, वणिग्-जाति में अत्यंत भीरुता, क्षत्रिय-जाति में रोष, पुनः ब्राह्मण-जाति में लोभ होता है ।

अब वह राजकन्या देव के द्वार पर स्थित होकर मध्य में रहे हुए हरिबल से कहने लगी कि- हे स्वामी ! देशान्तर में जाया जाय जिससे कि हम दोनों का मनोरथ फलित हो । उसने भी संकेत को जानकर हूँकार किया । वह राजकन्या के वचन से बाहर निकला । दोनों भी घोड़े के ऊपर चढ़कर चलने लगे । राज-पुत्री उससे बार-बार आलापन करने लगी । और वह सर्वत्र भी उत्तर में हूँकार को देता था । उससे खेदित हुई वह सोचने लगी कि- यह कोई अन्य ही है, इस प्रकार से उसके विचार करने पर और उद्योत होने पर तब उसके

रूप आदि को देखकर चिन्तार्त हुई उसने इस प्रकार से सोचा कि- मुझे धिक्कार हो । हाथी के समान मेरे दोनों भी इष्ट नष्ट हो गये हैं । जैसे कि-

ग्रीष्म-ऋतु में दाह से आर्त हुआ और अत्यधिक तृष्णा से तरलित हुआ श्रेष्ठ हाथी सरोवर को पूर्ण देखकर शीघ्र ही वहाँ पर आया । वह तट-निकटवर्ती कीचड़ में भी वैसे मग्न हुआ जिससे कि नहीं नीर और नहीं तट प्राप्त हुआ, विधि के वश से उसके दोनों भी विनष्ट हुए ।

दुर्विधि, दुर्भग, दुष्कुल, दुष्ट, अनिष्ट, आदि पति के संयोग से नित्य जीते हुए मरण से एक बार मरण श्रेयस्कारी हैं ।

इत्यादि अत्यंत ही पीड़ित होती हुई उसे देखकर हरिबल ने सोचा कि- अहो ! मुझे धिक्कार हैं, क्योंकि मुझ मच्छीमार ने इसे ठगा हैं । इस प्रकार की चिन्ता को दूर करने के लिए पूर्व में तुष्ट हुए देव ने उसका रूप कामदेव के समान किया । तब आकाश-वाणी प्रकट हुई कि- पुण्य से युक्त ऐसे पति को प्राप्त कर तुम अन्य क्या इच्छा कर रही हो ? परस्पर प्रीति से युक्त उन दोनों ने पश्चात् गान्धर्व विवाह से विवाह किया । विशालपुर में आकर और प्रौढ़ गृह को ग्रहण कर वें दोनों रहने लगे । उपहार आदि के दान से हरिबल राजा का बहुमान पात्र हुआ ।

एक बार मंत्री ने राजा के आगे वसन्तश्री के लावण्य, रूप आदि का वर्णन किया, हरिबल की पत्नी में लुब्ध हुआ और उसे मारने की इच्छावाले राजा ने सभा में कहा कि- मेरी सभा में हरिबल के बिना कोई अन्य साहसिक नहीं हैं, जो लंका के स्वामी बिभीषण को मेरे गृह में निमंत्रण कर सकें । अपने उत्कर्ष को सुनकर उसने भी राजा से कहा कि- हे स्वामी ! इस कार्य को कर मैं अल्प ही दिनों में आऊँगा । हरिबल ने स्व-गृह में स्त्री के प्रति लंका के स्वामी के निमंत्रण

के लिए गमन करने का वृत्तांत कहा तथा- तुम निर्मल शील को धारण करना, मैं की हुई प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए जा रहा हूँ, जैसे कि-

सिर छेदा जाये अथवा बंधन हो, लक्ष्मी सर्वथा ही छोड़ दे, पुरुषों को स्वीकार कीये हुए कार्य के पालन में जो होना हो वह हो ।

इस प्रकार से कहकर क्रम से प्रयाण करते हुए समुद्र के तट पर आकर वह सोचने लगा कि- मैं स्वीकार कीये हुए को कैसे निर्वाह करूँगा ? इस प्रकार से विचारकर पूर्व में वर देनेवाले देव का स्मरण कर उसने छलांग दी । देव उसे लंका के उपवन में ले गया । वहाँ समृद्धि से एक सुंदर महल को देखकर-यह क्या हैं ? इस प्रकार से विचार करते हुए उसमें प्रवेश किया । वहाँ कमरे के भीतर यौवनशालिनी और निश्चेतन बाला को देखकर सोचा कि- अहो ! यह आश्चर्य क्या हैं ? इस प्रकार से वह विस्मयवंत हुआ । वहाँ पर एक अमृत से पूर्ण तुंब को देखकर हरिबल ने पानी की बुद्धि से शीघ्र ही उसके सर्वांग को सिंचित किया, उससे वह सोकर उठी हुई के समान ही तत्क्षण उठ खड़ी हुई । आगे हरिबल को देखकर, लज्जित होकर उसने कहा कि- हे स्वामी ! आप यहाँ पर किसलिए आएँ हो ? उसने भी आगमन का सर्व वृत्तांत कहा । हरिबल ने पुनः उसका स्वरूप पूछा, तब वह कहने लगी कि-

मेरा पिता लंकापति का देव-अर्चक हैं । एक दिन उसने नैमित्तिक से पूछा कि-मेरी पुत्री का वर कैसा होगा ? उसने कहा कि- इसका पति राजा होगा । यह सुनकर मेष के समान यह मूर्ख राज्य के लोभ से मुझसे विवाह करने की इच्छा करने लगा । उन्मार्ग के एक मार्ग में गमन करने में तत्पर लोभान्ध को धिक्कार हो, क्योंकि-

रात्रि- अंध, दिन में अंध, जात्यांध, माया- अंध, मान- अंध, क्रोधांध, कामांध और लोभांध- ये आठों भी अंध कहें गये हैं ।

मेरी स्वच्छन्दता के त्याग के लिए वह यहाँ मुझे मंत्र से मृत के समान कर बाहर जाता हूँ। स्वजनों से दूर किया हुआ यह पुनः ही आकर और अमृत का सिंचन कर जीवित करता हूँ। इसके दोष से कदाचित् मेरी मृत्यु होगी, इसलिए इसी लग्न वेला में तुम मेरा पाणिग्रहण करो, जिससे कि मैं चिर समय तक जीऊँ। हरिबल ने वैसा ही किया, तब उस कन्या ने कहा कि— हे स्वामी ! बटुक के भय से हम दोनों का यहाँ से गमन ही योग्य है, अशक्य ऐसे बिभीषण के निमंत्रण से रहा, परंतु यहाँ पर आगमन के विश्वास की उत्पत्ति के लिए तुम्हारे राजा के आगे बिभीषण के पहचान के रूप में चन्द्रहास तलवार को लाकर किसी उपाय से मैं ले आऊँगी। उसने अत्यंत गुप्त रीति से तलवार को रखने के लिए हरिबल को अर्पित की। स्त्री की बुद्धि से आश्चर्य चकित हुआ वह उस तुंबी, स्त्री और तलवार को लेकर नगर से बाहर निकला।

अब गृह में हरिबल के चलने के पश्चात् राजा गुप्त रीति से उसके गृह में जाकर उसके स्त्री के प्रति देह-संग की प्रार्थना करने लगा। वह भी अंदर द्वेष और विषाद को छिपाकर कहने लगी कि— हे राजन् ! आप मेरे पति की शुद्धि की निर्णय अवधि तक प्रतीक्षा करो।

राजा भी सोचने लगा कि— यह भी मेरे वश में ही हैं, किन्तु पति-मृत्यु के निर्णय की अपेक्षा कर रही है, उससे मैं भी उसे कपटक की वृत्ति से करता हूँ। इस प्रकार से सोचकर और उसके वाक्य की अनुमति कर गृह में गया।

अब हरिबल स्व-नगर के उद्यान में कुसुमश्री को छोड़कर गुप्त-रीति से स्व-आश्रम में आया। स्वामी को देखकर वह भी विरह-व्यथा को कहने लगी। पश्चात् दोनों ने परस्पर बने हुए वृत्तांत के बारे में कहा। अब राजा के इच्छित का मर्दन करने के लिए, राजा

से स्व-आगमन का ज्ञापन करने के लिए किसी पुरुष को भेजा । उसने भी जाकर के राजा से कहा कि- बिभीषण राजा को निमंत्रित कर और उसकी पुत्री से विवाह कर, अहो ! चतुर हरिबल यहाँ उपवन में आया हुआ हैं ।

इस प्रकार से कर्ण-कटुक वाक्य को सुनकर विस्मय से युक्त हुए राजा ने जन-अपवाद के भय से प्रिया से युक्त उसे महोत्सवों के साथ स्व-नगर में प्रवेश कराया । राजा के द्वारा वृत्तांत के बारे में पूछने पर उसने कहा कि-

यहाँ से मैं चला और क्रम से दुस्तर समुद्र को प्राप्त कर अत्यंत ही उद्विग्न हुआ, उतने में ही समुद्र से आये एक राक्षस को देखकर और निर्भय होकर मैंने लंका प्राप्ति का उपाय पूछा । उसने भी कहा कि- जो पुरुष यहाँ पर काष्ठ की चिता में प्रविष्ट होता हैं, उसी का ही वहाँ पर प्रवेश होता हैं । यह सुनकर-प्रभु का कार्य सेवकों को अवश्य ही करना चाहिए, इस प्रकार से स्वीकार कर मैंने चिता में प्रवेश किया । देह की भस्म को लेकर और वृत्तांत कहकर राक्षस ने उसे बिभीषण के आगे रखा । सात्त्विक-वृत्ति से संतुष्ट हुए उस राजा ने मुझे जीवित किया पश्चात् उसने स्व-पुत्री दी । मैंने बिभीषण से आपका कहा हुआ निमंत्रण का वृत्तांत कहा । तब उसने कहा कि- महान् पुरुषों को न्यून गृह में गमन मान-हानिकारी हैं, इसलिए पूर्व में तेरे राजा का यहाँ पर आगमन योग्य हैं, पश्चात् तेरा कहा करूँगा, इस विषय में तुम इस निशानी को ग्रहण करो, इस प्रकार से कहकर और चन्द्रहास तलवार देकर स्व-शक्ति से प्रिया सहित मुझे यहाँ पर ले आया । इस प्रकार से वचन के उसके वाक्य को सत्य मानकर मंत्री के साथ सोचने लगा कि- अहो ! यह जीवित ही आया हैं, पुनः मैं इसे छल से दुःख में गिराता हूँ, क्योंकि-

राजा, सर्प, अधम, चोर, क्षुद्र-देव, हिंसक-प्राणि, शत्रु, शाकिनी-छल के बिना निष्फल आरंभवाले दुष्ट भी क्या कर सकते हैं?

एक बार हरिबल ने भावी अनर्थ का विचार कीये बिना मंत्री आदि के साथ राजा को भोजन के लिए निमंत्रित किया। वहाँ पर स्त्री के लावण्य को देखकर अत्यंत काम से पीड़ित हुए राजा ने मंत्री से स्व-अभिप्राय कहा। मंत्री ने कहा कि- हे स्वामी ! यम राजा के आह्वान के बहाने से यह अग्नि में डाला जाय तो इच्छित होगा।

एक दिन राजा ने हरिबल को बुलाकर कहा कि- हे सात्विक शिरोमणि ! तेरे बिना अन्य कौन अग्नि के मार्ग से जाकर मेरे गृह में यम को निमंत्रित कर सकता है ? यह सुनकर राजा को मंत्री से बुद्धि प्राप्त जानकर और राजा का आदेश प्रमाण कर, स्व-गृह में जाकर सोचने लगा, जैसे कि-

दुर्जनों पर किया हुआ उपकार भी महान् पुरुषों को अत्यंत दोष का कारण होता है। अनुकूल आचरण से व्याधियाँ अत्यंत कुपित होती हैं।

अब राजा ने चिता करायी। स्व-देव का स्मरण कर और जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर तथा स्वर्ण के समान ही दीप्तिमंत देह वाला बना हुआ हरिबल भी तत्क्षण स्व-गृह में गया, परंतु देव प्रभाव से किसी ने भी उसे नहीं देखा।

इस ओर राजा निर्भय होकर और हरिबल के गृह में आकर दोनों स्त्रियों से काम-भोग की याचना करने लगा। तब दोनों स्त्रियाँ कहने लगी कि- हे स्वामी ! आपके सेवक की स्त्रियों से आलिंगन के वाक्य को कहना योग्य नहीं हैं, क्योंकि-

पहरेदार से चोरी, रक्षक पुरुषों से धाड पाडना, पानी से अग्नि और सूर्य से अंधकार के प्रसरण समान ही यह हैं।

इत्यादि युक्ति से भी स्व असद् आग्रह को नहीं छोड़नेवाले राजा को उन दोनों ने दृढ़ पाश-बंधनो से बाँधा और जर्जरित अवयव वाला किया, पुनः उन दोनों ने कृपा से उसे छोड़ दिया । प्रातःकाल में लज्जा से वह अंतःपुर में गया ।

अब हरिबल ने सोचा कि-कदाचित् यह मुझे कपट से मार डालें, इसलिए मैं कपट कर राजा के चक्षु ऐसे मंत्री को यम-अतिथि करता हूँ, क्योंकि-

मूढ़ बुद्धिवाले वें पराभव को प्राप्त करते हैं, जो मायावियों में मायावी नहीं होते हैं । अंग से नहीं ढँके हुए तथा-विधों को तीक्ष्ण बाण के समान ही शठ पुरुष प्रवेश कर मार देते हैं ।

इस प्रकार से सोचकर यम-राजा के द्वारपाल का रूप धारण करनेवाले किसी पुरुष के साथ हरिबल राजा की सभा में आया । उसे देखकर विस्मय से युक्त हुए राजा ने यम का स्वरूप पूछा । उसने भी स्व-बुद्धि से यम का वर्णन किया और पुनः भी कहने लगा कि-हे स्वामी ! वचन से यम का वर्णन क्या-क्या किया जा सकता है ? क्योंकि-

योगीन्द्र भी यम के भय से ही योगाभ्यास को भज रहे हैं । बहुत कहने से क्या लाभ है ? वन के समान त्रिभुवन भी उसकी सेवा कर रहा है ।

हे राजन् ! मैंने यम को अच्छी युक्ति से निमंत्रित किया है, तब मुझे इस अपने द्वारपाल को देकर कहा कि- मेरी ऋद्धि को देखने के लिए तेरे राजा और मंत्री को इसके साथ भेजो । इसलिए शीघ्र से वहाँ पर पैर रखें जाएँ । प्रतिहारी ने भी वैसा ही कहा । राजा को जलते हुए अग्नि में प्रवेश करने के लिए उत्सुक जानकर स्वामी-द्रोह की बुद्धि से हरिबल ने कहा कि- हे स्वामी ! आपके आगमन का ज्ञापन कराने

के लिए प्रथम मंत्री भेजा जाय । वर्धापन दान के ग्रहण में उत्सुक हुआ मंत्री भी अग्नि में गिरते ही भस्म-अवशेषता को प्राप्त हुआ । हरिबल ने राजा से कहा कि- हे स्वामी ! आप पर-स्त्री के अंग के संग की बुद्धि को छोड़कर चिर समय तक जीओ । स्वामी-द्रोह को महा-पाप मानकर मैंने मृत्यु से आपका रक्षण किया है, फिर से भी आपको पाप बुद्धिवाले मंत्री का दर्शन नहीं होगा । यह सुनकर राजा खेद वहन करते हुए स्व-गृह में गया । हरिबल के चातुर्य को देखकर राजा ने स्व-कन्या का विवाह उससे कराया ।

अब काञ्चनपुर के राजा ने मुसाफिर के वचन से अपनी पुत्री और हरिबल का वृत्तान्त सुना । हरिबल को बुलाकर उस जमाई को स्व-राज्य दिया । हरिबल राजा ने स्व-राज्य में अमारि की उद्घोषणा करायी ।

अब एक बार विहार के क्रम से आये गुरु को वंदन कर उसने धर्म-वाक्य सुना । उसने स्व-देश में सातों व्यसनों का निवारण किया । स्व-पद पर अपने पुत्र को संस्थापित कर स्वयं ने तीनों देवीयों के साथ में प्रव्रज्या ग्रहण कर मुक्ति को प्राप्त की ।

इस प्रकार से हे भव्यों ! यहाँ पर भी पूर्ण फलवाले हरिबल चरित्र का विचारकर तुम पुण्य से प्राप्त जयवाली ऐसी जीव-दया में प्रयत्न करो ।

विस्तार से इसका चरित्र प्रतिक्रमण सूत्र की बृहद्वृत्ति से जानें ।

इस प्रकार से संवत्सर-दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में पञ्चम स्तंभ में पैसठवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



छासठवाँ व्याख्यान

अब निरंतर ही षड् जीव निकाय की हिंसा में रक्त हुए को फल मिलता है वह कहा जाता है-

निरंतर जो निरपराध जन्तुओं का वध करते हैं, असंयत और दया-रहित वे भव रूपी गुफा में भ्रमण करते हैं ।

भावार्थ तो इस प्रबन्ध से जाना जाय । तथा पुष्पमाला की वृत्ति में कहा गया है कि-

जीवों के वध, बंधन और मारण में रत तथा बहुत दुःख को उत्पन्न करनेवाले मृगावती के पुत्र के समान सकल दुःखों के भाजन होते हैं ।

वध-यहाँ जन्तुओं को ताड़न आदि पीड़ा रूप ग्रहण किया गया है । बन्ध-रस्सी आदि से जन्तुओं का नियंत्रण । मारण-उनके ही प्राणों का वियोजन रूप हैं । उनमें संलग्न हुए । तथा जीवों को अभ्याख्यान आदि से बहुत दुःख उत्पन्न करते हुए । मृगावती के पुत्र के समान समस्त दुःखों के पात्र होते हैं, यह अर्थ है ।

अब इस विषय में विपाकसूत्र के अनुसार से मृगापुत्र कथानक को लिखा जाता है-

श्रीवीर ने पृथ्वी को पवित्र करते हुए मृगग्राम के उद्यान में समवसरण किया । ज्येष्ठ गणधर मृगग्राम में गोचरी के लिए आये । एषणीय अन्न आदि को ग्रहण कर वापिस आते हुए रणकार करती हुई मक्खियों के समूहवाले, पद-पद पर स्खलित होते हुए और दुःख के मंदिर ऐसे एक अन्ध और कुष्टि वृद्ध नर को देखकर तथा प्रभु के समीप में आकर प्रभु से पूछा कि- हे स्वामी ! मैंने आज एक महा-दुःखी नर को देखा है, विश्व में वैसा कोई होगा ? भगवान् ने कहा कि- हे गौतम ! यह बड़ा दुःख नहीं है, क्योंकि इसी गाँव में विजय राजा की

पत्नी मृगावती हैं और लोढ़क आकृति को धारण करनेवाला उसका जो आद्यपुत्र हैं, उसके आगे यह कितना दुःख हैं, जो मुख, नेत्र, नाक आदि से रहित हैं और दुर्गन्धि पूय-रक्त स्रावी देहवाला हैं तथा जन्म के पश्चात् भूमि-गृह में रहा हुआ हैं। यह सुनकर उसे देखने की इच्छावाले, गौतम, स्वामी की आज्ञा से राज-महल में गये।

अब राजा की स्त्री उन गणधर को देखकर कहने लगी कि- हे भगवन् ! अन्-विचारित और दुर्लभ ऐसा आपका आना कैसे हुआ हैं ? गणधर ने कहा कि- हे मृगावती ! प्रभु के वाक्य से तुम्हारे पुत्र को देखने के लिए आया हूँ। तब उसने सुभग आकृतिवाले अन्य पुत्र दिखाये। गणधर ने कहा कि- हे भद्रे ! जो भूमि-गृह में गुप्त हैं, उसे दिखाओ ! उसने कहा कि- हे भगवन् ! मुख-पट्टी बाँधों और एक क्षण प्रतीक्षा करो, जिससे कि भूमि-गृह के उद्घाटित करने पर दुर्गन्ध दूर चली जाये। मृगावती के द्वारा उसे उद्घाटित करने पर गणधर ने वहाँ जाकर उसे देखा, जैसे कि-

पैर के अंगूठे, होंठ, नाक, आँख, कान और हाथ आदि से वर्जित, षण्ढ, तथा जन्म से भी पृथक्-पृथक् पूय-रक्त का स्राव करनेवाली बाह्य और अभ्यन्तर आठ-आठ नाड़ीयों से आजन्म से ही बाधित करनेवाली दुःखद वेदना को भोगनेवाले और मूर्तिमंत पाप के समान उस लोढ़काकार को देखकर प्रभु के पादान्त में आकर इस प्रकार से विज्ञप्ति की कि- हे स्वामी ! यह किस कर्म से नारक के समान दुःख का वेदन कर रहा हैं ? प्रभु ने कहा कि-

शतद्वार नगर में धनपति राजा का राष्ट्रकूट नामक सेवक पाँच सो गाँवों का स्वामी था। सात व्यसनों में रत वह बड़े कर से लोगों को दुःखित कर रहा था, कान, नेत्र आदि के भेदन से विडम्बित कर रहा था। एक दिन स्व-देह में उसे सोलह रोग उत्पन्न हुए, ये

जिसप्रकार से हैं -

श्वास, खाँसी, ज्वर, दाह, उदर-शूल, भगंदर, मसा, अजीर्ण, दृष्टि और मस्तक शूल, अरुचि, आँख की वेदना, खुजली, कान की वेदना, जलोदर और कुष्ठ-यें रोग प्राणी को पीड़ित करते हैं।

दुष्टों को, दुर्जनों को, पापीयों को, क्रूर कर्म करनेवाले को और अनाचार में प्रवृत्त होनेवाले को उसी भव में पाप फलित होता हैं।

क्रोध और लोभ से अनेक पाप-वृन्द कर उसने भी अखिल काल को पाप-कर्म से ही व्यतीत किया। इस प्रकार से ढाई सो वर्ष आयु को भोगकर यहाँ पर उत्पन्न हुआ है, परंतु इसकी माता राब कर मुख के बिना इसके देह में डालती हैं। वह आहार रोम आदि के छिद्र से मध्य में प्रवेश कर पूय और रक्त आदि भाव को प्राप्त कर बाहर निकलता हैं। इस प्रकार महा-दुःख से छब्बीस वर्ष की आयु को पूर्ण कर नरक में जायगा। वहाँ से सिंहत्व को, पुनः आद्य नरक में, वहाँ से सर्पत्व को, पश्चात् द्वितीय नरक में, तत्पश्चात् पक्षी होकर तृतीय नरक में, इस प्रकार से अन्तराल भवों से तमस्तमा पर्यंत जानों। वहाँ से मत्स्यत्व को, तत्पश्चात् स्थलचरों में और खेचरों में वहाँ से चतुरिन्द्रियों में, तत्पश्चात् पृथ्वी आदि में। इस प्रकार से चौरासी लाख योनियों में बहुत बार भ्रमण कर अकाम-निर्जरा से कर्मों की लाघवता से प्रतिष्ठानपुर में श्रेष्ठी-पुत्र होगा। वहाँ पर साधुओं के संग से धर्म को प्राप्त कर सौधर्म में देव होगा। वहाँ से च्यवकर क्रम से सिद्धि को प्राप्त करेगा। इस प्रकार से श्रीवीर ने लोढक का संबन्ध कहा।

इस प्रकार से कथानक को सुनकर आस्तिक जन बहुत

चराचर जन्तुओं की हिंसा को छोड़ दें, पंडित जन उस भव की हिंसा को छोड़कर और अपने आत्मा की हिंसा न करें ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में पञ्चम स्तंभ में छःसठवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



छःसठवाँ व्याख्यान

अब कोई पुरुष हिंसा का मनोरथ करता है, उससे वह स्वयं ही दुःखी होता है, इसे कहते हैं कि-

यदि संकल्प से अन्य की हिंसा का चिंतन करें, तो उस पाप से निज आत्मा ही दुःख से संयुक्त पृथ्वी में गिराया जाता है ।

इस विषय में यह दासी-पुत्र का प्रबन्ध है-

कौशाम्बी में महीपाल राजा था । उसके उद्यान में तृतीय ज्ञानधारी वरदत्त-ऋषि ने नर-समूह के मध्य में धर्म-देशना प्रारंभ की, जैसे कि-

स-अपराध और निरपराधी जन के ऊपर जैन दया करते हैं । चन्द्रमा, राजा और चांडाल के घरों के ऊपर समान कांति को करता है ।

इत्यादि धर्म को कहते हुए गुरु अकस्मात् ही हैंसे । तब आश्चर्य से युक्त हुए सभा-जनों ने पूछा कि- हे भगवन् ! आगम में हास्य से सात-आठ प्रकार का कर्म-बन्ध कहा है । मोह को जीतनेवाले आप जैसों को अप्रस्ताव में क्यों हास्य उत्पन्न हुआ है ? साधु ने कहा कि- हे भद्रों ! तुम सुनो । नीम के पेड़ के शिखर पर इस समलिका को तुम देखो । यह पूर्व-भव के वैर से दोनों पैरों से मुझे मारने की इच्छा कर

रही हैं। यह सुनकर कुतूहल से युक्त सभ्य उसके पूर्व-भव को पूछने लगे। साधु समलिका के प्रतिबोध के लिए कहने लगे कि-

भरत-खंड में श्रीपुर में धन्य श्रेष्ठी था, उसकी पत्नी सुंदरी थी, वह दुःशीला थी। एक दिन उपपति ने उसे इस प्रकार से कहा कि- आज के पश्चात् तुम मेरे पास में मत आना, मैं तुम्हारे पति से डर रहा हूँ। सुन्दरी ने कहा कि- हे प्रियतम ! तुम ऐसा मत कहो। अल्प दिनों के मध्य में ही मैं वैसा करूँगी, जिससे कि पति को मारने से हम दोनों को भय नहीं होगा।

एक दिन पति को मारने के लिए उसने दूध के मध्य में विष डाला। पति को पीरसने के लिए जब वह उसे लाने के लिए गृह-मध्य में गयी, तब सर्प के डँसने से गिरकर मरण को प्राप्त हुई। धन्य विक्षोभ सहित भोजन से उठा। हा ! यह क्या हैं ? इस प्रकार से कहते हुए प्राण-रहित उसे देखकर, उसके चरित्र को नहीं जानने से वह स्नेह से विलाप करने लगा। वह मरकर सिंह हुई। उस वैराग्य से धन्य श्रावक ने दीक्षा ग्रहण की। एक दिन वन में कायोत्सर्ग में वे स्थित थे। विधि-वशात् वहाँ आये सिंह ने वैर से उन्हें मार दिया। ऋषि अच्युत स्वर्ग में गये और सिंह चौथी नरक में।

स्वर्ग से धन्य का जीव चंपा में दत्त श्रेष्ठी का पुत्र वरदत्त नामक हुआ। बाल्य-काल से भी विवेकी, दानी, दया में तत्पर उसने सम्यक्त्व लिया। सुन्दरी का जीव नरक से निकलकर, भवों में भ्रमण कर वरदत्त के गृह में कामुका दासी का पुत्र हुआ। वह दासीपुत्र इस प्रकार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह वरदत्त को शत्रु के समान देखता था, तो भी उसके रंजन के लिए कैसे-भी दया का पालन करता था। उसे धर्मिष्ठ जानकर संतुष्ट हुए श्रेष्ठी ने इस प्रकार से सोचा कि- यह मेरा धर्म-बान्धव हैं, परंतु कर्म से नीच-कुल में उत्पन्न हुआ हैं।

श्रीजैन-मार्ग में निश्चय से कुल प्राधान्य नहीं हैं, क्योंकि-यहाँ पर कुल प्रधान नहीं हैं। इस प्रकार से विचारकर उसे जनों के समक्ष भाई के रूप में स्थापित किया। लोक में भी उस श्रेष्ठी का भाई हैं, इस प्रकार से प्रसिद्धि हुई। वह भी माया से खुद को भक्त के रूप में ज्ञापन करता था, किन्तु मन में गृह-स्वामी होने के लिए श्रेष्ठी को मारने के लिए विविध उपायों को करता था, जैसे कि- मुख कमल-दल के आकार के समान हैं, इत्यादि लक्षणों से जानें।

एक दिन उसने शयन के समय विष से लिस पान के बीड़ें श्रेष्ठी को दीये। कीये हुए चतुर्विध-आहार प्रत्याख्यान का स्मरण कर श्रेष्ठी उनको शीर्ष के ऊपर रखकर सो गया। प्रातः काल में नमस्कार-स्मरण में रत वरदत्त देवों को नमस्कार करने के लिए गया। इस ओर वरदत्त की पत्नी प्राप्त हुए उन पत्रों को लेकर और गृहांगण में दासीपुत्र को देखकर कहने लगी कि- हे देवर ! तांबूल को ग्रहण करो। स्त्री के रूप, गति, कंकण आदि मनस्कवालों और स्त्री के द्वारा मधुर वचन से आलापित तथा संतुष्ट हुए उसने भी उन पत्रों का भक्षण किया। वह सहसा ही भूमि के ऊपर पड़ा और आर्त्तध्यान से मरण प्राप्त हुआ। मरकर वह यह समलिका हुई हैं। उस स्वरूप को देखकर और निज वित्त को सुक्षेत्र में बोक़र भव के वैराग्य से उस श्रेष्ठी ने प्रव्रज्या ग्रहण की। वह मैं हूँ और इस प्रकार से मैंने इस चरित्र को कहा हैं। तब वह समलिका पूर्व भवों को सुनकर जाति-स्मरण से युक्त हुई वृक्ष से उतरकर और गुरु के पैरों में गिरकर निज दुश्चरित्र की क्षमा माँगने लगी। पश्चात् मुनि के वचन से अनशन को स्वीकार कर स्वर्ग में गयी। राजा आदि ने अहिंसा आदि धर्म का स्वीकार किया। मुनि मोक्ष में गये।

हिंसा का विकल्प भी अति दुःख दाता हैं, इस प्रकार से

दासी-पुत्र के वृत्तांत से अच्छी तरह से विचारकर, राग से और रोष से हिंसा को छोड़कर चिद् रूपी लक्ष्मी को धारण करनेवाला साधु (सज्जन) है ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में पञ्चम स्तंभ में सड़सठवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



अड़सठवाँ व्याख्यान

अब कोई अज्ञ पुरुष इस प्रकार कहता है कि- मच्छीमार, शिकारी आदियों के समान ही हमारा कुल-आचार होने से बकरें, सूअर आदि की हिंसा केवल ही पाप-हेतु नहीं हैं, किन्तु ईश्वर के द्वारा ही यह अवतार दिया गया है । हमारे पूर्वजों के द्वारा आचरण किया गया है, उसके आचरण में कोई भी दोष नहीं है ।

उसके प्रति यह शिक्षा है कि-

जो पंडित कुल-क्रम से आयी हिंसा को छोड़ देता है, उसे कुमारपाल के समान श्रेष्ठ श्रावकोत्तम जानें ।

यहाँ श्लोक में कहा गया यह उदाहरण है-

श्रीपाटण में सिद्धराज के कथा-शेषत्व प्राप्त हो जाने पर विक्रम राजा से ग्यारह सो और निन्यान्हवें वर्ष में कुमारपाल राजा हुआ था । क्योंकि-

न ही लक्ष्मी कुल-क्रम से आयी हुई हैं और न ही शासन में लिखी हुई हैं, उसे तलवार से आक्रमण कर भोगें क्योंकि वसुंधरा (पृथ्वी) वीर-भोग्य है ।

पचास वर्षीय उस राजा ने देशान्तर के भ्रमण से निपुण

राज-नीति को स्थापित की थी। दिग्विजय करते हुए राजा ने ग्यारह लाख अश्व, ग्यारह लाख हाथी, पचास हजार रथ, बहोत्तर सामन्त, अठारह लाख सेनानी, इत्यादि ऋद्धि को अपने क्रोड़ स्थान में की थी।

कुमारपाल का दिग्विजय-मान श्रीवीर चरित्र में इस प्रकार से कहा गया है-

पूर्व दिशा में गंगा पर्यंत, दक्षिण दिशा में विन्ध्य पर्यंत, पश्चिम में सिन्धु पर्यंत और उत्तर दिशा में तुरुष्क पर्यंत चौलुक्य ने पृथ्वी साधी थी।

एक बार सर्व अवसर सभा में स्थित राजा के प्रतिबोध के लिए श्रीहेमचंद्रसूरि आयें। उनको देखकर राजा ने आसन दिया। गुरु द्वारा कीये हुए उपकारों का संस्मरण कर और वंदन कर वह पूछने लगा कि- सर्व धर्मों में कौन-सा धर्म श्रेष्ठ हैं? गुरु कहने लगे कि- हे राजन् !

अहिंसा श्रेष्ठ धर्म हैं और सर्व-शास्त्रों में यह प्रख्यात हैं। जहाँ जीव-दया नहीं है, उन सर्व धर्म को छोड़ दो।

हे युधिष्ठिर ! निश्चय से प्राणि-वध यज्ञ में नहीं है, यज्ञ तो अहिंसक है और सर्व प्राणियों में अहिंसा ही धर्म-यज्ञ हैं।

मीमांसा में-

जो हम गहन अंधकार में स्नान करते हैं और पशुओं से यज्ञ करते हैं। उस हिंसा से धर्म होता है, यह नहीं हुआ है और न ही होगा।

जैनागम में भी-

धर्म है, धर्म है इस प्रकार विविध रूपों से जगत् में धर्मनेता घोषणा करते हैं। जैसे स्वर्ण की तीन परीक्षाओं से परीक्षा करते हैं, वैसे उस धर्म की परीक्षा करनी चाहिए।

तीन सो और तिरसठ परस्पर विरुद्ध दर्शन के भेद हैं। जो अहिंसा को दूषित नहीं करते है और जहाँ ही वह सकल भी है उसे तुम ग्रहण करो।

इस प्रकार से अच्छी तरह से धर्म को जानकर भी राजा लोक-लज्जा आदि से मिथ्यात्व को छोड़ने की इच्छा नहीं करता था, क्योंकि-

काम-राग और स्नेह-राग, दोनों भी शीघ्रता से निवारण कीये जा सकतें हैं, किन्तु अत्यंत पापी दृष्टि-राग तो सज्जनों को भी दुरुच्छेदनीय हैं।

कुमारपाल ने सूरि को कहा कि- हे भगवन् ! कुल, देश और धर्म का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, तथा-नीति में निपुण निन्दा करें, इत्यादि से कुलाचार का त्याग योग्य नहीं हैं। गुरु ने कहा कि- हे राजन् ! यह हित-वाक्य शुभ कर्म को आश्रय किया हुआ है। कुल से प्राप्त हुई भी पीड़ा और दरिद्रता के निवारण में कौन अभिलाषा-वाला न हो ?

पर प्रत्यय मात्र बुद्धि जब तक प्रवर्तित होती है, तब तक अपाय के मध्य में स्व मन को अर्थों में जोड़ें, आस-वाद आकाश के मध्य से नहीं गिरतें हैं।

लोह भार वाहक तुल्य कोई मूढ़ स्व कदाग्रह को नहीं छोड़तें हैं और वे दुरन्त संसार में गिरतें हैं। इसलिए हे राजन् !

सर्व दया-मूल धर्म ही प्रामाण्य को प्राप्त होता है, उससे भ्रान्ति को छोड़कर तुम दया-धर्म में स्थिर बनो।

इत्यादि युक्ति से प्रतिबोधित हुए उसने प्राणातिपात विरमण व्रत को ग्रहण किया। तत्पश्चात् चारों वर्णों में जो कोई भी स्व अथवा अन्य के लिए जीवों को मारता है, वह राज-द्रोही है, इस प्रकार पटह

को बजवाया । शिकारी, कसाई, मच्छीमार, शराब बेचनेवाले आदि के पाटकों को तोड़ दीये और उनसे प्राप्त द्रव्य को छोड़ दिया । उनको भी निष्पाप वृत्ति से निर्वाह कराया ।

एक दिन कुल-देवी कृत कुष्ठ-देहवाले राजा को देखकर मंत्री वागभट्ट ने कहा कि- हे स्वामी ! आत्मा की रक्षा के लिए देवी को पशु दें । यह सुनकर राजा ने कहा कि- अहो ! भक्ति से ग्रथिल हुआ निःसत्त्व वणिग् वचनों को कह रहा है, इत्यादि । तथा राजा ने इस प्रकार से कहा कि- सुनो,

भव-भव में प्राणियों को भव का कारण ऐसा देह प्राप्त होता है, किन्तु सर्वज्ञों के द्वारा कहा गया और मुक्तिकारी अहिंसा-व्रत प्राप्त नहीं होता है ।

श्वास चपल-वृत्तिवाला है और जीवन उसके सदृश ही है, उसके लिए मैं स्थिर और मोक्षकारी कृपा को कैसे छोड़ूँ ?

इस प्रकार धर्म की दृढ़ता से राजा रोग रहित हुआ ।

एक बार गुरु को प्रणाम कर राजा स्थित हुआ था, तब गुरु कहने लगे कि-

हे राजन् ! जो तुम यहाँ ऐसे कष्ट में भी अर्हत्-शासन से भ्रष्ट नहीं हुए हो, तो तुझे परमार्हत इस प्रकार का विरुद्ध हो ।

इस प्रकार से राजा के मुख में, मन में, गृह में, देश में और पुरुषों में स्थान को प्राप्त नहीं करती हुई हिंसा स्व-पिता मोह के समीप में गयी । मोह भी चिर काल के पश्चात् देखकर नहीं पहचानते हुए उससे कहने लगा कि- हे सुंदरी ! तुम कौन हो ? उसने कहा कि- हे पिताजी ! मैं आपकी प्रिय पुत्री मारि हूँ । मोह ने पूछा कि- तुम दीन क्यों हो ? उसने कहा- पराभव से । वह किसने किया है ? इस प्रकार मोह के पूछने पर उसने कहा कि- हे पिताजी ! मैं अब क्या कहूँ ?

कुमारपाल ने मुझे देश से निष्कासित किया है । यह सुनकर रुष्ट हुए मोह ने कहा कि- हे वत्स ! तुम मत रोओ । मैं तेरे शत्रुओं को रुलाऊँगा ।

इस प्रकार उसे आश्वासित कर स्व-बल का गर्व करने लगा कि-तीनों भुवन में वह कोई देव अथवा मानव नहीं है जो मेरी आज्ञा का लोप कर सके । मोह-राजा ने अपनी सेना को सज्ज की । कदागम रूपी मंत्री, अज्ञान राशि रूपी सेनानी, मिथ्यात्व, विषय अब्रह्म और कुध्यान रूपी भट, हिंसा रूपी कन्या का पाणिग्रहण करानेवाले और यज्ञ आदि के प्ररूपक ब्राह्मण, यें सभी चौलुक्य के साथ युद्ध कर वापिस आये । उससे मोह दुःख से निःश्वास करता हुआ विलाप करने लगा । तब राग आदि पुत्र कहने लगे कि- आप जैसे गरुड़ों को पुरुषों में टिटिहरी के समान कुमारपाल की धर्म-बुद्धि के उच्छेदन में यह कौन-सा खेद हैं ? उन पुत्रों में पहले राग इस प्रकार से कहने लगा कि- हे पिताजी ! मैं अकेला भी तीन भुवनों को जीतने का शीलवाला हूँ, जैसे कि-

अहल्या का जार इन्द्र हुआ था, प्रजानाथ ने अपनी पुत्री को तथा चन्द्र ने गुरु की पत्नी को भजी थीं । इस प्रकार से प्रायः कर मैंने किसको अपद पर पदगामी नहीं किया है । भुवन की उन्माद विधियों में मेरे बाणों का श्रम किस समान है ?

इस प्रकार से कहने पर क्रोध ने कहा -

मैं भुवन को अंध करता हूँ और बधिर करता हूँ, स-चेतन और धीर को अचेतना प्राप्त कराता हूँ जिससे कृत्य को नहीं देखता है और न ही हित को सुनता है तथा मतिमान् पुरुष पढ़े हुए का भी प्रतिसंधान नहीं कर सकता हैं ।

इस प्रकार से लोभ, दंभ आदि भी गर्जना करते हुए और निज

भुजा-स्फोट करते हुए स्व-शत्रु तथा सैन्य सहित धर्म-राजा को निज देश में अवकाश देनेवाले चौलुक्य-सिंह कुमारपाल के प्रति युद्ध करने लगे। उनको भी धर्म-राजा के सदागम रूपी मंत्री द्वारा दी हुई बुद्धि से क्षण में ही जीता। इस प्रकार से राजा की साहस प्रबलता को देखकर आनंदित हुए धर्म-राजा ने अपनी पुत्री कृपासुंदरी उसे दी। श्रीमद् अर्हत् देव के समक्ष धर्म-ध्यान भेद रूपी चवरिका में नव-तत्त्व रूपी वेदी में प्रदीप्त हुए अग्नि में, भावना रूपी घी के प्रक्षेपन से चार मंगल है, इस प्रकार वेदोच्चार पूर्वक श्रीहेमाचार्य रूपी ब्राह्मण ने वधू सहित राजा को प्रदक्षिणा दी। उसके बाद-

पाणि-मोचन पर्व में धर्म ने अपने जमाई को सौभाग्य, आरोग्य, दीर्घ आयु, बल रूपी अनेक सौख्य दीएँ।

तत्पश्चात् राजा ने कृपा को पट्ट-देवी पद दिया।

अब एक बार पूर्व में पृथ्वी के ऊपर पर्यटन करते हुए राजा ने कीये हुए पाप को स्मरण किया। वह इस प्रकार से हैं-

कुमारपाल दधिस्थली में जाते हुए मार्ग में वृक्ष की छाया में विश्राम किया। वहाँ उसने चूहे को बिल से चाँदी की मुद्रा को बाहर निकालते हुए देखा। यह कितनी मुद्राएँ निकाल रहा है, इस प्रकार वह जब देखने लगा, तब उसने इक्कीस मुद्राएँ निकाली। उसके ऊपर नृत्य कर और सो कर तथा एक मुद्रा को लेकर उस चूहे ने बिल में प्रवेश किया। कुमारपाल सोचने लगा कि-

न ही भोग हैं और न गृह आदि कार्य करण है, राजा को अथवा अन्य को भी कुछ-भी देने योग्य नहीं हैं, न ही सत्कृति है, न सुकृत और न ही सत्-तीर्थयात्रा आदि है। तो भी जो लोलुप बुद्धिवाले सूच्याननादि धन को ग्रहण करते हैं, उससे मैं मानता हूँ कि अहो! भुवन को एक मोहित करनेवाला इससे कोई दूसरा नहीं है।

कुमारपाल पश्चात् उठकर और शेष बीस मुद्राओं को ग्रहण कर स्थित हुआ। बिल से निकलकर और उन मुद्राओं को नहीं देखता हुआ चूहा भी हृदय-स्फोटन से मरा। उसे देखकर खेदित हुआ कुमारपाल सोचने लगा कि-

धनों में, जीवितव्यों में, स्त्रियों में और अन्नों में सर्वदा ही अतृप्त सभी प्राणी मर गये हैं, मर जायेंगे और मर रहे हैं।

उस पाप के प्रायश्चित्त पद में प्रथम व्रत ग्रहण के समय में उसी स्थल में जाकर उसने उंदरिका-विहार प्रासाद किया। आज भी वह वहाँ पर हैं।

अब एक बार शाकंभरी का राजा और अपने बहन का पति आनाक पत्नी के साथ शतरंज और पाँसों से क्रीड़ा करता हुआ हास्य से कहने लगा कि- हेमसूरि आदि मुंडकों को मार दो। तब पत्नी ने कहा कि- इस प्रकार से नहीं कहा जाता है, मारि का निवारण करनेवाले वैं मेरे भाई के गुरु हैं। जब वह इस प्रकार पुनः पुनः कहता है, तब कुपित हुई रानी कहती हैं कि- रे जंगड़क ! जीभ को संभालो, यदि तुम भार्यापने से मुझसे नहीं डरते हो तो भी मेरे भाई का भी भय नहीं है ? यह सुनकर रुष्ट हुए उसने पत्नी को पाद-प्रहार से मारा। पत्नी ने कहा कि- यदि मेरे भाई के समीप में अवट मार्ग से तेरी जीभ को खींचाऊँगी, तब मुझे राज-पुत्री मानना। इस प्रकार से कहकर और पाटण में जाकर उसने स्व भाई से प्रतिज्ञा कहीं।

अपनी सेना से घेरा हुआ चौलुक्य-राजा कुमारपाल शाकंभरी में गया। तीन लाख घोड़े, पाँच सो हाथी और दस लाख सैनिकों से घेरा वह भी संमुख आया। बड़ी सेना को देखकर आनाक ने धन देकर कुमारपाल सैन्य का भेदन किया। संग्राम के होते सामंतों को उदासीन देखकर राजा ने महावत से कहा कि- क्यों सैन्य युद्ध

नहीं कर रहा हैं ? उसने कहा कि- आनाक ने धन-दान से आपके सैन्य को वश किया हैं । राजा ने कहा कि- तुम कैसे हो ? उसने कहा कि- मैं, यह कलभ-पञ्चानन गज और आप, इस प्रकार से तीनों भी परावर्तित नहीं हुए हैं । यह सुनकर चिन्ता सहित राजा युद्ध करने के लिए उपस्थित हुआ । तब चारण ने कहा कि-

हे कुमारपाल ! तुम चिन्ता मत करो, चिन्ता से कुछ-भी नहीं होता हैं । जिसने तुझे राज्य समर्पित किया है, वही चिन्ता करेगा ।

हम थोड़े हैं और शत्रु अधिक हैं, इस प्रकार से कायर चिन्ता करते हैं । मुग्ध व्यक्ति आकाश को देखकर यह विचारता है कि कौन उद्योत को कर सकतें हैं ?

उस चारण के सुशब्द को सुनकर राजा चल पड़ा । उन दोनों में युद्ध हुआ ।

इस बीच अतुल बलवाला चौलुक्य ऐसा कुमारपाल विद्युत् के समान छलांग देकर शत्रु-राजा के हाथी के स्कंध ऊपर चढ़ा और हाथी की ध्वजा को छेदकर तथा शत्रु को भूमि के ऊपर गिराकर और हृदय के ऊपर पैर देकर कहने लगा कि- रे वाचाल ! मेरी बहन के वचन को तुम स्मरण करते हो ? मैं उसकी प्रतिज्ञा को पूर्ण करता हूँ तथा छूरि से तेरी जीभ का छेदन करता हूँ । रे पापिष्ठ ! पिशाच ! आज के बाद तुम हिंसक वाक्य को कहोगे ? यम के समान दुष्प्रेक्षणीय कुमारपाल के ऐसे कहने पर पाद के ऊपर लक्षवालों राजा ने कुछ-भी नहीं कहा । तब बहन ने आकर पति-जीव की भिक्षा माँगी । तब राजा ने उसे कहा कि- रे अविवेकी ! तुम भगिनी-पतिपने से नहीं, किंतु दया-धर्म को अधिक मानकर छोड़े जातें हो ।

दया से तुम जीवित ही छोड़े जातें हो, परंतु तुम अपने देश में गर्दन पर यह जीभ-आकृष्टि का चिह्न धारण करना । चिर समय

तक तुम्हारे देश में यह सिर का आच्छादन वस्त्र हो तथा तुझे आज के बाद बायें और दायें इस प्रकार से जीभ का युगल हो । पश्चात् भी तुम मेरी आज्ञा से स्फुरायमान जीभ करना जिससे पृथ्वी-तल पर बहन की प्रतिज्ञा की पूर्ति प्रख्यात हो ।

बलवंतों के साथ कौन-सा विरोध हो, इस प्रकार के न्याय से आनाक ने इसे स्वीकार किया । उसे काष्ठ के पिंजरे में डालकर तीन दिन तक स्व-सैन्य में रखा । सामन्त लज्जित हुए । श्रीगुर्जराधिपति कुमारपाल ने गंभीरपने से उनको उपालंभ नहीं दिया । पुनः आनाक को राज्य देकर और स्व-आज्ञा को धारण कराकर वह पाटण में आया । पश्चात् सर्वत्र 'मारि' इस प्रकार के अक्षर को कोई भी नहीं बोलता था ।

अब एक बार हेमसूरि के यश को सहन नहीं करनेवाला कोई ब्राह्मण कहने लगा कि-

जूँओं की लाख, शत समूहों से ढँकी, चंचल और देदीप्यमान कंबलवालों, दाँतों की मल मंडली के परिचय से दुर्गंध से रुद्ध मुखवालों, नाक की हड्डी के निरोधन से गिन-गिन होती हुई पाठ-प्रतिष्ठा की स्थितिवालों और सफेद बालों से ढँके हुए सिरवाले, वें यें हेमड-सेवड आ रहे हैं ।

इस प्रकार की निन्दा को सुनकर प्रभु ने कहा कि- हे पंडित ! विशेषण पूर्व में होता है, क्या आपके द्वारा नहीं पढ़ा गया है ? इसलिए आज के बाद 'सेवड़-हेमड़' इस प्रकार से कहें । कुमारपाल ने उस वृत्तांत को जानकर अशस्त्रवध इस प्रकार कर उसकी वृत्ति का छेदन किया । उससे वह अत्यंत दुःख से जीने लगा ।

अब एक बार कृत्रिम देव रूपधारी कवि किसी के द्वारा भी नहीं पहचाना जाया जाता हाथ में लेख-पत्र को ग्रहण कर सभा में

आया । राजा ने पूछा कि- तुम कौन हो ? और कहाँ से आये हो ? उसने कहा कि- हे राजन् ! देवेन्द्र ने मुझे लेख को समर्पण करने के लिए भेजा हैं । लेख को खोलकर राजा ने पढ़ा, जैसे कि-

कल्याणकारी और श्री से युत ऐसे पाटण में राज-गुरु श्रीहेमचन्द्र को आनंद से प्रणाम कर स्वर्ग का इन्द्र विज्ञप्ति करता है कि- हे स्वामी ! चंद्र के चिह्न हिरण में, यम के चिह्न भैंस में, समुद्र के चिह्न जल-चर प्राणियों में तथा विष्णु के चिह्न मत्स्य, वराह और कछुएँ के कुल में जीवों के अभय को करते हुए आपने चन्द्र, यम, समुद्र और विष्णु का सत्कार किया है ।

पूर्व में स्वयं वीर जिनेश्वर भगवान् के भी धर्म के कहते और बुद्धिमंत अभय मंत्री के होने पर भी, जिसे करने के लिए श्रेणिक समर्थ नहीं हुआ था तथा जिसके वचन रूपी अमृत का आस्वाद न कर कुमारपाल राजा ने अक्लेशता से उस जीव-रक्षा को की थी ऐसे वें श्रेष्ठ श्रीहेमचन्द्र गुरु हैं ।

इस प्रकार से धर्म के माहात्म्य से संतुष्ट हुए परमार्हत कुमारपाल ने उसे द्विगुण वृत्ति-दान दिया ।

अब एक बार घेवर का भोजन करते हुए राजा ने पूर्व में कीये हुए मांस-आस्वादन का स्मरण किया । उसके भक्षण का निषेध कर सूरि को पूछा कि हमको घेवर का आहार योग्य है अथवा नहीं ? गुरु ने कहा कि- व्यापारी और ब्राह्मणों को योग्य है, किंतु अभक्ष्य का नियम करनेवाले क्षत्रिय को योग्य नहीं हैं, उससे मांसाहार का अनुस्मरण होता है । यह ऐसा ही है, इस प्रकार से कहकर पूर्व में भक्षण कीये हुए अभक्ष्य के प्रायश्चित्त में बत्तीस दाँतों की संख्या से एक लाईन में घेवर के वर्ण सदृश बत्तीस विहार कराये । इत्यादि अनेक लोकोत्तर चरित्र से अपहृत हृदयवाले और आजन्म मनुष्य स्तुति के

नियम से विस्मृत हुए भी श्रीहेमचन्द्राचार्य ने कहा कि-

कृत-युग से क्या जहाँ तुम नहीं हो और जहाँ तुम हो वहाँ क्या यह कलि-काल हैं ? जो तुम्हारा जन्म कलिकाल में हुआ है, उससे कलिकाल हो, कृत-युग से क्या ?

इत्यादि अनेक वृत्तांत परमार्हत के विस्तार ग्रन्थ से जानें ।

पद्मनाभ जिनराज के शासन में जो प्रथम गणधर होंगे और जिसने कुल से आयी हुई हिंसा को छोड़ी थी, वह कुमारपाल जिन-धर्म वर्धक हैं ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में पञ्चम स्तंभ में अड़सठवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



उन्हत्तरवाँ व्याख्यान

अब क्रोध आदि से कोई जीव हिंसा के वचन कहते हैं, उनके प्रति यह शिक्षा है कि-

हिंसा विषयक वचन भी महा-अनर्थ विधायक हैं । यहाँ माता तथा पुत्र चन्द्रा और सर्ग का दृष्टांत हैं ।

यहाँ श्लोक में कहा गया यह वृत्तांत है-

वर्धमानपुर में सद्गङ्गा कुल-पुत्र था, उसकी पत्नी चन्द्रा थी । उन दोनों का पुत्र सर्ग था । सभी दुःखी थे । चन्द्रा दूसरों के घरों में कार्य करती थी और सर्ग वन से ईंधनों को ले आता था ।

एक बार छींके में पुत्र के लिए आहार रखकर चन्द्रा पानी लाने के लिए गयी । पुत्र वन से आया और अपनी माता को नहीं देखकर भूख-प्यास की पीड़ा से क्रोधित हुआ । इस ओर माता को आयी

देखकर उसने कहा कि- हे पापे ! इतनी देर तक क्या तुम शूलि से भेदी गयी थी ? उसे सुनकर चन्द्रा ने भी कहा कि- छींके से उतारकर तूने भोजन क्यों नहीं किया ? क्या तेरे दोनों हाथ छेदे गये थे ? इस प्रकार से उन दोनों ने वचन प्रत्ययिक कर्म बाँधा । वहाँ से भव में भ्रमण कर सर्ग का जीव तामलिसि में अरुणदेव नामक श्रेष्ठी-पुत्र हुआ । चन्द्रा का जीव पाटलीपुर में जसादित्य की देविणी पुत्री हुई । उसे अरुणदेव को दिया । विवाह के हो जाने पर अरुणदेव अन्य मित्रों के साथ व्यापार के लिए जहाज में चढ़ा । दुष्ट वायु से जहाज भग्न हुआ । पुण्य से लकड़े के पट्टियों को प्राप्त कर मित्र के साथ तट पर आ गया । क्रम से पाटलीपुर में आकर ईश्वर ने कहा कि- हे मित्र ! यहाँ पर तेरा ससुर का स्थान है, वहाँ पर जाय । उसने कहा कि- ऐसे मुझे वहाँ पर जाना योग्य नहीं है । मित्र ने कहा कि- तुम यहाँ रहो, मैं भोजन लाने के लिए नगर के अंदर जाता हूँ । थका अरुण देव-कुल में निद्रित हुआ । कोई चोर उस वन में क्रीड़ा करने के लिए आयी हुई देविणी के दोनों कड़ें और हाथों को छेदकर और ले जाकर भाग गया । उसके शब्द और रोदन को सुनकर राज-सेवक भागें । जीर्ण देवालय में जहाँ अरुण सोया था वहाँ पर भय-भ्रान्त हुआ चोर दोनों कड़ें और तलवार उसके पास में छोड़कर भाग गया । निद्रा रहित हुआ अरुण उसे देखकर देवी ने दिया है, इस प्रकार से आनंदित हुआ । उतने में ही उन सेवकों ने कहा कि- रे, अब तुम कहाँ जाओगे ? इस प्रकार से कहकर उनके मारने पर दोनों कड़ें गिर पड़ें । उन्होंने राजा को ज्ञापन किया । राजा के आदेश से उन्होंने अरुण को शूलि के ऊपर रखा ।

इस मध्य में भोजन हाथ में लेकर मित्र वहाँ पर आया । अरुण को दारुण अवस्था में देखकर-हा ! सुख दुःख में एक वात्सल्यवाले मित्र, इस प्रकार से रोने लगा । तब प्रेक्षक लोगों ने उसे पूछा कि- यह

श्रेष्ठी-पुत्र कौन है ? उसने कहा कि- क्या कहूँ ? अभी यह अघटित कथानक हुआ है । पश्चात् सर्व कहकर वह मित्र स्वभाव से निज हिंसा को करने के लिए उद्यत हुआ । उन्होंने उसे रोका ।

जसादित्य स्व-पुत्री और जमाई को देखकर तथा व्यतिकर को सुनकर अत्यंत दुःखित हुआ । शूल से अरुण को उतारकर उसने राज-सेवकों को उपालंभ दिया । राजा ने कहा कि- हे श्रेष्ठी ! सहसा करनेवाले यहाँ पर मेरा अपराध हैं ।

इसी मध्य में वहाँ पर चार ज्ञानधारी अमरेश्वर मुनि आये । उन्होंने देशना दी कि- अहो ! तुम मोह-निद्रा को छोड़ो, क्योंकि-

वचन-काया से दुःखदायिनी हिंसा तो दूर रहो । मन से भी यह चिंतन की गयी मनुष्यों को नरकों में गिराती हैं ।

वैभारगिरि के समीप उद्यान में भ्रमण करने के लिए आये हुए लोगों को देखकर कोई रंक भिक्षा को प्राप्त नहीं करता हुआ हृदय में सोचने लगा कि- अहो ! भक्ष्य और भोज्य पदार्थों के होने पर भी मुझे कोई भी नहीं दे रहे हैं, उससे मैं इन सब को मार डालूँगा । इस प्रकार के कोप से पर्वत के ऊपर चढ़कर रंक ने उनकी हिंसा के लिए एक बड़ी शिला छोड़ी । वह स्वयं उस शिला के साथ गिरा । सभी लोग भाग गये । शीला के नीचे चूर्ण हुआ वह नरक में गया । तथा आउर-पच्चक्खाण सूत्र में भी कहा गया है कि-

आहार के कारण से मत्स्य सातवीं पृथ्वी में जाते हैं । मन से भी सच्चित्त आहार की प्रार्थना करना उचित नहीं है ।

मत्स्य-तंडुल मत्स्य आदि है और वें गर्भज ही है । संमूर्च्छिम जीवों की असंज्ञीपने से रत्नप्रभा पर्यंत ही गमन होने के कारण से । महा-मत्स्य के मुख के समीप में मत्स्यी तंडुलीय मत्स्य को जन्म देती है । प्रथम संघयण और तंडुल (चावल) के समान प्रमाणवाला

वह मत्स्य दुष्ट मन को नियुक्त कर सातवीं में जाता है, इस प्रकार से वृद्ध कहते हैं । जघन्य से अंगुल के असंख्येय मान देहवाला मत्स्य भी सातवीं नरक में जाता है, इस प्रकार से भगवती अंग में कहा गया है । इसलिए मन, वचन और काया के भेद से तीनों प्रकार से भी हिंसा होती है । इस प्रकार से सुनकर राजा आदि ने उस समय में हुए उन दोनों के दुःख स्वरूप को पूछा । ज्ञानी ने सर्व वृत्तांत कहा । जाति-स्मृति को प्राप्त करनेवाले देविणी और अरुणदेव ने अनशन ग्रहण किया । महा-संवेग को प्राप्त हुईं सर्व सभा ने भी दया-धर्म का स्वीकार किया । वे दोनों स्वर्ग में गये ।

हास्य से, मोह से और दुष्ट बुद्धि से हिंसा वचन न कहें । माता तथा पुत्र सर्ग के अवदात को सुनकर स्व मन को दया सहित करें ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में पंचम स्तंभ में उनहत्तरवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



सित्तेरवाँ व्याख्यान

अब यहाँ पर अन्य भी लेश-मात्र से निरूपण किया जाता है ! यहाँ पर कोई कहते हैं कि-

यह जीव अछेद्य, अभेद्य, नित्य और सनातन है । हे पांडव ! पिंड के नाश में जीव का नाश कैसे हो सकता है ?

पृथ्वी से निष्पन्न हुए घट के विनष्ट हो जाने पर क्या आकाश विनष्ट हुआ है ? निश्चय से घट का आकाश विनष्ट हुआ है इस प्रकार से जो नहीं है, वह तो कल्पित ही है, इस प्रकार से गीता में कहा गया है । इसलिए युद्ध और यज्ञादि में कोई जीव वध नहीं है, इस प्रकार का

दूसरों का वाक्य योग्य नहीं हैं, क्योंकि निश्चय नय की अपेक्षा से जीव नित्य और गति-आगति आदि से रहित हैं, परंतु व्यवहार की अपेक्षा से नाना पिंडात्मक गोत्व, गजत्व, नरत्व, स्त्रीत्व, खटमल, चींटी आदि जातिमान् प्रत्यक्ष से दिखायी देता ही है, इस प्रकार पिंड के विनष्ट होने से जीव विनष्ट हुआ ही है, जैसे कि- दीपक और उसकी कांति के समान, क्योंकि-

तुम मरो इस प्रकार से कहा जाता हुआ भी प्राणी दुःखित होता है । मारे जाते प्राणी को नरक वेदना रूपी फल हो ।

इसलिए सर्व धर्मों में दया की ही श्रेष्ठता सुनी जाती है-

जीव दया में रत चित्तवालों पूर्व में श्रीशान्तिनाथ और श्रीमुनिसुव्रत स्वामी हुए थे । उनकी कीर्ति आज भी पृथ्वी पर विद्यमान हैं ।

इस विषय में यह शान्तिनाथ का प्रबन्ध है-

जंबूद्वीप के पूर्व विदेह में मंगलावती विजय के रत्नसंचयपुर में शान्तिनाथ का जीव वज्रायुध नामक राजा हुआ था । एक दिन भय-भ्रान्त हुआ एक कबूतर राजा के शरण को प्राप्त हुआ । राजा ने कहा कि- तुम मत डरो । उसके पीछे बाज पक्षी आया । उसने कहा कि- मुझ भूखे को यह पक्षी दो । राजा ने कहा कि- तुम श्रेष्ठ अन्न ग्रहण करो । उसने कहा कि- मुझे मांस में रुचि है । राजा ने कहा कि- मैं अपने देह के मांस को देता हूँ । इस प्रकार से कहने पर बाज ने कहा कि- कबूतर के तुल्य दो ! राजा के द्वारा एक तराजू में अपनी जंघा के मांस खंड को रखने पर भी अतिभार हो जाने पर वह स्वयं तुला में बैठा । उसके साहस से तुष्ट हुए दोनों देवों ने कहा कि- इन्द्र ने तुम्हारी प्रशंसा की थी । उसकी परीक्षा के लिए हम दोनों ने इन रूपों को कीये थे । इस प्रकार से कहकर और पुष्प-वृष्टि कर वे दोनों स्वर्ग में चले

गये । राजा चारित्र को ग्रहण कर ग्रैवेयक में इकतीस सागरोपम की आयुवाला देव हुआ ।

अब बीसवें जिन श्रीमुनिसुव्रत स्वामी का यह अवदात हैं-

भृगुकच्छ में जितशत्रु राजा ने अश्वमेध यज्ञ के लिए एक अश्व को होम के लिए सज्ज किया । श्रीमुनिसुव्रत स्वामी ने ज्ञान से जाना । उसके रक्षण के लिए प्रतिष्ठानपुर से एक रात्रि में ही साईंठ योजन का विहार कर आये । वहाँ जन समूह में जिन ने धर्म देशना प्रारंभ की । कानों को ऊँचा कर प्रभु को पुनः पुनः देखता हुआ अश्व जाति-स्मृति की उत्पत्ति से जिन के समीप में जाकर और भूमि के ऊपर सिर को स्थापित कर स्व वाणी से कहने लगा कि- हे विश्व-रक्षक ! दुःख से पीड़ित मेरा रक्षण करो । इस प्रकार से सुनकर राजा ने प्रभु से पूछा कि- यह अश्व क्या विज्ञप्ति कर रहा है ? प्रभु ने कहा कि- हे राजन् ! तुम इसका पूर्व भव सुनो-

पद्मिनीपुर में जिनधर्म श्रेष्ठी था और उसका मित्र सागरदत्त शैव था । पूर्व में उसने रुद्रालय कराया था । एक दिन वह मित्र के साथ साधु के पास गया । जिन-मंदिर करण फल को सुनकर सागरदत्त ने जिन-बिंब और मंदिर कराया, वहाँ उसने सद्दर्शन प्राप्त किया ।

एक बार घी से लिंग पूरण के कीये जाने पर शैवों ने देखने के लिए सागरदत्त को बुलाया । तब वहाँ पर घी के गंध से गमन करती हुई घी की इलियाँ और चींटीयाँ निर्दय शैवों के पद न्यास से हजारों की संख्याओं में मर गयी । यह देखकर सागरदत्त ने कहा कि- आपके पाद न्यासों से करोड़ों की संख्याओं में कीटिकाएँ मर गयी हैं, यह योग्य नहीं हैं । उससे क्रोधित हुए उन्होंने कहा कि- कुल से आये हुए धर्म को छोड़कर नूतन धर्म को धारण करते हुए क्या तुम लज्जित नहीं

हो रहे हो ? उठो और स्व-गृह चले जाओ । यह सुनकर लज्जा से म्लान मुखवाला वह स्व-गृह में आकर इस प्रकार से सोचने लगा कि- हा ! मैंने निज कुल धर्म के त्याग से क्या किया हूँ ? इस प्रकार से आर्तध्यान से मरकर और बहुत भवों में भ्रमण कर हे राजन् ! सागरदत्त का जीव यह अश्व हुआ है । हमारा पूर्व भव का मित्र मुझे देखकर कह रहा है कि- आज यह राजा मुझे यज्ञ में होमेगा, उससे तुम रक्षण करो, रक्षण करो । इसलिए हे राजन् ! यज्ञ का फल नरक ही है । इस प्रकार के प्रभु के वाक्य से प्रतिबोधित हुए राजा ने उस अश्व को अभय कर स्वयं ने नगर से यज्ञ का निवारण किया । स्वामी के समीप में अनशन लेकर वह अश्व सहस्रार में देव हुआ । तभी वहाँ आकर उस देव ने जिन समवसरण के स्थान में विहार का निर्माण कर उसके मध्य में श्रीजिनमूर्ति और उसके आगे घोड़े की मूर्ति स्थापित की । वहाँ से लेकर वह अश्वावबोध तीर्थ हुआ ।

कालान्तर में उसी वन में एक वट की समलिका किसी म्लेच्छ के द्वारा छोड़े हुए बाण से वींधी गयी जिन-मंदिर के समीप में गिर पड़ी । प्रान्त में साधु के द्वारा दीये गये नमस्कार के श्रवण से सिंहल राजा की पुत्री हुई । वहाँ भृगुपुर से आये हुए श्रेष्ठी के छींक के समय में उच्चारण कीये हुए नमस्कार के आद्य पद के श्रवण से जाति-स्मरण ज्ञान को प्राप्त कर तथा माता-पिता को पूछकर भृगुकच्छ में आकर उसने चैत्य-उद्धार आदि किया । वहाँ से लेकर पुनः यह तीर्थ शकुनिका-विहार इस प्रकार के नाम से प्रसिद्ध हुआ । क्रम से इसी तीर्थ में परमार्हत श्रीकुमारपाल के मंत्रीश्वर उदयन के पुत्र जो श्रीशत्रुंजय तीर्थ का उद्धारक, श्रीरैवतगिरि के सुगम पग-डंडी के निर्माण कराने आदि अनेक पुण्यों से प्रकट तथा श्रीवाग्भट्ट के श्रेष्ठ अनुज ऐसे अम्बड़ मंत्रीश्वर ने पिता के पुण्य निमित्त उद्धार किया और

जिसने वहाँ मंगल-दीपक और लुंछन के समय याचकों को बत्तीस लाख स्वर्ण मुद्राएँ दी थी, ऐसा वृद्ध कहते हैं ।

श्रेष्ठ घोड़े और कबूतर के रक्षण से पृथ्वी के ऊपर सुंदर कौर्त्ति के पात्र हुए मुनिसुव्रत स्वामी और शांतिनाथ वे दोनों मुझे अत्यधिक सुख-दायक हो ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में पञ्चम स्तंभ में सितेरवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



इकहत्तरवाँ व्याख्यान

अब हिंसा का कारण प्रमाद ही है, इस प्रकार से यह कहा जाता है कि-

प्राणी मरे अथवा न मरे, निश्चय से प्रमादियों को हिंसा होती है । प्राणों का व्यपरोपण होने पर भी प्रमाद रहित को वह नहीं होती हैं ।

अनुपयोग से जाते हुए प्रमादवन्त साधु को भी जीव-वध के अभाव में हिंसा कही गयी है । तथा अप्रमादी साधु को गमन करते हुए प्राण घात के होने पर भी हिंसा नहीं होती है, यह भाव है । जैसे कि- नदी प्रमुख के उतरने में उपयोग के साथ गमन करते हुए साधु के समान अपक्काय की विराधना तीव्र बन्धवाली नहीं होती है । तथा कोई कोटि पूर्व आयुष्यवाला तिल-पीलक जीव प्रति-दिन बीस तिल-पीलन यंत्रों से तिलों को पीलता है । पूर्ण जीवन से भी वह उतने तिलों को पीलने में समर्थ नहीं होता है, एक बिन्दु में रहे हुए जितने जीवों को साधु नदी के उतरने से हनन करता है । सेवाल से

युक्त जल में तो अनंत जीवों का वध भी होता है । यदि प्रमाद से युक्त मुनि होता है तब, अन्यथा नहीं । तथा भगवती अंग में कहा गया है कि- केवलज्ञानी, से भी गमनागमन और चक्षु के चालन से बहुत जीवों का घात होता है । योग के व्यापार से जो कर्म बद्ध हुआ है, उसे प्रथम समय में बाँधते हैं, द्वितीय समय में अनुभव करते हैं और तृतीय समय में उसकी निर्जरा को प्राप्त करते हैं । अप्रमत्त होने के कारण से वह कर्म-बंध बहुत काल तक नहीं रहता । तथा प्रथम अंग में कहा गया है कि- सहसाकार आदि से किसी मुनि ने अपक्व लवण को ग्रहण किया । गृहस्थ उस लवण को वापिस ग्रहण नहीं करता । तब मुनि उसे जल में मिश्रित कर पीये । जिनाज्ञा के पालन में तत्पर होने से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं होती । गृहस्थों को भी जिन-पूजा आदि में अंदर के दया भाव से हिंसा नहीं होती । पूर्व पूज्यों ने हिंसा तीन प्रकार से कही है- अंदर दया के परिणाम से बाह्य से क्रिया करते हुए को हिंसा, वह स्वरूप से हिंसा होती है । कृषि आदि हेतुता से, वह हेतु हिंसा होती है । अंदर कलुषित परिणाम से निर्दयता, वह अनुबंध से हिंसा होती है ।

राजा यशोधर ने माता के वचन से आटे से कीये हुए मुर्गे की हिंसा से दुरन्त दुःख संतति को प्राप्त किया था ।

बाह्य स्वरूप हिंसा के अभाव में भी अनुबन्ध हिंसा के ध्यान से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि के समान ही नरक की प्राप्ति होती है और वह संबंध यह है-

कांपील्यपुर के स्वामी ब्रह्म राजा को चार मित्र थे- काशी देश का राजा कटक, गजपुर का स्वामी करेणु (कणेरु), कोशल का राजा दीर्घ और चंपा देश का स्वामी पुष्पचूल । ये राजा स्नेह से परस्पर राज्यों में एक-एक वर्ष पर्यंत आनंद सहित रहते थे । एक बार

वे सब राजा ब्रह्म के पास आये । उतने में शिरो-रोग के उत्पन्न होने पर ब्रह्म राजा उन चारों राजाओं के गोद में पुत्र को रखकर-तुम इस राज्य के संप्रदाय को कराना, इस प्रकार से कहकर मरण को प्राप्त हुआ । वैं राजा भी दीर्घ को वहाँ छोड़कर स्व राज्य में गये । पश्चात् दीर्घ चुलनी में आसक्त हुआ । उसके भाव को जानकर धनु मंत्री ने वरधनु नामक स्व-पुत्र को बताया कि- तुम एकांत में इस स्वरूप को चुलनी के पुत्र ब्रह्मदत्त को ज्ञापन करना । उसने ज्ञापन किया । ब्रह्मदत्त कोकिला और कौएँ के संबंध को कराता हुआ अंतःपुर में जाकर और कौएँ को मारकर कहने लगा कि- अन्य भी जो इस प्रकार से करेगा, उसका मैं निग्रह करूँगा । दीर्घ ने चुलनी के प्रति उस वार्त्ता को कहा कि- मैं कौआ हूँ और तुम कोकिला हो । उसने कहा कि- यह बालक हमारें स्वरूप को क्या जानता हैं ?

पुनः एक बार भैंस और हथिनी के युगल को लाकर पूर्व में कहे हुए वाक्य को कहकर भैंस को मार दिया । तब दीर्घ ने सोचा कि- इसने मेरे पाप को जान लिया है और अन्य वचन से मुझे शिक्षित कर रहा है, इस प्रकार से विचार कर उसने रानी के प्रति इस विचार का ज्ञापन किया । तब उसने कहा कि- यह पुत्र मारा जाये, हम दोनों के कुशलत्व में बहुत पुत्र होंगे । उसने भी स्वीकार किया । पश्चात् सामन्त की पुत्री से विवाहित कर ब्रह्मदत्त के शयन के लिए जतु (लाख) गृह कराकर दिया । वरधनु मंत्री ने गुप्त वृत्ति से उस गृह के मध्य से नगर के उद्यान पर्यंत सुरंग खुदवाई । शुभ दिन में जतुगृह में वधू और वरधनु सहित प्रविष्ट हुए कुमार को रात्रि के दो प्रहर व्यतीत हो जाने पर गृह प्रज्वलित हुआ । वैं दोनों सुरंग के द्वारा निकलकर पूर्व द्वार के ऊपर छोड़ें हुए अश्व युगल पर चढ़कर बाहर निकल गये । पृथ्वी के ऊपर भ्रमण करते हुए ब्रह्मदत्त को सार्वभौम (चक्रवर्ती) की

संपदा मिली । वरधनु को सैनापति पद के ऊपर अभिषेक कर दीर्घ के समीप में भेजा । तत्पश्चात् ब्रह्मदत्त आकर निज चक्र से दीर्घ के शरीर को सिर विहीन कर स्व-गृह में आया और अनुक्रम से उसने षट्खंड भरत को साधा ।

पूर्व में अटवी में अकेले भ्रमण करते हुए ब्रह्मदत्त को एक ब्राह्मण ने पानी पिलाया था । चक्रवर्ती पद को प्राप्त उसे जानकर, बहुत सैन्य में वह मुझे कैसे जानेगा ? इस प्रकार सोचकर वह ब्राह्मण जीर्ण छाज, हार और पादुका आदि से असमान रूप कर भ्रमण करने लगा । उसे देखकर राजा ने स्व सेवक से उसे बुलाया और पहचान कर संतुष्ट हुए राजा ने उसे वर दिया । स्त्री के वचन से ब्राह्मण ने गृह-गृह में भोजन और दो दीनारों की याचना की । राजा ने वैसा किया ।

एक बार ब्राह्मण ने कहा कि- तुम्हारा भोजन दिलाओ । चक्रवर्ती ने कहा कि- मेरा भोजन मुझे ही जीर्ण होता है । ब्राह्मण ने कहा कि- तुम कृपण हो, देने में समर्थ नहीं हो । तब राजा ने उसे कुटुंब सहित भोजन कराया । वह मदन से उन्मत्त हुआ और रात्रि में माता आदि में परस्पर पशु के समान प्रवृत्त हुआ । मद के उतर जाने पर वह लज्जित हुआ । यह सर्व ही इसने किया है, इस प्रकार के रोष से उस ब्राह्मण ने एक बार बाँस की गेंदों के प्रयोग से पीपल के पत्रों को छिद्र सहित करते हुए बकरी के पालक को देखकर और उसे थोड़ा धन समर्पित कर चक्रवर्ती के नयनों को खत्म करवाया । उसे पकड़कर मारने लगे । रे, तूने इस प्रकार से क्यों आचरण किया है ? इस प्रकार पूछने पर उसने ब्राह्मण को दिखाया । तब उसे कुटुंब सहित मार दिया । पश्चात् ब्राह्मण की जाति से रुष्ट हुए चक्रवर्ती ने आदेश दिया कि- तुम प्रति-दिन ब्राह्मणों की आँखों को निकालकर ले आओ । बहुत जीवों का वध मानकर मंत्री ने निर्बीज कीये हुए वट

और गुंदों के द्वारा ऊपर के सिरे तक थाली को भरकर राजा के आगे रखा । ये मेरे शत्रुओं की आँखें हैं, इस प्रकार से क्रोध की बुद्धि से राजा हाथ से मसलकर छोड़ता था । इस प्रकार सोलह वर्ष के अंत में रौद्र ध्यान से मरकर सातवीं पृथ्वी में गया ।

वट और गुंदे को मसलने से रौद्र मतिवाला तथा हृदय में ब्राह्मणों के चक्षुओं का विघात धारण करता हुआ (हृदय से ब्राह्मणों के नेत्र-हति को धारण करता हुआ) अनुबंध हिंसा की बुद्धि की आधिक्यता से चरम चक्रवर्ती यहाँ से नरक में गया ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में पञ्चम स्तंभ में इकहत्तरवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



बहत्तरवाँ व्याख्यान

अब कोई हिंसक प्राणियों के घात से धर्म की इच्छा करते हैं, उनके प्रति यह शिक्षा वाक्य है कि-

कोई कहते हैं कि प्राणों का घात करनेवाले प्राणियों को मारना चाहिए । एक हिंसक प्राणी के घात में बहुत प्राणियों का रक्षण होता है ।

केवल हिंसक जीव सर्प, बिल्ली आदि हैं, उनको मारने में दोष नहीं है । वह अयोग्य है । इस प्रकार से विचार कीये जाने पर तो अहिंसक जीव आर्य क्षेत्रों में भी अल्प ही प्राप्त कीये जाते हैं । इसलिए ऐसी निध्वंसता छोड़ देनी चाहिए । तथा कोई कहते हैं कि-

बहुत धान्य अथवा मत्स्यों को मारने से क्या ? उससे सुंदर यह है कि एक हाथी ही मारा जाये जिससे बहुत काल व्यतीत हो ।

जो इस प्रकार से कहते हैं । उनके प्रति यह शिक्षा आर्द्रकुमार दृष्टान्त के द्वारा कही जाती है कि-

मगध के स्वामी श्रेणिक राजा ने पूर्वजों की प्रीति की वृद्धि के लिए आर्द्रक राजा को निज मंत्री के साथ भेंट भेजी । उसने राजा के समीप में भेंट रखी । राजा के कुशल पूछने पर मंत्री प्रश्नों का उत्तर देकर स्थित हुआ । उसके बाद आर्द्रक राजा के पुत्र आर्द्रकुमार ने श्रेणिक के मंत्री से प्रश्न पूछा कि- तुम्हारे राज-पुत्र का क्या नाम है ? मंत्री ने कहा कि- धर्मज्ञ और पाँच सो मंत्रियों के स्वामी क्या आपने अभय नामक पुत्र के बारे में नहीं सुना है ? यह सुनकर कुमार ने भी अभय के लिए मोती आदि भेजें । राजगृह में आकर और क्रम से उन दोनों को वह भेंट देकर मंत्री ने अभय से कहा कि- आर्द्रकुमार आपके साथ मैत्री करने की इच्छा करता है । तब अभय ने सोचा कि- निश्चय से यह व्रत की विराधना कर अनार्य देश में उत्पन्न हुआ है । अभव्य अथवा दूरभव्य मेरे साथ मैत्री की इच्छा नहीं कर सकता, क्योंकि प्रीति से रंगे हुए समानधर्मियों में वह होती है, इसलिए मैं वहाँ अर्हत्-बिंब को भेजता हूँ और उसे देखकर वह प्रतिबोधित होगा, इस प्रकार से विचारकर भेंट के बहाने से पेटी के अंदर रत्न प्रतिमा भेजी । वह भी वहाँ जाकर और रहस्य में उस पेटी को देकर तथा प्रणाम कर चला गया । कुमार ने भी उस पेटी को खोलकर और उसके अंदर स्थित जिन-मूर्ति को देखकर सोचा कि- यह आभरण क्या कंठ में, सिर पर अथवा हृदय पर धारण किया जाता है ? मैंने इसे पूर्व में नहीं देखा है, इस प्रकार से सोचते हुए कुमार ने जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त किया, जैसे कि-

इस भव से तृतीय भव में बन्धुमती का पति मैं सामायिक नामक कौटुंबिक था । प्रिया से युक्त मैंने वैराग्य से दीक्षा ग्रहण की । एक दिन साध्वीयों के मध्य में स्थित स्व-वधू को देखकर पूर्व के अनुराग

से उसके आगे निज अभिप्राय कहा । उसने भी सोचा कि- यह मेरे और अपने व्रत को न तोड़ दे, इस प्रकार के भय से अनशन के द्वारा स्वर्ग में गयी । मैं भी उस दुःख से अनशन से देव सुख को भोग कर यहाँ पर उत्पन्न हुआ हूँ । मेरे गुरु अभय को धन्य हो जिसने मुझे प्रतिबोधित किया है ।

अब अभय के दर्शन के लिए उत्सुक हुए कुमार ने पिता से कहा कि- हे पिताजी ! मैं राजगृह को देखने के लिए जाता हूँ । पिता ने उसे निषेध कर उसकी रक्षा के लिए पाँच सो सुभटों को रखें । वह भी उनको ठगकर और जहाज में चढकर आर्य देश में आया । वह बिंब अभय को विसर्जित कर तुझे भोग्य-फलवाला कर्म है, इस प्रकार की वाणी से देवताओं के द्वारा निषिद्ध किया गया भी प्रत्येकबुद्ध उसने सहसा स्वयं ही व्रत को ग्रहण किया । क्रम से वसन्तपुर के उद्यान के देव-कुल में कायोत्सर्ग से खड़े हुए ।

इस ओर वह बन्धुमती का जीव उस नगरवासी श्रेष्ठी के गृह में श्रीमति नामकी पुत्री हुई । सखियों से युक्त श्रीमति वहाँ पर खेलने के लिए आयी । वहाँ पर बालिकाएँ परस्पर कहने लगी कि- हे सखियों ! तुम वर को वरो । तब वे किन्ही-किन्ही वरों को वरने लगीं । श्रीमति ने कहा कि- मैंने इस मुनि को वरा है । तब यह आकाश-वाणी हुई की- हे कन्या ! तूने सुंदर वर वरा है, इस प्रकार से कहकर दुन्दुभि के गर्जना शब्द पूर्वक देव ने रत्नों की वृष्टि की । गर्जना से भय-भीत हुई वह मुनि के पैरों में लगी । अनुकूल उपसर्ग को जानकर मुनि ने अन्यत्र विहार किया । द्रव्य को ग्रहण करने के लिए वहाँ पर राज-पुरुष आये । उनको निषेध कर देव ने कहा कि- धन को इसके वरण में दिया है । तब उसके पिता ने धन को ग्रहण किया । पश्चात् पिता ने पुत्री से कहा कि- हे वत्से ! भँवर के समान भ्रमण करते उन मुनि को तुम कैसे प्राप्त

करोगी ? प्राप्त करने पर भी बहुत भिक्षुओं के मध्य में यें वें ही है इस प्रकार से तुम कैसे जानोगी ? इसलिए तुम अन्य वर को वरो । श्रीमति ने कहा कि- हे पिताजी ! यह नहीं सुना है कि-

राजा एक बार बोलतें हैं, सज्जन एक बार बोलतें हैं और कन्याये एक बार दी जाती हैं, ये तीनों एक बार-एक बार ही ।

परंतु उनके पाद चिह्न से मैं उनको पहचानती हूँ । वहाँ से आरंभ कर वह श्रेष्ठी मुनियों को दान देने लगा ।

एक दिन बारह वर्ष के अंत में वें मुनि आये । चिह्न को देखने से उनको पहचानकर श्रीमति ने कहा कि- हे स्वामी ! तब थूंकने के समान मेरा त्याग कर चले गये थें । अब कहाँ जाओगे ? दिव्य वाणी का अनुस्मरण करते हुए मुनि ने श्रीमति से विवाह किया । क्रम से पुत्र का जन्म होने पर आर्द्रकुमार ने कहा कि- हे प्रिये ! तुझे पुत्र हुआ है, मैं जा रहा हूँ । उसे सुनकर श्रीमति तकवा लेकर बैठी । उसे देखकर पुत्र ने कहा कि- हे माता ! तुमने यह क्या प्रारंभ किया है ? उसने कहा कि- हे वत्स ! तेरे पिता तपस्या के लिए जाने की इच्छा कर रहे है, अब मुझे तकवा ही शरण है । पुत्र ने कहा कि- हे माता ! मैं मेरे पिता को बाँधकर स्थापित करता हूँ । इस प्रकार से कहकर तकवें के धागे से उसके पैरों को लपेटते हुए इस प्रकार से कहने लगा कि- हे पिताजी ! मैंने आपको बाँध दिया है, अब आप कहाँ जाओगे ? इस प्रकार की उसकी चेष्टा से आर्द्र चित्तवाला हुआ आर्द्रकुमार दोनों पैरों में लपेटे हुए तन्तुओं की संख्या से बारह वर्ष पर्यन्त गृह में रहा । अवधि के पूर्ण हो जाने पर पुनः दीक्षा ग्रहण कर पवन के समान पृथ्वी के ऊपर विहार करने लगा ।

इस ओर निज पिता के द्वारा रक्षा के लिए रखे हुए सुभट, कुमार की अन्वेषणा करते हुए चोरी के द्वारा जीवन जीते हुए मुनि के

द्वारा देखे गये । मुनि ने उनको धर्म सुनाया । उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की । उनके साथ वीर को वंदन करने के लिए जाते हुए उस मुनि को अंतराल में गोशाला मिला और वह कहने लगा कि- वृथा ही इस तप से तपते हो । यहाँ पर शुभाशुभ का हेतु नियति ही प्रमाण है । क्योंकि-

प्राणी जिसे सैकड़ों उपक्रमों से साधने के लिए समर्थ नहीं होता है, नियति के बल से वह लीला से होता हुआ दिखायी देता है ।

मुनि ने कहा कि-यह योग्य नहीं है । दोनों से कार्य की सिद्धि होती है । जैसे कि-

थाली में रहा हुआ भोजन, वह कर्म से प्राप्त हुआ है । वह जब तक हाथ उद्यमवन्त न हो तब तक मुख में प्रवेश नहीं करता ।

इत्यादि से उसे वचन रहित किया । अब कुमार-ऋषि हस्ति तापस आश्रम में आया । वहाँ तापस नित्य ही हाथी को मारकर मांस खाते थे । उनका यह मत था कि- अग्नि, वनस्पति के कण आदि बहुत जीवों के हनन में महा-पाप हैं, इसलिए एक महा-जीव के वध में बहुत जीवों का घात नहीं है । इस प्रकार से मानकर तापसों ने एक हाथी को बाँधा । मुनि उसके संमुख आये । साधु को देखकर वह हाथी लघु-कर्मपने से आलान स्तंभ को उखाड़कर दोनों पैरों को बार-बार स्पर्श करते हुए प्रणाम करने लगा । उस अतिशय को देखकर प्रतिबोधित हुए तापसों ने जिनेश्वर के वचन को स्वीकार किया । पश्चात् श्रीवीर को नमस्कार कर उन्होंने साधु व्रतों का स्वीकार किया । समवसरण में अभय सहित श्रेणिक ने आर्द्रकुमार-ऋषि से हस्ति-मोचन का वृत्तांत पूछा ।

मुनि ने कहा कि- हे महाराज ! हाथी का मोचन आश्चर्यकारी नहीं है । तेन्तु पाशों से मोचन मुझे दुष्कर लगता है । उसके बारे में

पूछने पर मुनि ने तकवें के तंतु का वृत्तांत कहकर और अभय की प्रशंसा कर धर्माशिष दी । आलोचना और प्रतिक्रमण कर मुनि ने केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त किया ।

जिन्होंने हाथी आदि की हिंसा को छोड़कर सर्व मुनिराज के वाक्य को अंगीकार किया था, उनके चरित्र को सुनकर पंडित सतत दया में पक्ष करें ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में पञ्चम स्तंभ में बहत्तरवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



तिहत्तरवाँ व्याख्यान

अब मुनियों को और गृहस्थों को हिंसा के स्थानों का वर्जन करना चाहिए, इस प्रकार से यह कहा जाता है कि-

मुख के रन्ध्र को ढँके बिना कभी-भी पढ़ना नहीं चाहिए । किसी के आगे भावी कालों का निमित्त नहीं कहना चाहिए । सुबुद्धिमंतों के द्वारा रात्रि में ऊँच स्वरों से पाठ का वर्जन करना चाहिए । इस प्रकार से अनेक हिंसा के स्थानों को जानकर पंडित छोड़ दें ।

मुख के अंतराल को जो वस्त्र के आँचल आदि से ढँके बिना पठन आदि करता है, उसे वायु जीवों की हिंसा होती है । जैसे कि-सांख्यों के महाभारत में बीट इस प्रकार से प्रसिद्ध दारवी मुख-वस्त्रिका मुख के निश्वास का निरोधन करनेवाली प्राणियों के दया निमित्त होती है । जो वें इस प्रकार से कहते हैं कि-

हे ब्रह्मन् ! नाक आदि से अनुगमन करनेवाले एक श्वास से तथा अणु मात्र अक्षर के कहने पर सैकड़ों जीवों का हनन होता है ।

इस प्रकार से परशासन में हैं ।

तथा पूज्यों के द्वारा कहा गया है कि- श्वासोच्छ्वास के पुद्गल चार स्पर्शवाले होते हैं । आठ स्पर्शवाले वायुकाय जीवों का हनन करते हैं ।

तथा भविष्य काल के ज्ञान को प्रकाशित नहीं करना चाहिए, जैसे कि-

ज्योतिष, निमित्त, अक्षर, कौतुक, आदेश, भूति कर्मों के द्वारा तथा इनके करण, अनुमोदन और प्रेरणा से साधु को तप का क्षय होता है ।

इस विषय में यह दृष्टांत है-

क्षितिप्रतिष्ठ में एक क्षत्रियाणि का पति विदेश में गया हुआ था । उसके घर में एक मुनि गोचरी के लिए आये । तब उसने पूछा कि- मेरा पति कब आयेगा ? तब उस मुनि ने निमित्त से कहा कि- पाँच दिनों के बाद । तत्पश्चात् वह आया और यह बात सत्य हुई । उस अवसर पर मुनि भिक्षा के लिए आये । स्त्री और मुनि ने भी स्मित किया । उसे देखकर शंका से युक्त हुए क्षत्रिय ने हाथ में तलवार लेकर हास्य का कारण पूछा । मुनि ने यथा-स्थित कहा । तब उस क्षत्रिय ने कहा कि- कहो, यह घोड़ी किसे जन्म देगी ? मुनि ने कहा कि- किशोरी को ! पश्चात् तलवार से घोड़ी के उदर को विदारण करने पर वह शंका रहित हुआ । उसे देखकर मुनि ने अनशन किया । क्षत्रिय ने क्षमा माँगी । साधु स्वर्ग-भागी हुए ।

तथा रात्रि में बड़े स्वर से पाठ का त्याग करना चाहिए । यदि कोई कार्य हो तो मन्द स्वर आदि से ही बोले । खुंकार और हुंकार आदि भी न करे । रात्रि के समय उसके करने में निद्रा रहित हुए छिपकली आदि हिंसक जीव मक्खी आदि के आरंभ को और पड़ोसी

स्व-स्व आरंभ में प्रवर्तन करते हैं। रसोईयाँ, तिल को पीलनेवाला, जार, चोर, किसान, कसाई, रहट यंत्र का वाहक, धोबी, मच्छीमार आदि की भी परंपरा से कुव्यापार की प्रवृत्ति होती है। जैसे कि श्रीवीर ने जयन्ती के प्रश्नोत्तर में कहा कि- अधर्मी पुरुषों का सोना ही श्रेष्ठ है और धार्मिक पुरुषों का जागना श्रेष्ठ है। इस विषय में वृद्धों से यह प्रबंध सुना जाता है कि-

कोई साधु रात्रि के समय में स्व-शिष्यों को पूर्व सूत्र की वाचना देते थे। एक बार गुरु चूर्ण-औषधि से संमूर्च्छिम मत्स्यादि की उत्पत्ति के बारे में कह रहे थे। तब एक मच्छीमार चोर ने उसे सुना। चूर्ण प्रयोग को मन में धारण कर और गृह जाकर उसे किया। बहुत मछलियों की उत्पत्ति हुई। आनंदित होते हुए नित्य उसे कर वह कुटुंब का पोषण करने लगा। इस प्रकार से बहुत काल गया।

एक बार वह विद्या-चोर गुरु को नमस्कार कर कहने लगा कि- हे स्वामी ! मैं आपकी कृपा से कुटुंब सहित सुख से जी रहा हूँ और अक्लेश से दुर्भिक्ष आदि में अनेकों का उपकार भी करता हूँ। मुनि ने कहा- कैसे ? उसने कहा कि- उस रात्रि में आपने शिष्यों को चूर्ण से जीवोत्पत्ति कही थी, उससे मैं जी रहा हूँ। इस प्रकार से सुनकर स्व-प्रमाद दोष की निन्दा कर और परंपरा से वृद्धि होते हुए पाप का निश्चय कर उस पास की वृद्धि को नष्ट करने के लिए गुरु ने उसे कहा कि- मैं तुझे अन्य श्रेष्ठ उपाय कहता हूँ, तुम सुनो ! अमुक-अमुक द्रव्यों को मिलाकर एकान्त कमरे में बाह्य से दोनों कपाटों को दृढ़ करवाकर मध्य में स्थित होकर जल आदि में डाले गये चूर्ण से स्वर्ण वर्णवाली मछलियाँ होंगी। उनको खाते हुए तेरा भी शरीर पुष्टिमंत होगा। उसे सुनकर और गृह जाकर गुरु के द्वारा आदेश दिये हुए उस चूर्ण से सिंह उत्पन्न हुआ। उसके द्वारा शीघ्र से भक्षण किया

गया वह सिंह अदृश्य हो गया और वह पापात्मा नरक में गया । उस पाप की आलोचना कर मुनि स्वर्ग में गये । इसलिए रात्रि में बाढ़ स्वर से पठन-पाठन नहीं करना चाहिए ।

यहाँ पर अन्य भी उदाहरण है, जैसे कि-

कोई श्रावक रात्रि के चरम प्रहर में आवश्यक को पढ़ता हुआ पड़ौसी स्त्री के द्वारा सुना गया । उसके द्वारा अल्प रात्रि को मानकर धान्यों को पीसने के समय में गालक [गेहुं पीसने की चक्की] के अंदर स्थित सर्प का मर्दन किया गया । उस आटे की रोटीयों को खानेवाले स्वजन मरण को प्राप्त हुए । ज्ञानी से उसकी शुद्धि को जानकर और उस पाप की आलोचना कर श्रेष्ठी स्वर्ग में गया ।

हिंसा के प्रकार बहुत हैं । जिनेन्द्र शास्त्र से अथवा निज बुद्धि से जानकर जो श्रेष्ठ पंडित त्याग करते हैं, वे शिव नामक पवित्र लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में पञ्चम स्तंभ में तिहत्तरवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



चौहत्तरवाँ व्याख्यान

अब हिंसा और अहिंसा के फल को प्रदर्शित किया जाता है-
अहो ! जैसे कि सूर और चन्द्र के समान ही हिंसा प्राणी को निरन्तर दुःख और अहिंसा परम सुख को देती है ।

यहाँ श्लोक में कहा हुआ यह निदर्शन है-

जयपुर में शत्रुञ्जय राजा के सूर और चन्द्र नामक दो पुत्र थे ।
पिता के द्वारा ज्येष्ठ को युवराज पद के दिये जाने पर अपमान से चन्द्र

नगर से निकलकर विदेश में पर्यटन करते हुए एक बार गुरु के मुख से इस वाक्य को सुना-

प्रायः कर पुण्य-देही गृहस्थों के द्वारा अपराध सहित भी त्रस नहीं मारे जाये । पुनः उन निरपराधियों की तो बात ही क्या की जाये?

मछलियों के वध आरंभ में मच्छीमार के निज अंगुलि का छेदन हुआ और शस्त्र से हिंसा को छोड़कर वह ऋद्धि का पात्र हुआ ।

पृथ्वीपुर में एक मच्छीमार था । नहीं चाहते हुए भी उसे स्वजनों ने मछलियों के बंधन के लिए जाल आदि समर्पित कर किसी भी प्रकार से भेजा । वह मछलियों को लेकर आया । स्वजनों ने तीक्ष्ण शस्त्र दिया । उस शस्त्र से मछलियों का वध करते हुए स्व अंगुलि का छेदन हुआ । उस वेदना से व्यास हुए उसने सोचा कि- हिंसा प्रिय जीवों को धिक्कार हो, क्योंकि-तुम मरो, इस प्रकार से कहा जाता हुआ जीव भी दुःखी होता है ।

इस ओर नगर से स्थंडिल भूमि में जाते हुए गुरु और शिष्य ने शस्त्र हाथ में लीये मच्छीमार को देखा । तब शिष्य ने गुरु से पूछा कि- हे भगवन् ! ऐसे जीव कैसे-भी संसार सागर को नही तिरेंगे । गुरु ने कहा कि- हे वत्स ! मौनीन्द्र धर्म में कोई एकान्त से कदाग्रह नही हैं, क्योंकि- अनेक भवों से संचित हुए कर्मों को भाव और अध्यात्म के ज्ञान से तथा शुभ परिणाम से क्षण भर में विनष्ट करते हैं । जो कि कहा गया है कि-

जिस-जिस समय जीव जिस-जिस भाव से युक्त होता है, वह उस-उस समय में शुभ-अशुभ कर्म को बाँधता है ।

इस प्रकार से शिष्य को उत्तर रहित कर गुरु ने ऊँचे स्वर से एक पद कहा कि- जीव-वध महा-पाप है, इस प्रकार से कहकर गुरु आगे चले गये । मच्छीमार ने उस पद के अनुसार से चिन्तन किया

कि- मैं आज के बाद कोई-भी जीव-वध नहीं करूँगा । इत्यादि ध्यान में तत्पर उसने जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त किया । हीन कुल में उत्पत्ति को पूर्व में विराधित कीये हुए चारित्र का फल मानकर दीक्षा ग्रहण करने के लिए उत्सुक हुआ पश्चाताप के द्वारा क्षपक श्रेणि में शुक्ल ध्यान से केवलज्ञान को प्राप्त किया । आसन्न में रहे देवों ने महोत्सव किया । उनके शिष्य ने देव दुन्दुभि के शब्द को सुना । गुरु ने कहा कि- हे वत्स ! तुम देखो, उस मच्छीमार को महा-ज्ञान उत्पन्न हुआ है । तुम वहाँ जाकर मेरे भवों को पूछो । शंका और विस्मय सहित वह शिष्य भी वहाँ जाकर स्थित हुआ । तब ज्ञानी ने कहा कि- तुम क्या विचार कर रहे हो ? वह मैं ही हूँ । द्रव्य और भाव से हिंसा के त्याग से मैंने इसे प्राप्त किया है । तुम्हारे गुरु के भवों को उस वृक्ष के नीचे स्थित उन पत्रों के तुल्य गणना से जानो । तुम इसी भव में सिद्धि को प्राप्त करोगे । उसे सुनकर शिष्य ने जाकर गुरु से कहा । गुरु उसे सुनकर नाचते हुए हर्षित होने लगे कि- अहो ! परिमित भवों में मेरी सिद्धि हैं । ज्ञानी का वाक्य धन्य और सत्य है, इस प्रकार से कहकर आगे विहार किया ।

हिंसा का त्याग कर उस मच्छीमार ने भी क्षण भर में चरम ज्ञान को धारण किया । इसलिए व्रतों में प्रधान अहिंसा व्रत है ।

इत्यादि गुरु के द्वारा कही हुई देशना को सुनकर चन्द्र ने अपराध सहित जीवों के वध का निषेध किया । राजादि के आदेश से भंग नहीं, इस प्रकार से व्रत को लेकर वह उस नगर के राजा की सेवा करने लगा ।

एक बार वन में राजा के सुभटों ने चोर को घेरा । तब राजा ने कहा कि- हे शूर ! तुम इस दुर्धर चोर को मार दो । युद्ध के बिना प्राणी हनन के नियम को चन्द्र के द्वारा कहने पर संतुष्ट हुए राजा ने उसे स्व

अंग-रक्षक किया । क्रम से उसे देश का स्वामी किया ।

अब एक दिन चन्द्र का अग्रज सूर युवराज के पद से अतृप्त हुआ रात्रि के समय पराङ्मुख से सोये पिता को शस्त्र से मारा । रानी ने राजा का घात कर पलायन करते उसे देखा । यह राजा का घातक जा रहा है, इस प्रकार से कोलाहल हुआ । स्व-पुत्र को जानकर राजा इस प्रकार से सोचने लगा कि-

चन्दन के समान एक पुत्र सौरभ के लिए होते है और बालक के समान अन्य बालक मूल के उच्छेदन के लिए होते हैं ।

इस प्रकार से विचार कर सूर को देश से निर्वासित कर राजा ने बुलाये हुए चन्द्र को राज्य के ऊपर निवेशित किया । घात की पीड़ा से सूर पुत्र पर रौद्र ध्यान से युक्त हुआ राजा मरकर चीता हुआ । भ्रमण करता हुआ सूर उस वन में आया । पूर्व के वैर से चीते ने उसे मार दिया । वह भिल्ल हुआ । उसी वन में शिकार करते हुए उसे पुनः हाथी ने मारा । उस भिल्ल के बंधु ने उस चीते को भी मार दिया । दोनों भी सूअर हुए । परस्पर वैर से युक्त उन दोनों को भिल्ल ने मार डालें । वे दोनों हाथी हुए । वे दोनों चन्द्र राजा के आगे भी युद्ध करने लगे । एक दिन देशना के अंत में राजा के द्वारा पूछने पर सुदर्शन केवली ने उन दोनों के वैर का कारण कहा । उसे सुनकर राजा ने सोचा कि- अहो ! कर्म रूपी नटों के द्वारा विचित्र भव-नाटक कराया गया है । रंक राजापने को, राजा रंकपने को, अठारह सागरोपम की आयुवाला देव क्षण में लंबे कानवाले कुत्तापने को प्राप्त करता है और कुत्ता देवपने को, क्योंकि-

प्राणी जो अत्यंत मोह रूपी निद्रा का आश्रय लेते हैं और जो संसार रूपी कूँ के गड्ढे में गिरते हैं तथा सद्गति के मार्ग को नहीं देखते हैं, वहाँ पर मिथ्यात्व रूपी अंधकार ही हेतु हैं ।

इत्यादि वैराग्य से स्व-पुत्र को राज्य के ऊपर स्थापित कर और प्रव्रज्या लेकर एकावतारी देव हुआ । वें दोनों हाथी पहली नरक में गये ।

जिसने गृहस्थ भाव में देश से व्रत को लिया था, उसने उस आद्य व्रत को उत्कृष्ट से लिया । सर्व जीवों में दया-पर ऐसे इस चन्द्र ने देवत्व को प्राप्त किया ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में पञ्चम स्तंभ में चौहत्तरवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।

यह पञ्चम स्तंभ समाप्त हुआ ।



छठा स्तंभ

पचहत्तरवाँ व्याख्यान

अब द्वितीय व्रत को कहते हैं-

सूक्ष्म और बादर के भेदों से मृषावाद दो प्रकार से कहा गया है । तीव्र संकल्प से उत्पन्न स्थूल है और हास्यादि से उत्पन्न सूक्ष्म है ।

वहाँ श्रावक को सूक्ष्म मृषावाद में यतना है और लोक में भी अकीर्ति आदि का हेतु होने से स्थूल तो त्याज्य ही है । वह बादर कन्यालीक आदि है, उसे कहते हैं-

कहीं पर भी असत्य नहीं बोलना चाहिए, यह द्वितीय अणुव्रत है । विशेष से भूमि, कन्या, गो, धन-स्थापन और साक्षी में सर्वथा नहीं बोलना चाहिए ।

कन्या, गाय, भूमि, न्यास का अपहरण तथा कूट-साक्ष्य, ये पाँचों ही स्थूल असत्य कहे गए हैं ।

वहाँ द्वेष आदि से अविष कन्या को विष कन्या, सुशीला को दुःशीला अथवा विपरीत से कहनेवाले को कन्यालीक दोष लगता है । उपलक्षण से यह सर्व भी द्विपद के झूठ का भी हैं । इस प्रकार से ही अल्प दूधवाली गाय को बहुत दूधवाली कहनेवाले को गाय संबंधी झूठ का दोष लगता है । यह भी सर्व चतुष्पदों का उपलक्षण-वाला हैं । दूसरों के स्वाधीन भूमि को अपनी, ऊपर क्षेत्र को अनूपर कहनेवाले को भूमि-अलीक दोष लगता है । यह सर्व भी अपद विषय की उपलक्षणवाली है ।

यहाँ पर कहते हैं कि- द्विपद, चतुष्पद और अपद का ग्रहण किस कारण से नहीं किया है ? सत्य है, कहते हैं कि- लोक में भी कन्यादि झूठों की अति गर्हा, भोगान्तराय, द्वेष वृद्धि आदि दोष स्पष्ट ही है । तथा स्थापित किया जाता है, अथवा रक्षण के लिए अन्य को समर्पित किया जाता है, वह न्यास है और वह स्वर्ण आदि है । उसका अपहरण महा-पाप हैं । उसका अदत्तादानत्व होने पर भी वचन की ही प्राधान्यता से मृषावादत्व है । तथा लभ्य-देय के विषय में साक्षी कीये हुए का लाँच, मत्सर आदि से कूट-साक्ष्य के प्रदान से कूट-साक्षित्व दोनों भवों में अनर्थ का हेतु है, जैसे कि-वसु राजा के समान अज शब्दार्थ के साक्ष्य में । इस विषय में यह प्रबंध है-

शुक्तिमति में क्षीरकदंबक उपाध्याय के समीप में उसका पुत्र पर्वत, राज-पुत्र वसु और ब्राह्मण-पुत्र नारद, ये तीनों भी पठन करते थे । एक दिन महल के ऊपर वे पढ़ते हुए थक कर सो गये । तब आकाश में जाते हुए दो चारण-ऋषि परस्पर कहने लगे कि- इन तीनों छात्रों के मध्य में एक स्वर्गगामी है और दो नरकगामी है । यह

सुनकर पाठक ने उनकी परीक्षा के लिए एक-एक आटे के मुर्गे को देकर कहा कि- हे वत्स ! जहाँ कोई-भी न देखता हो, वहाँ इनका वध करना । वसु और पर्वत शून्य स्थान में मारकर आये । नारद एकांत में जाकर सोचने लगा कि- यह गुरु का वाक्य है- जहाँ कोई-भी न देख रहा हो, वहाँ इसे मारना । तीनों जगत् में वह स्थान नहीं है । सर्वज्ञ और सिद्धों को क्या अगम्य है ? ज्ञानियों को अगोचर वस्तु ही नहीं है । परंतु यह मुझे देख रहा है और मैं इसे देख रहा हूँ । मेरी प्रज्ञा की परीक्षा करने के लिए गुरु ने ऐसा आदेश दिया है । इस प्रकार से सोचकर उसे अक्षत ही लेकर गया । अध्यापक ने कहा कि- तूने मेरा कहा क्यों नहीं किया ? नारद ने कहा कि- हे भगवन् ! हृदय में विचार करें । आपके द्वारा आदेश दिये हुए को सत्य साबित किया है, इस प्रकार से कहकर उसने स्व-अभिप्राय का ज्ञापन किया । उससे गुरु ने सदयपने से उसे स्वर्गगामी जाना । अन्य दो को नरकगामी जानकर गुरु ने सोचा कि-

उसे पढ़ाने से भी क्या जिससे कि आत्मा नरक में जाय, इस प्रकार के वैराग्य से उपाध्याय ने गुरु के समीप में प्रव्रज्या ग्रहण की ।

क्रम से लोगों ने पर्वत को उसके पद पर स्थापित किया । अभिचन्द्र राजा के पद पर वसु राजा हुआ ।

एक बार वन में एक शिकारी ने मृग के ऊपर बाण छोड़ा, वह स्खलित हुआ । उसने आकर के हाथ के स्पर्श से स्फटिक शिला का निश्चय किया । पश्चात् उसने राजा के आगे कहा । राजा ने उसे मँगाकर रहस्य में आप्त जनों से स्व आसन के नीचे स्थापित करायी । आकाश में स्थित उस आसन को देखकर लोग कहने लगे कि- यह सत्य की महिमा है, इस प्रकार से प्रसिद्धि हुई ।

एक बार नारद पर्वत से मिलने के लिए आया । तब वह अर्जों

से यज्ञ करना चाहिए, अर्जों से यज्ञ करना चाहिए, इस अज पद का अर्थ बकरो से यज्ञ करना चाहिए, इस प्रकार से छात्रों के आगे कह रहा था। उसे सुनकर नारद ने निषेध किया कि-

तीन वर्षवाले अनाज जो नहीं उगते हैं, वें अज हैं, इस प्रकार से गुरु ने हमको व्याख्या समझाई थी, हे बान्धव ! क्या तुम स्मरण नहीं करते हो ?

तब गर्व से पर्वत ने कहा कि- जो असत्य कहता हो उसकी जीभ छेदी जाय इस प्रकार से प्रतिज्ञा कर कहा कि- यहाँ पर वसु साक्षी है । पर्वत की माता वसु राजा के आगे जाकर वाद वृत्तांत के बारे में कहा । पुत्र-दान दो, इस प्रकार से याचना की । राजा ने कहा कि- हे माता ! जाओ, मैं तुम्हारे पुत्र का पक्ष करूँगा । दूसरे दिन वें दोनों परीवार सहित वसु के पास आये । राजा के द्वारा पर्वत के पक्ष में कूट साक्ष्य दी गयी । उससे देवता ने शिला के सिंहासन को चूर्ण किया। वसु को भू-पीठ के ऊपर गिराया और वह मरकर नरक में गया ।

सत्य से देवों ने नारद की स्तुति की और क्रम से वह स्वर्ग में गया । यह सुनकर पंडितों के द्वारा नित्य ही सत्य व्रत का आदर करना चाहिए ।

देवता ने वसु राजा के पुत्रों को भी मार दीये । नगर के लोगों ने धिक्कार कर पर्वतक को निर्वासित किया । उसे महाकाल असुर ने ग्रहण किया । उसका यह संबंध है-

अयोधन राजा के द्वारा निज पुत्री के स्वयंवर का प्रारंभ कीये जाने पर माता ने गुप्त-रीति से कन्या से कहा कि- तुम मेरे भाई के पुत्र मधुपिंग को ही वरना । सर्व राजाओं में मुख्य और रहस्य में स्थित सगर ने स्व-दूती के मुख से उसे जानकर कन्या को वरने का उपाय स्व-पुरोहित से पूछा । शीघ्र कवि और कपट में चतुर उसने भी नूतन

राजलक्षण संहिता कर सभा के अंदर वैसे व्याख्या की जिससे कि सगर लक्षणों से प्रकृष्ट हो और मधुपिंग अपकृष्ट । उससे सर्व राजा आदि से हँसा जाता हुआ मधुपिंग लज्जा से बाहर निकला । सगर कन्या के द्वारा वरा गया । क्रोध से तप कर मधुपिंग महाकाल असुर हुआ । तृतीय पिष्पलाद भी उन दोनों से मिला । उसका वृत्तांत इस प्रकार से हैं-

लोगों में प्रसिद्ध सुलसा और सुभद्रा नामक दो परिव्राजिकाएँ थी । उन दोनों में सुलसा विशेषतया विदुषी थी । जो मुझे वाद में जीतेगा, मैं उसका शिष्य बनूँगा, इस प्रकार से पटह से उद्घोषणा करनेवाले याज्ञवल्क्य परिव्राजक को वाद में जीतकर स्व शिष्य किया । क्रम से उसके अति परिचय से सुलसा को गर्भ हुआ । उसे जानकर सुभद्रा ने निष्ठुरता से उसे उपालंभ दिया और रहस्य में रखा । जन्म को प्राप्त हुए पुत्र को पिष्पल के नीचे छोड़कर वें दोनों चले गये । प्रातः सुभद्रा ने वहाँ पुत्र को देखा । भूखे उसने स्वयं ही मुख में गिरे हुए पिष्पल फल का आस्वादन किया था, इसलिए उसका पिष्पलाद नाम कर सुभद्रा ने उसे बड़ाकर पढ़ाया । सुभद्रा के पास उसने स्व-जन्म का वृत्तांत सुना । माता-पिता के ऊपर प्रद्वेष को वहन करते हुए उस अनार्य ने उनके वध के लिए अनार्य वेद कीये । उसने उनमें इस प्रकार से प्ररूपणा की कि-अश्व आदि शान्ति के लिए और स्वर्ग की प्राप्ति के लिए राजा पशु, घोड़े, हाथी, मनुष्य आदि से यज्ञ करें । तब महाकाल ने सोचा कि- इन दोनों के वचन से राजादि यज्ञ में हिंसा करेंगे तो मरकर नरक में जायेंगे और इस प्रकार सगर आदि राजाओं से मेरा वैर निर्यातन होगा । उसने कहा कि- तुम दोनों यज्ञ में हिंसा का प्रवर्तन कराओ, मैं सर्वत्र सान्निध्य करूँगा । असुर ने सर्वत्र लोगों को रोगी कीये । जहाँ-जहाँ वें दोनों हिंसात्मक यज्ञ कराते, वहाँ-वहाँ वह असुर रोगों का उपशमन करता और यज्ञ में मारे हुए पशु आदि

को विमान में स्थित और देव रूप में हुए उन्हें वह साक्षात् दिखाता था। तत्पश्चात् सभी अत्यंत आदरवाले हो वैसे कीये। इस प्रकार से उन निर्दयीयों ने धीरे-धीरे से मनुष्य हिंसा का भी प्रवर्तन किया। माया से मोहित कर महाकाल ने यज्ञ में पत्नी सहित सगर को होमा। पिष्पलाद ने स्व माता-पिता का यज्ञ किया। इस प्रकार से अनार्य वेद प्रवृत्त हुए। भरत चक्रवर्ती ने तो माणवक निधि से उद्धृत कर प्रति-दिन भोजन कराये जाते श्रावकों के पठन के निमित्त श्रीतीर्थंकर के स्तुति रूप और श्रावक धर्म के प्रतिपादक आर्य वेदों को कीये थें।

वसु राजा, ब्राह्मण और पिष्पलाद आदि असत्य वाक्य से अधम गति में गये। हितेच्छु उनका निदर्शन हृदय में रखकर असत्य वचन को छोड़ दें।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में पचहत्तरवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।



छिहत्तरवाँ व्याख्यान

अब असत्य के भेद कहे जाते हैं-

आद्य अभूतोद्भावन, द्वितीय भूत-निहव, तृतीय अर्थान्तर और चतुर्थ गर्हा है। इन चारों प्रकार के असत्य को नरकादि दुःखों का हेतु जानकर असत्य के त्याग रूप व्रत को ग्रहण करना चाहिए जिससे कि सौख्यादि को प्राप्त कर सकें।

अभूतोद्भावन जैसे कि- आत्मा सर्व व्यापी है, धान्य अथवा चावल मात्र है। भूत-निहव जैसे कि- आत्मा नहीं है, पुण्य नहीं है और पाप नहीं है, इत्यादि। अर्थान्तर जैसे कि - गाय को अश्व

कहनेवाले को । चतुर्थ गर्हा नामक है, वह तीन प्रकार से है । एक सावध व्यापार प्रवर्त्तन, जैसे कि - तुम खेत को खेड़ो इत्यादि । द्वितीय अप्रियकारण जैसे कि- काणे को काणा कहनेवाले को । तृतीय आक्रोश रूप जैसे कि- अरे निर्मुख ! इत्यादि असत्य नरकादि दुःखों का निमित्त है । जैसे कि योगशास्त्र में-

मृषावाद के प्रसाद से प्राणी निगोद में, तिर्यच में तथा नरक में उत्पन्न होते हैं । पर-स्त्री गमन करनेवाले की और चौरों की तो कोई प्रतिक्रिया है । असत्यवादी पुरुष का प्रतिकार नहीं है ।

इसलिए उस व्रत को ग्रहण करना चाहिए जिससे कि सुख-संपत्ति हो ! इस विषय में श्रीकान्त श्रेष्ठी का उदाहरण है-

राजगृह में श्रीकान्त श्रेष्ठी दिन में व्यापार और रात में चोरी करता था । एक बार बारह व्रत और चौदह नियमधारी जिनदास श्रावक आया । श्रीकान्त ने भोजन के लिए निमंत्रण किया । उसने कहा कि- जिसकी वृत्ति मैं नहीं जानता हूँ, उसके घर पर मैं भोजन नहीं करता । उसने कहा कि- मैं शुद्ध व्यापार करता हूँ । जिनदास ने कहा कि- तुम्हारे गृह में व्यय अनुसारी व्यापार नहीं है, उससे तुम सत्य कहो । पर गुह्य को अन्यत्र नहीं कहेगा, इस प्रकार से निर्धारण कर उसने निज चोरी की वार्त्ता उसे कही । तत्पश्चात् जिनदास ने कहा कि- मैं तुम्हारे घर में भोजन नहीं करूँगा, मुझे भी तुम्हारे आहार की अनुयायिनी बुद्धि होगी । उसने कहा कि- चोरी के बिना जो तुम कहोगे, मैं उस धर्म को करूँगा । जिनदास ने असत्य व्रत के फल को कहा कि-

एक ओर असत्य से उत्पन्न हुआ पाप और अन्य ओर संपूर्ण पाप, उन दोनों को तराजू में धारण करने पर पहला ही अधिक होगा ।

शिखाधारी, मुंड, जटाधारी, नग्न और वस्त्रधारी जो तप को करता है, यदि वह भी झूठ कहता है तो चांडाल से भी निन्दनीय होता है ।

असत्य अविश्वास का मूल कारण हैं और विश्वास का स्थान, विपत्तियों का दलन करनेवाला, देवों के द्वारा आराधन किया गया-यें दोनों श्लोक सिंदूर प्रकर में है ।

महान् पुरुष अचिन्त्य माहात्म्य को करनेवाले सत्य वचन को कहते हैं । लोक-वचन भी है कि- पांडु पुत्रों की प्रिया के सत्य कहने पर आम फलित हुआ था । जैसे कि-

हस्तिनापुर में माघ मास में युधिष्ठिर राजा के उद्यान में अट्ठयासी हजार मुनि आये थे । राजा के द्वारा भोजन के लिए प्रार्थना करने पर उन्होंने कहा कि- हे धर्म-पुत्र ! आज तुम आम के फलों से भोजन कराओगे तो हम भोजन करेंगे, अन्यथा नहीं । उसे सुनकर चिन्तातुर हुए युधिष्ठिर ने विचार किया कि- अकाल में उनको कैसे प्राप्त करूँ ? इस ओर नारद-ऋषि ने आकर के कहा कि- हे राजेन्द्र ! यदि आपकी पट्ट-रानी द्रोपदी सभा में पाँच सत्य कहेगी तो अकाल में भी आम के फल प्रकट होंगे । उसे अंगीकार करने पर सभा में आयी द्रोपदी से नारद ने कहा कि-

पंच-तुष्टि, सतीत्व, संबंध से अतिशुद्धता, पति ऊपर प्रेम और मन की तुष्टि- ये पाँच सत्य कहो ।

इस प्रकार से पूछने पर झूठे वचन से भय-भीत हुई द्रोपदी सती ने स्त्री गुह्य को कहा-

हे नारद ! मेरे पति पाँच पांडव योद्धा और सूरूपधारी है, तो भी मन छट्टे पर भी वांछा करता है ।¹

हे नारद ! एकांत नहीं है, क्षण नहीं है, प्रार्थना करनेवाला पुरुष नहीं है । उससे नारीयों को सतीत्व उत्पन्न होता है ।

सूरूपधारी पुरुष को, पिता, भाई और पुत्र को देखकर, पानी

1. जैनागम में यह बात नहीं है ।

से कच्चे पात्र के समान ही नारीयों की योनि तरल होती है ।

हे नारद ! वर्षा अत्यंत कष्टकारी काल है, जीवन देने से वह प्रिय है । उससे नारीयों को भर्त्ता-भर्त्ता इस प्रकार से प्रिय है ।

अग्नि काष्ठों से तृप्त नहीं होती है और न ही समुद्र नदीयों से । यम सर्व प्राणियों से और स्त्रियाँ पुरुषों से तृप्त नहीं होती है ।

हे नारद ! नारी अग्नि-कुंभ के समान है और पुरुष घी-कुंभ के समान है । उससे नारीयों के संसर्ग को छोड़ें ।

इस प्रकार से द्रोपदी के सत्य कहने पर प्रथम सत्य में अङ्कुर, द्वितीय में पत्र, तृतीय में शाखाएँ, चतुर्थ में मञ्जरियाँ और पञ्चम में परिपक्व आम के फल उत्पन्न हुए । सभी सदस्यों ने उसकी प्रशंसा की । उन मुनियों का पारणा हुआ ।

लौकिक शास्त्र में इस प्रकार सत्यव्रत का वर्णन किया गया है । इसलिए हे श्रीकान्त ! तुम भी सत्य व्रत को ग्रहण करो । उसने स्वीकार किया । जिनदास ने कहा कि- आजीवन तुम प्राण के समान ही व्रत का पालन करना । उसने कहा-

राज्य जाय, लक्ष्मी चली जाय और विनश्वर प्राण चले जाय । जो मैंने स्व-मुख से कहा है, वह शाश्वत वचन न जाय ।

एक बार रात्रि में चोरी के लिए निकला । मार्ग में श्रेणिक और अभय मिलें । उन्होंने श्रीकान्त से पूछा- तुम कौन हो ? उसने कहा कि- आत्मीय ही हूँ । मंत्री ने कहा कि- तुम कहाँ जा रहे हो ? उसने कहा- चोरी करने के लिए राज-कोश में जा रहा हूँ । पुनः पूछा- तुम कहाँ रहते हो ? चोर ने कहा कि- अमुक पाटक में । तेरा नाम क्या है ? श्रीकान्त ! उन दोनों ने सोचा कि - यह आश्चर्य है, जो चोर है, वह ऐसा कैसे कह रहा है ? इस प्रकार से विचार कर दोनों आगे चलें । चोर वहाँ से पेटी लेकर जाते हुए पुनः मिला । उन्होंने पूछा कि- तूने क्या-क्या

ग्रहण किया है ? इस एक रत्न मंजूषा को लेकर मैं अपने घर जा रहा हूँ । इस वाक्य को सुनकर वे दोनों स्व-महल में गये ।

प्रातः भांडागारिक ने थोड़ा इधर-उधर कर पूत्कार किया । नगर रक्षक को बुलाया । राजा ने कोशाध्यक्ष से पूछा कि- क्या गया है ? उसने कहा-दस पेटियाँ । राजा और मंत्री परस्पर मुख को देखकर उसे बुलाया और पूछा कि- रात्रि में तूने क्या-क्या लिया था । श्रीकान्त ने भी- ये दोनों रात्रि में मिलें थे इस प्रकार से निश्चय कर कहा कि- हे स्वामी ! क्या आप मेरा कहा भूल गये । आपके देखते हुए ही मैंने आजीविका के लिए एक पेटि ली थी । राजा ने कहा कि- तुम सत्य कैसे कह रहे हो ? और मुझसे क्यों नहीं डरते हो ? उसने कहा कि- हे राजन्!

वायु के समूह से बड़े वृक्ष के समान ही जिससे स्वकल्याण भग्न हो, वैसा चतुर पुरुष प्रमाद से भी असत्य वचन को न कहें ।

रुष्ट हुए आप तो यहाँ एक भव के सुख का हनन करोगें, किंतु सत्यव्रत के भग्न हो जाने पर अनंत भवों तक दुःख होगा ।

यह सुनकर राजा ने उसे शिक्षा दी कि- द्वितीय व्रत के समान ही तुम अन्य भी व्रतों को ग्रहण करो । उसने वैसा किया । जीर्ण कोशाध्यक्ष को निकालकर राजा ने उसके स्थान में श्रीकान्त को रखा । क्रम से वह श्रीमहावीर का श्रावक हुआ ।

जिनदास के वाक्य से दृढ आत्मा की बुद्धिवाले श्रीकान्त चोर ने एक नियम को अंगीकार किया था । उसने यही पर लोगों के द्वारा स्तुति कीये गये इष्ट फल को प्राप्त किया, उससे तुम इस व्रत को स्वीकार करो ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छट्ठे स्तंभ में छिहत्तरवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।

सत्तहत्तरवाँ व्याख्यान

अब इस व्रत के पाँच अतिचारों को कहते हैं कि-

इस व्रत का स्वीकार करनेवाले को मिथ्या उपदेश का त्याग करना चाहिए। बिना विचारे किसी को भी अभ्याख्यान न कहे।

मिथ्या उपदेश-असत् उपदेश है। व्रत ग्रहण करनेवाले को पर पीडाकारी वचन असत्य ही है, जैसे कि- गधा, ऊँट आदि को वहन कराओ, चोरों को मारो इत्यादि। सज्जनों को हितकारी वह सत्य है इस प्रकार की व्युत्पत्ति से सत्य भी पर हिंसात्मक वाक्य झूठ ही है। जो कि कहते हैं कि-

सत्य भी पर पीडाकारी वचन को न कहे, कारण कि लोक में भी सुना जाता है कि कौशिक नरक में गया था।

कौशिक नामक लौकिक ऋषि सत्यवादी इस प्रकार की प्रसिद्धि से प्रसिद्ध तप का आचरण करता था। एक बार चोर गाँव को लूटकर मुनि के आगे होकर वन में भागें। उनके पीछे रक्षक आये। मुनि को देखकर कहा-तुम सत्यवादीपने से सत्य कहो, चोर कौन-से मार्ग में गये हैं? मुनि ने सोचा कि-

शुद्धि पूछते हुए को अशुद्ध कथन में बड़ा पाप लगता है, क्योंकि मृगी ने भी इस पाप को स्व-मस्तक पर नहीं लिया था।

इस प्रकार से स्मृति में कहे हुए दृष्टान्त का विचार कर उसने चोरों का स्थान दिखाया। पश्चात् रक्षकों ने उनको विनाशित किया। ऋषि नरक में गया।

अन्य उदाहरण यह है-

एक परम-ऋषि वन में तप से तप रहे थे। एक दिन शिकारीयों से त्रासित हुए हिरण उसके आगे होकर वन में गये। उन्होंने पूछा- हिरण कहाँ गये हैं? दयावंत उस ऋषि ने कहा कि-

जो देखती है, वह नहीं कहती और जो कहती है, वह नहीं देखती है। यह सुनकर उन्होंने सोचा कि- लोक से बाह्य मुखवाला यह क्या जानता है ? इस प्रकार से कहकर वे अन्यत्र चले गये । हिरणों का उद्धार हुआ । ऋषि स्वर्ग में गये ।

प्रमाद से पर पीड़ा का उपदेश अतिचार है अथवा युद्ध के लिए झूठे प्रपञ्च का शिक्षण, इस प्रकार से यह प्रथम अतिचार है ।

विचारे बिना सहसा अभ्याख्यान-असद् दोष का अध्यारोपण, जैसे कि-तुम चोर हो अथवा पर-स्त्री गमनकारी हो इत्यादि किसी पुरुष को नहीं कहना चाहिए । अन्य तो रहस्य अभ्याख्यान कहते हैं और उसकी व्याख्या यह है, रह:- एकान्त, उसमें हुआ वह रहस्य । अभ्याख्यान - असद् का अध्यारोपण और कहना है । जैसे कि- यदि वृद्धा स्त्री है, तो उसे कहता है कि- यह तेरा भर्ता तरुणीयों में आसक्त हुआ है । अब तरुणी हो तो उसे इस प्रकार से कहता है- यह तेरा भर्ता कुमारीयों में रागी हुआ है । अथवा दंपतीयों के आगे रहस्य में हुई चेष्टा को हास्यादि से कहना न कि तीव्र संक्लेश से । जो कि कहते हैं कि-

यदि जानते हुए सहसा, अभ्याख्यान आदि करे तो भंग होता है, यदि पुनः अनाभोग आदि से करे तो अतिचार होता है ।

इस प्रकार से द्वितीय अतिचार है, तथा-

अभ्याख्यान से गधा होता है अथवा निन्दक कुत्ता होता है । पर भोक्ता कृमि होता है और मत्सरी कीट होता है ।

उत्तम मति दूषण को प्राप्त नहीं करती । मध्यम मति स्पर्श करती है किन्तु कहती नहीं है । अधम मति समीप को देखकर कहती है और अधमाधम मति सहसा ही अत्यंत रटन करती है ।

सहसा अभ्याख्यान के ऊपर यह लौकिक संबंध है-

सुग्राम में सुन्दर श्रेष्ठी दाता और लोक-प्रिय था, क्योंकि-
प्रजाओं को प्रिय दाता ही है न कि धन का स्वामी । लोक आते
हुए मेघ की वांछा करते हैं न कि समुद्र की ।

एक पड़ोसी ब्राह्मणी उस श्रेष्ठी की निंदा करती थी कि-
वैदेशिक यहाँ आते हैं, यह धर्मी है, इस प्रकार से वे इसके समीप में
स्व द्रव्य को रखते हैं, वे तो विदेश में मर जाते हैं, इस प्रकार से इसे
उत्सव हुआ है । जान लिया है कि यह धर्मी है । एक बार रात्रि में भूख
से पीड़ित कार्पटिक आया । तब कुछ-भी भोजन और पेय नहीं था । वह
दाता, दान-व्रती ग्वालिनी के गृह से छाछ लाकर उसे अर्पित की ।
वह मर गया । ग्वालिनी के सिर ऊपर स्थित उद्घाटित मुखवाली
थाली में वह छाछ बाज पक्षी के द्वारा नीचे धारण कीये हुए बड़े सर्प
के मुख से गिरे हुए विष से मिली हुई थी । प्रातः उसे मृत देखकर वृद्धा
हर्षित होने लगी कि- देख लिया दाता के चरित्र को ? यह धन के
लोभ से दुःखी हुआ है ।

इस मध्य में वह कार्पटिक की हत्या भ्रमण करती हुई चिन्तन
करने लगी कि- मैं किसे लगूँ ? दाता विशुद्धात्मा है और सर्प भी अज्ञ
तथा परवश है, बाज पक्षी सर्प की भक्षिनी है, ग्वालिनी अज्ञ है,
उससे मैं किसे ग्रहण करूँ ? इस प्रकार से विचार करती हुई उसी निन्दा
करनेवाली ब्राह्मणी को ग्रहण किया । वह शीघ्र ही श्याम, कुब्ज और
कुष्ठिनी हुई । सभी उसकी निन्दा करने लगे । हत्या ने स्वेच्छा से
लोगों के प्रति कहा कि-

माता कुंभ के दोनों टुकड़ों से बालक की विष्टा को दूर करती
है । कंठ, तालु और जीभ से त्याग करते हुए दुर्जन ने माता को भी
पर(-)निंदा के द्वारा नीचे किया है ।

इस प्रकार से सकल जनों को गोचर अवर्णवाद श्रेयस्कारी

नहीं है, पुनः राजा, अमात्य, देव, गुरु, संघ आदि में तो बात ही क्या की जाये ? वहाँ पर भी साधु आदि के अवर्णवाद से भवान्तर में नीच गोत्र, कलंकादि की आपत्ति है, जैसे कि—

सीता के समान ही पूर्व भव में मुनि को अभ्याख्यान देने से तीव्र पाप को बाँधकर वह अनंत दुःख को प्राप्त करता है ।

इस भरत में मृणालकुंडपुर में श्रीभूति पुरोहित था । उसकी पत्नी सरस्वती थी और उन दोनों की पुत्री वेगवती थी । एक बार वहाँ एक साधु आये और वें उद्यान में प्रतिमा से स्थित हुए । लोक भक्ति से उनको वंदन करते थे । साधु की पूजा को देखकर झूठ और मात्सर्य से वेगवती ने लोगों से कहा कि— ब्राह्मणों को छोड़कर इस पाखंडी और मुंड की क्यों पूजा कर रहे हो ? स्त्री के साथ क्रीड़ा करते हुए मैंने इनको देखा है, इस प्रकार उसने झूठा आल दिया । उससे मुग्ध जन साधु की पूजा आदि से निवृत्त हुए । मुनि ने उसे जानकर— मेरे निमित्त से जिनशासन की अपभ्राजना न हो, इस प्रकार से मन में कर—जब तक यह कलंक नहीं उतरेगा, मैं तब तक भोजन नहीं करूँगा, इस प्रकार से प्रतिज्ञा कर 'कायोत्सर्ग' से स्थित हुए । तब शासन देवता के सांनिध्य से वेगवती के देह में तीव्र वेदना उत्पन्न हुई, अरति का प्रादुर्भाव हुआ और सहसा ही मुख सूना हुआ । पश्चात्ताप से युक्त हुई वह मुनि के समीप में जाकर सर्व लोगों के समक्ष स्व निन्दा करती हुई कहने लगी कि— मैंने मात्सर्य से व्यर्थ ही साधु को वह आल दिया है, इस प्रकार से क्षमा माँगकर उनके पैरों में गिर पड़ी । शासनदेवता ने उसे सज्ज किया । धर्म को सुनकर और दीक्षा लेकर वह सौधर्म में देवी हुई । वहाँ से च्यवकर वह जनक की पुत्री सीता हुई । झूठा आल देने से उसने यहाँ कलंक को प्राप्त किया था । लोगों ने पुनः मुनि की पूजा की ।

इस प्रकार से सदा निन्दनीय ऐसे दूसरों के अवर्णवाद को और उसके श्रवण को छोड़ता हुआ गृहस्थ जगत् में रहे जनों के श्लाघ्यता से यहाँ सम्यक् प्रकार से सद्धर्म के योग्य होता है ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ सत्तहत्तरवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



अठहत्तरवाँ व्याख्यान

शेष अतिचारों को ही कहते हैं कि-

विश्वास से जो स्थित है, उनके मंत्र का प्रकाशन, अन्य को गुह्य कहना और पाँचवाँ कूट-लेख हैं ।

विश्वास से स्थित-उपगत(आये) हुए जो मित्र, पत्नी आदि हैं, उनका मंत्र-विचार, उसका प्रकाशन भेद है और उसके अनुवाद रूप से सत्यत्व से यद्यपि अतिचारता नहीं है, तो भी मंत्रित कीये अर्थ के प्रकाशन से उत्पन्न हुए लज्जा आदि से मित्र, पत्नी आदि के मरण आदि के संभव से परमार्थ से इसके असत्यत्व से कैसे-भी भंग रूपत्व से अतिचारता ही है । इस प्रकार से यह तृतीय अतिचार है ।

किसी के संबद्ध हुए को आकार, ईंगित और चेष्टाओं से जानकर उसे अन्य को कहना गुह्य भाषण है । गुह्य-छुपाने योग्य, जो सभी को कहने योग्य नहीं है । जैसे कि- ये लोग इस-इस राज विरुद्ध आदि की मंत्रणा कर रहे हैं । गुह्य भाषण में आकार आदि से गुह्य है और विज्ञान-अधिकारी ही गुह्य को प्रकाशित करता है । मंत्र भेद में तो स्वयं मंत्र का भेदन करता है, इस प्रकार से इन दोनों में भेद है । इस प्रकार से यह चौथा अतिचार है ।

मंत्र आदि के भेद में दोष को कहते हैं कि-

बुद्धिमंत कदाचित् भी गुह्य वाक्य को न कहे क्योंकि मर्म के कथन से वणिक् स्त्री की मृत्यु से दुःख-भागी हुआ था । जैसे कि-

वर्णपुर में पुण्यसार श्रेष्ठी था । एक बार वह स्व-प्रिया को लाने के लिए ससुर के घर गया । अन्य में आसक्त उसे हठ से लेकर मार्ग में जाते हुए प्यास से पीड़ित हुआ कूँ से पानी को खींचता हुआ उसके द्वारा स्व-पति कूँ में गिराया गया । वह भागकर स्व-गृह में गयी । पिता के पूछने पर उसने कहा कि- मेरे पति को चोरों ने लूँटा है और मार दिया हो अथवा नहीं । मैं भागकर यहाँ आयी हूँ । इस प्रकार से कहकर वह गृह में स्वेच्छा से रही । मुसाफिरों ने पुण्यसार को भी अल्प जलवाले कूँ से बाहर निकाला । पुनः वह ससुर के गृह गया । तब मार्ग में स्वरूप के पूछने पर उसने कहा कि- चोरों ने मुझे जीवित छोड़ा है और यह भागकर यहाँ आयी है, वह श्रेष्ठ हुआ है । इस प्रकार से मर्म को ढँकने से पति के ऊपर अत्यंत प्रमुदित हुई उसे लेकर गृह में आया । क्रम से प्रीति पर उन दोनों को पुत्र हुआ ।

एक बार भोजन कर रहे पुण्यसार के पात्र में वायु से उछाले हुए धूल को गिरते हुए उसने अपने छाती के आँचल से निवारण किया । तब पूर्व चरित्र को स्मरण कर उसने थोड़ा स्मित किया । रहस्य में पुत्र के द्वारा हास्य का कारण पूछने पर उसने कैसे-भी पुत्र के आगे उसके चरित्र को कहा ।

एक बार स्व जाति के गर्व को करती हुई अपनी स्त्री को रहस्य में माता के चरित्र को कहा कि- तुम्हारी जाति को धिक्कार है, क्योंकि-

दुश्चरित्रवाली स्त्रियाँ प्राण के संशय में क्षण में ही पति, पुत्र, पिता और भाई को अकार्य में भी आरोपित करती हैं ।

उससे स्त्रियों में कौन-सा प्रेमोदय हो ? क्योंकि-

कपटता, क्रूरता, चंचलता और कुशीलता, जिनके ये स्वाभाविक दोष हैं, उन स्त्रियों में कौन रमण करे ?

यह सुनकर वह मौन कर स्थित हुई । एक बार सासु और वधू के कलह होने पर परस्पर मर्म उद्घाटन के विषय में वधू ने उसके चरित्र को कहा । उसे सुनकर उसने सोचा कि- अहो ! इतने काल तक पति ने मेरे मर्म को मन में रखा था । अब मंत्र-भेद किया है । उससे मुझे प्राणों से रहा, इस प्रकार से कंठ में फाँसे से प्राणों को छोड़ा । उसे देखकर श्रेष्ठी ने भी वैसा ही किया । पत्नी को छोड़कर श्रेष्ठी के पुत्र ने वैराग्य से दीक्षा ली ।

इत्यादि सुनकर जो पर गुह्यों को ढँकते हैं, वे धन्य है ।
क्योंकि-

कपास जैसे पुत्र को कोई माता ही जन्म देती है । कपास का छोड़ खुद के अंग (कपास) को देकर गुण(सुतर) से दूसरों के गुह्य को ढाँकता है, अर्थात् धागे से मनुष्यों को वस्त्रों से पूर्ण कर सभी के शरीर को ढाँकता है ।

तथा लौकिक शास्त्र में भी कहा है कि-

जो अधम पुरुष परस्पर मर्मों को कहते हैं, वे बिल में रहे हुए सर्प के समान स्वयं ही निधन को प्राप्त करते हैं । जैसे कि-

सुन्दर नामक पृथ्वीपुर का राजा था । एक दिन वक्र शिक्षित अश्व उसे वन में ले गया । श्रम के वश से अश्व से उतरकर वृक्ष के नीचे सोया । उसके मुख में एक छोटे सर्प ने प्रवेश किया । पश्चात् वह स्व गृह में आया । उदर में रहे सर्प की पीड़ा से गर्दन पर करवत फिरवाने के लिए गंगा के प्रति जाते हुए मार्ग में एक न्यग्रोध वृक्ष के नीचे सोया । तब वायु के भक्षण के लिए मुख में से निकले हुए सर्प से बिल से निकले हुए सर्प ने कहा कि- रे पापिष्ठ ! इसके उदर से निकल जाओ ।

क्या करूँ ? काँजी के साथ कटु ककड़ी के मूल को मिलाकर राजा को पिलाए ऐसे तुम्हारे विनाश के उपाय को मैं जानता हूँ, परंतु यहाँ कोई नहीं है, जिसके आगे मैं कहूँ। यह सुनकर उदर में स्थित सर्प ने उसे कहा कि- मैं भी बिल में डाले हुए उष्ण तैल से तुमको मारकर निधि के ग्रहण को जानता हूँ परंतु मैं किसके आगे कहूँ ? इस प्रकार से राजा की रानी ने उन दोनों का परस्पर मर्म सुन लिया। रानी ने उन दोनों का कहा किया। राजा निरोगी हुआ। बिल के सर्प का विनाश कर निधि को ग्रहण किया।

इस प्रकार से जो स्व-पर शास्त्रों में निन्दनीय किन्हीं का भी गुह्य प्रकाश नहीं करता, वह ही ब्रती जाना जाय।

तथा अन्य मुद्रा, अक्षर आदि से कूट अर्थ का लेखन वह कूट-लेख है, जैसे कि- राजा के द्वारा लिखे गये पत्र के ऊपर अपर माता ने कुणाल के प्रति कूट-लेख किया था। और उससे महान् अनर्थ हुआ था। कहते हैं कि-कूट-लेख असत्य होने के कारण से उसके करने में व्रत का भंग क्यों नहीं है ? इस प्रकार से जो सत्य है, परंतु मैंने सत्य वचन का प्रत्याख्यान किया है और यह तो लेखन है, इस प्रकार के अभिप्राय से व्रत से सापेक्ष मुग्ध बुद्धिवाले को अतिचार ही है अथवा अनाभोग आदि से अतिचारता है, इस प्रकार से यह पाँचवा अतिचार है।

जिनेश्वरोंने द्वितीय नियम में हेय रूप और मालिन्यता देनेवाले इन पाँच अतिचारों को कहे हैं। व्रतवाले धर्मी पुरुष उनको छोड़कर सत्य से सुंदर गुण को ग्रहण करें।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में अठहत्तरवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।

उगणान्नीवाँ व्याख्यान

अब सत्यवादी की स्तुति करते हैं-

सर्व धर्म के कार्यों में सत्य आद्य कहा गया है । उसके बिना कुतीर्थियों के द्वारा कहा हुआ धर्म निरर्थक हैं ।

शास्त्र में सर्व जो तप, जप, ज्ञान, दर्शन आदि धर्म कृत्य है, उन सब में प्रभु ने आद्य-मुख्य सत्य को ही कहा है । सुनते हैं कि- किसी श्रावक का पुत्र निर्धर्मी था । बल से पिता उसे गुरु के पास ले गये । उसने धूर्तपने से प्रतिबोधित हुए के समान आदर सहित गुरु के द्वारा कहे हुए द्वादश व्रत आदि नियमों का स्वीकार किया । नियमों की दृढ़ता के लिए गुरु आदि उसकी प्रशंसा करने लगे । तब उसने कहा कि- गृहस्थ को दुष्पालनत्व के कारण से इन नियमों में से एक द्वितीय व्रत का नियम मुझे खुला हो । इतने से यह समस्त ही मैंने असत्य कहा है, इस प्रकार से उसका आशय था । यह अयोग्य है इस प्रकार से गुरु और पिता आदि ने उपेक्षा की ।

उस सत्य के बिना कुतीर्थियों के द्वारा कहा हुआ धर्म, वह निरर्थक है । जो कि कहते हैं कि-

चार्वाक, कौलिक, ब्राह्मण, बौद्ध और पंचरात्रिकों ने असत्य से ही कदम रखकर इस जगत् को विडंबित किया है । अल्प मृषावाद से भी रौरव आदि नरकों में उत्पत्ति होती है । अहह ! जिन वचन को अन्यथा कहनेवालों की तो क्या गति होगी ? अहो ! मुख का मध्यवर्ती भाग नगर जल के स्रोत के समान है, जिससे कि कीचड़ से आकुलित जल की उपमावाले वचन निकलते हैं । जो सत्य को ही ज्ञान और चारित्र्य का मूल कहते हैं, उनके चरणों की धूलों से पृथ्वी पवित्र की जाती है ।

इस विषय में हंस राजा का उदाहरण है और वह यह है-

राजपुरी में हंस राजा उपवन की शोभा को देखने के लिए गया । वन में वहाँ एक मुनि को देखा । उनके सामने बैठे हुए राजा ने यह सुना कि-

सत्य यश का मूल है, सत्य श्रेष्ठ विश्वास का कारण है । सत्य स्वर्ग का द्वार है और सत्य सिद्धि की सोपान है । दुर्गन्धी, पूति मुखवाला, अनिष्ट वचनवाला, कठोर वचनवाला, जड़, बधिर और गूँगा तथा मन्मन से बोलना-झूठ बोलने में ये दोष उत्पन्न होते हैं ।

इस प्रकार से धर्म को सुनकर उसने सत्य के नियम को ग्रहण किया ।

एक बार राजा स्वल्प परिवार से घेरा हुआ रत्नशृंग पर्वत पर चैत्री यात्रा के उत्सव में श्रीऋषभस्वामी को नमस्कार करने के लिए चला । जब वह अर्धमार्ग तक गया, तब एक चर ने शीघ्र से आकर राजा से इस प्रकार विज्ञप्ति की- हे देव ! आपके यात्रा के लिए चले जाने पर सीमा के राजा ने बल से आपके नगर को ग्रहण किया है । उससे जो योग्य है उसे आप करो । समीप में रहे सुभटों ने राजा से विज्ञप्ति की- हे स्वामी ! वापिस लौटें ! राजा ने उनको इस प्रकार से कहा-

पूर्व कर्म के वश से संपदाएँ, विपदाएँ भी हो । मूढ़ पुरुष उन संपत्तियों में हर्ष अथवा विषाद करते हैं । प्राप्त करने योग्य भाग्य ऐसे जिन यात्रा के महोद्यम को छोड़कर भाग्य से प्राप्त होने योग्य ऐसे राज्य के लिए दौड़ना अब उचित नहीं है । जिस मनुष्य के पास महा-मूल्यवान् सम्यक्त्व रूपी धन है, वह धन से हीन भी धनी है । धन एक भव में सुख के लिए होता है और सुदृष्टिवान् को भव-भव में अनंत सुख होता है ।

इस प्रकार से कहकर राजा आगे ही चला । एक छत्र-धारक के बिना समस्त भी दास-दासी आदि परिवार स्व गृह की सार करने के लिए गये । राजा ने अपने अलंकारों को अत्यंत गुप्त कर और छत्र-

धर के वस्त्रों को पहनकर जब आगे चला, तब कोई मृग शीघ्र से राजा के देखते ही लता के निकुञ्ज में प्रविष्ट हुआ। तभी एक भिल्ल धनुष पर बाण का संधान कर हिरण के पीछे दौड़ते हुए राजा से इस प्रकार से कहा कि— तुम मुझे कहो कि हिरण कहाँ गया है ? सुनकर राजा ने मन में सोचा कि—

अहो ! पंडितों के द्वारा जो प्राणियों को हितकारी न हो उस सत्य को भी नहीं कहना चाहिए, अब बुद्धि के प्रपञ्च से पूछनेवाले को बोधित करना चाहिए।

इस प्रकार से विचार कर राजा ने कहा कि— मार्ग से भ्रष्ट हुआ मैं यहाँ आया हूँ। फिर से उसने हिरण की शुद्धि पूछी। तब भी राजा ने कहा कि— मैं हंस हूँ। इस प्रकार से राजा के वाक्य को सुनकर उसने क्रोध से कहा कि— हे विकल ! तुम अन्य उत्तर क्यों दे रहे हो ? पुनः राजा ने कहा कि— जहाँ तुम मुझे मार्ग दिखाओगे, मैं वहाँ जाऊँगा। उससे यह बधिर है इस प्रकार से जानकर वह भिल्ल निराश होकर चला गया। राजा आगे संचारण करते हुए एक साधु को देखकर और नमस्कार कर आगे चला। उतने में दो भिल्ल हाथ में शस्त्र लेकर राजा से कहने लगे कि— हमारा स्वामी चोरी के लिए निकलते हुए बीच में मुनि को देखकर और अपशकुन जानकर वापिस लौटा है। उसने हम दोनों को उस मुनि को मारने के लिए भेजा है। कहो, वह कहीं पर देखा गया है ? अब असत्य भी सत्य के रूप में होगा, इस प्रकार से विचार कर उस राजा ने कहा कि— वह यति वाम मार्ग से जा रहा है, परंतु कहीं पर भी वायु के समान अप्रतिबंधत्व के कारण से तुम दोनों को नहीं मिलेंगे। वे दोनों इधर-उधर देखकर चले गये।

राजा शुष्क पत्रादि का भोजन कर रात्रि में जब सोने के लिए स्थित हुआ, तब बहुतों के इस प्रकार के आलाप को सुना कि— तृतीय

दिन में हम संघ को लूँटेंगे। यह सुनकर राजा क्षण तक चिन्ता सहित स्थित हुआ। तब किन्हीं सुभटों ने इस प्रकार से पूछा कि- तुमने चोरों को देखें है ? हम गोधिपुर राजा के सेवक हैं। राजा ने संघ की रक्षा के लिए भेजा हैं। यह सुनकर राजा ने सोचा कि- यदि चोरों को दिखाऊँगा, तो ये उनको मार डालेंगे और यदि नहीं कहूँगा तो चोर संघ को लूँटेंगे। मुझे यहाँ क्या करना उचित है ? इस प्रकार से सोचकर कहा कि- मैंने तो नहीं देखे हैं परंतु कहीं पर तुम ही देखो अथवा उनको देखने से क्या ? तुम संघ का ही रक्षण करो। उसे सुनकर वे संघ में गये। तब चोर आकर उसे कहने लगे कि- तुमने हमारे जीवन का रक्षण किया है। आज के बाद हम चोरी और हिंसा नहीं करेंगे। तुम इस लाभ को ग्रहण करो इस प्रकार से कहकर चोर स्व-स्थल पर गये।

हंस राजा आगे जाते हुए किन्हीं घुड़ सवारों के द्वारा इस प्रकार से पूछा गया कि- तुमने हमारे स्वामी के वैरी हंस को कहीं पर देखा है ? हम उसका विनाश करेंगे। उसने असत्य के भय से कहा कि- मैं ही हंस हूँ। जब वे क्रोध से राजा के सिर पर खड्ग को छोड़ने लगे, तब तलवार के सैंकड़ों ही टुकड़े हुए और राजा के ऊपर पुष्प वृष्टि गिरी। हे सत्यवादी ! तुम चिर समय तक जयवंत हो, इस प्रकार से कहते हुए प्रत्यक्ष होकर यक्ष ने कहा कि- हे राजन् ! मैं आज ही तुम्हें जिन-यात्रा कराता हूँ, तुम इस विमान को अलंकृत करो। विमान में चढ़कर जिन-यात्रा और अर्चा कर यक्ष के सान्निध्य से शत्रु को जीतकर उसने स्व-राज्य को भोगा। क्रम से प्रव्रज्या लेकर स्वर्ग में गया।

पक्षियों में हंस इस प्रकार के शब्द को वरा और उससे वे पानी के द्रव में हर्ष को धारण करने लगे। जिस श्रीहंसराज ने इस प्रकार के नाम को धारण करते हुए सत्य रूपी समुद्र से अप्सराओं के सौख्य को

प्राप्त किया था । (सत्य से जिसने देवालय में सौख्य को प्राप्त किया था) ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में उगणासीवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



अरुन्धीवाँ व्याख्यान.

इस प्रकार से द्वितीय व्रत कहा गया । अब तृतीय व्रत के भेदों को कहतें हैं-

आद्य स्वामी से अदत्त तथा द्वितीय जीव-अदत्त, तृतीय जिन-अदत्त और चतुर्थ गुरु-अदत्त हैं । आद्य अदत्त सूक्ष्म और बादर के भेदों से दो प्रकार का माना गया है । श्रावक को सूक्ष्म में यतना करनी चाहिए और स्थूल को छोड़ दें ।

स्वामी के द्वारा धन, स्वर्ण आदि जो वस्तु नहीं दी गयी है, उसको ग्रहण करना वह आद्य स्वामी-अदत्त है । स्वयं जिस फलादि सचित्त का भेदन करता है, वह अपर-द्वितीय जीवादत्त है । क्योंकि उस फलादि जीव ने निज प्राण उसे नहीं दीये हैं । तीर्थंकर की आज्ञा नहीं होने से साधु को गृहस्थ के द्वारा दिया गया आधाकर्मादि तीर्थंकरादत्त है । इस प्रकार से श्रावक को अनंतकाय, अभक्ष्यादि तीर्थंकर अदत्त है । सर्व दोषों से विमुक्त भी जो गुरुओं को निमंत्रण कीये बिना भोजन किया जाय वह गुरु-अदत्त है, यह अर्थ है । यहाँ स्वामी-अदत्त का अधिकार है । सूक्ष्म-स्वामी को अनुज्ञापन कीये बिना तृण, मिट्टी के ढेले आदि के ग्रहण रूप में है । बादर-जिससे जन में चोर का सूचन हो, वह स्थूल भी कहा जाता है । चोरी की बुद्धि से खेत, खलिहान आदि में अल्प का भी ग्रहण स्थूल ही है । इन दोनों

प्रकारों से आद्य स्वामी-अदत्त दो प्रकार से माना गया है । वहाँ श्रावक को सूक्ष्म में यतना है, स्थूल से तो निवृत्ति ही है, यह तात्पर्य है ।

अब इस व्रत के फल को कहते हैं कि-

चोरी वध से भी अधिक है, वध से तो एक बार मरण को प्राप्त करता है । धन के अपहरण कीये जाने पर पुनः प्रौढ क्षुधा से ही सकल कुल मरण को प्राप्त करता है । चोरी को छोड़कर रौहिणेय ने देव संपत्ति को प्राप्त की थी, उससे विवेकी प्राणांत में भी पर धन का हरण न करे ।

श्लोक में कहा हुआ यह दृष्टांत है-

वैभारपर्वत की गुफा में रहते हुए प्रांत काल में लोहखुर पिता के द्वारा वीर वचन के श्रवण में निषेध कराये रौहिणेय चोर राजगृह को स्वेच्छा से लूटने लगा । एक बार चोरी कर स्व नगर में आते हुए बीच में जिन समवसरण को जानकर इस प्रकार से सोचने लगा कि- मैं दोनों कानों को ढँकता हूँ जिससे वीर वाक्य का श्रवण और पिता की आज्ञा का भंग न हो । वैसा कर जाते हुए उसके पैर में काँटा लगा । उससे जाने में असमर्थ हुआ वह जब एक हाथ से पैर में से काँटों को निकालने लगा, तब उसके कान में भगवान् की वाणी गिरी-

जिनेश्वर कहते हैं कि देव पलकारों से रहित नेत्रोंवालों, मन के इच्छित कार्य को साधनेवालों, अम्लान पुष्प की मालाओंवालों होते हैं और चार अंगुल से भूमि को स्पर्श नहीं करते हैं ।

हा ! मैंने इसे सुन लिया है, मुझे धिक्कार हो, इत्यादि चिन्तन करते हुए और आगे जाते हुए रौहिणेय को चारों ओर भ्रमण करनेवालों राज-पुरुष कैसे-भी पकड़ कर राजा के आगे ले गये । राजा के द्वारा वध का आदेश दीये जाने पर अभय ने कहा कि- हे स्वामी ! इसे न मारें । तुम कौन हो ? इस प्रकार से राजा के पूछने पर उसने कहा कि-

हे देव ! शालिपुर का वासी मैं दुर्गचन्द्र नामक कौटुंबिक कार्य से आया हूँ। नगरी का रोध हो जाने से भय-भीत हुआ कीले को लौंघकर जाते हुए मुझे आरक्षकों ने पकड़ लिया। मैं चोर नहीं हूँ। इस प्रकार से कहते हुए उसे कारागृह में डाला।

शालिग्राम में राजा ने उसके अवदात की शुद्धि के लिए चर पुरुष को भेजा। उसका कहा सत्य जानकर उसके मुख से दंभ विजृम्भित को जानने के लिए अभय ने स्व-महल में दोगुंदुक देव के सुख तुल्य और अप्सराओं के समान स्त्रियों से घेरे हुए पलंग के ऊपर मद्य पिलाकर और चीनाइ वस्त्रों को पहनाकर उसे सुलाया। क्रम से मद्य के उतर जाने पर उस दिव्य ऋद्धि को देखकर वह विस्मित हुआ। अभय के द्वारा आदेश दीये हुए पुरुषों ने जय जय नंदा इस प्रकार से मंगलों को कहते हुए उससे कहा कि-हे देव ! तुम इस विमान में देव हुए हो, हम तुम्हारे दास हैं, ये अप्सराएँ तेरी पत्नियाँ हैं, इनके साथ तुम क्रीड़ा करो, पुण्य से यह अवसर उपस्थित हुआ है। इस प्रकार से कहकर जब वे संगीत को करने लगे, तब एक स्वर्ण-दंडवाले द्वारपाल ने आकर कहा कि-हे देव ! प्रथम स्वर्ग की स्थिति को ज्ञात कर सर्व देखें। जो यहाँ पर देव उत्पन्न होता है, वह पहले पूर्व के सुकृत-असुकृत को कहता है। इस प्रकार से कहने पर चोर ने सोचा कि-मैं लोहखुर का पुत्र रौहिणेय ही हूँ और मैं मरा नहीं हूँ। उसने(अभय ने) इस कपट जाल की रचना की है। पूर्व में सुनी हुई गाथा के अर्थ के स्मरण से पृथ्वी पर मिले हुए चरणवालों, पसीने से मलिन हाथवालों, मुझाँई हुई मालाओंवाले और पलकारों से युक्त नयन-मालावाले उन्हें देखकर रौहिणेय ने कहा कि-मैंने पूर्व जन्म में सात क्षेत्रों में धन को बोया था, कदापि चोरी आदि नहीं की, दानादि धर्म से इसे प्राप्त किया है, इत्यादि सुनकर मंत्रियों ने कहा कि-

ऐसे दंभ से भी जो ठगा नहीं गया है, वह मोचनीय ही है, इस प्रकार से नीति-पर मंत्रियों ने उसे राजा की आज्ञा से छोड़ दिया ।

पिता की आज्ञा को धिक्कार है, हा ! जिससे इतने काल तक मैं ठगा गया हूँ । इच्छा के बिना भी एक बार वीर वाक्य के श्रवण से इस भव में प्रत्यक्ष गुण हुआ और पर भव में भी इससे ही होगा । अब भगवान् के द्वारा कहे हुए धर्म को अच्छी प्रकार से सुनकर स्व जन्म को सफल करूँगा, जैसे कि-

जिन-वचन रूपी चक्षु से विरहित लोग न देव को, न अदेव को, न कलंक रहित गुरु को, न कुगुरु को, न धर्म को, न अधर्म को, न गुण से युक्त को, न गुण-हीन को, न कृत्य को, न अकृत्य को, न हित को, न अहित को और न ही निपुण को देखते हैं ।

इस प्रकार से सोचकर और श्रीवीर के समीप में जाकर इस प्रकार से देशना सुनी कि-

मनुष्य चोरी से यहाँ विविध यातनाओं को और पर-लोक में नरक में गति, दौर्भाग्य और दरिद्रत्व को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार से जिन-वाणी को सुनकर और द्वादश व्रतों को ग्रहण कर श्रेणिक के आगे स्व वंश, नाम, कर्मादि का निवेदन कर पर्वत की गुफाओं में रखा हुआ धन नगर-वासीयों को देकर और स्वयं प्रव्रज्या ग्रहण कर स्वर्ग में गया ।

यहाँ पर दंभ से जिस देव-ऋद्धि को देखकर, उसे सत्य से देखने की इच्छा से उत्सुक हुए उस रौहिणेय ने श्रीवीर के वचनों से चोरी का संयम कर दिव्य और दंभ रहित देव संपत्ति को धारण की थी ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में अस्सीवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।

इक्यासीवाँ व्याख्यान

पुनः इस व्रत की स्तुति करते हैं कि-

आहत, स्थापित, नष्ट, विस्मृत, पतित और स्थित धन को जो अपना न हो उसे ग्रहण न करें, इस प्रकार से यह अस्तेय अणुव्रत हैं ।

आहत-किसी के द्वारा अपहरण कर दीये हुए को । स्थापित-किसी के द्वारा स्व पास में अथवा भूमि में रखे हुए को । नष्ट-स्वामी के द्वारा जो नहीं जाना जाय ऐसे कहीं पर गये हुए धन को । विस्मृत-कहीं पर रखे हुए को जो स्वामी के द्वारा स्मरण न किया जा सके । पतित-जाते हुए वाहनादि से नीचे गिरे हुए को । स्थित- जो स्वामी के पास में रहा हुआ हो । किसी भी द्रव्य-क्षेत्र और आपदा में चतुर जन ऐसे पर धन को ग्रहण न करे ।

यहाँ प्राणांत में भी कुलीन पुरुष दो कार्यों को नहीं करता है- पर द्रव्यों का अपहरण और पर-स्त्रियों का आलिंगन ।

आगे स्थित स्वर्णादि अन्य धन पर पत्थर सदृश जिनकी मति सदा रहती है, संतोष रूपी अमृत के रस से तृप्त हुए वें गृहस्थ भी स्वर्ग को प्राप्त करते हैं ।

इस प्रकार से तृतीय अस्तेय अणुव्रत को जाने, यह अर्थ है । इस विषय में परमार्हत राजा का यह प्रबंध है-

पाटण में श्रीहेमसूरि राजा के आगे अदत्तादान व्रत की स्तुति करते हैं कि-

पर धन को चुराते हुए इस लोक को, पर-लोक को, धर्म को, धैर्य, धृति और मति को- इन सभी को चुराया है ।

इस प्रकार से कहने पर राजा ने कहा कि-

जो-जो निष्पुत्र मरण को प्राप्त करता है, हा ! कष्टकारी है, हताशा से और धन-आशा से राजा उसके-उसके पुत्रपने को स्वीकार करते हैं ।

उससे आज से लेकर मैंने अदत्त धन को और मृत को छोड़ ही दिया है । मुझे तृतीय-व्रत का अंगीकार हो । इस प्रकार से स्वीकार कर और राज-सभा में पंच जनों को बुलाकर उनसे पूछा । तब उन्होंने कहा कि- प्रति वर्ष बहोत्तर लाख द्रव्यों का आय होता है । यह जानकर राजा ने मृत द्रव्य को छोड़ दिया और पट्टक पत्र को फाड़ डाला । इस प्रकार उसने अठारह देशों में चौर्य वृत्ति और मृत धन के परिहार में पटह बजवाया ।

एक बार सभा में चार प्रधान महा-जन आकर और राजा को नमस्कार कर बैठें । उनको विलक्ष देखकर राजा ने कहा कि- आज सभा में आने में कौन-सा हेतु हुआ है ? यह वैलक्ष्य क्यों है ? क्या कोई पराभव हुआ है ? तत्पश्चात् उन महाजनों ने कहा कि-

हे राजेन्द्र ! हे जन-वत्सल ! आपके द्वारा पृथ्वी के शासन कीये जाने पर प्रजाओं का पराभव अथवा असमाधि कहाँ से हो ?

परंतु गुर्जरपुर व्यापारियों में प्रधान यहाँ का कुबेर श्रेष्ठी समुद्र में आता हुआ मरण को प्राप्त हुआ । निःपुत्र उसका परिवार आक्रन्दन कर रहा है । यदि राजा उसके गृह के द्रव्य को आत्मसात् करेगा, तब उसका अन्त्येष्टि संस्कार किया जायगा । उसका धन नहीं गिना जा सकता है । तब राजा ने कहा कि- हे महा-जनों ! मैंने मृत धन ग्रहण का प्रत्याख्यान किया है, किन्तु हम उसके गृह-सार को देखें । इस प्रकार से कहकर प्रधान आदि से घेरा हुआ राजा उसके घर आया । तत्पश्चात् स्वर्ण कलशों की श्रेणि, झंकार करती हुई घूँघरूँओं के शब्द से वाचालित हुई दिशा मंडल, कोटिध्वज की श्रेणि, हस्तिशाला और

अश्व-शाला से शोभित कुबेर के गृह को देखकर प्रधानों के द्वारा दिखाये गये स्फटिक शिला से निर्मित चैत्यालय में गया । वहाँ चैत्य में मरकत-मणिमय श्रीनेमि जिन को नमस्कार कर रत्न और स्वर्ण के कलश, थाल, आरती, मंगल-दीपादि देव-पूजा उपकरण आदि को देखकर कुबेर के द्वारा लिखित व्रत टिप्पनी को पढ़ा । वहाँ परिग्रह के प्रमाण में छह करोड़ स्वर्ण, मोतीयों के आठ सो तुला, महा-मूल्यवान् दस मणि, घी-तेल आदि और धान्य की प्रत्येक से दो हजार कुंभ खारी, पचास हजार वाहन, हजार हाथी, अस्सी हजार गाय, हल, दूकानों की श्रेणि, घर, यान-पात्र और बैल-गाड़ियों के प्रत्येक के भी पाँच-पाँच सो । पूर्वजो के द्वारा उपार्जित की गयी इतनी लक्ष्मी मेरे गृह में हो । पुनः इससे निज भुजाओं से उपार्जित की गयी लक्ष्मी को पात्रसात् करूँगा ।

इस प्रकार के ऋद्धि पत्र के वांचन से आनंदित हुआ राजा जब विस्मय सहित गृह के आंगण में आया, तब कुबेर की माता गुणश्री रुदन करती हुई देखी गयी कि-

हे पुत्र कुबेर, गुणों की खान ! तुम कहाँ गये हो ? मुझे उत्तर दो । हा वत्स ! लक्ष्मी को देखो, तेरे बिना राज-गृह में जा रही है ।

उसे सुनकर राजा ने सोचा कि-

आर्य जन जो इस प्रकार से कहते हैं कि- राज्य नरकान्तवाला होता है, वह निश्चय ही रोती हुई स्त्री के धन के आकर्षण के पाप से है ।

कुबेर की माता, पत्नी आदि के आक्रन्द को सुनकर राजा ने कहा कि- हे माता ! तुम क्यों शोक कर रही हो ? क्योंकि-

कीट से लेकर इंद्र तक प्राणियों को मरण निश्चित ही है, बांधवों का संबंध एक वृक्ष पर रहे हुए बहुत पक्षियों के समूह के संगति के समान है, मृत हुए का वापिस आना प्रायः कर पत्थर के तल

पर स्थित जलायें हुए बीज के उगने के समान है, उससे अकुशल पुरुषों के द्वारा शोक से व्यर्थ ही यह आत्मा क्लेश को प्राप्त करायी जा रही है ।

इस प्रकार से उपदेश देकर राजा ने पूछा कि- कौन आया है ? गुणश्री ने कहा कि- यह वामदेव नामक मित्र है । राजा के द्वारा कुबेर का वृत्तांत पूछने पर उसने कहा कि- हे देव ! यहाँ से भृगुपुर में जाकर पाँच-पाँच सो पुरुषों से युक्त पाँच सो जहाजों से अन्य तट को प्राप्त किया । वहाँ पर चौदह करोड़ स्वर्ण का लाभ हुआ । वहाँ से वापिस लौटनेवालों के साथ ही पाँच सो जहाजों को प्रतिकूल वायु ने विषम पर्वत के वलय संकट में गिराया । पूर्व से ही किसी के पाँच सो जहाज वहाँ पर थें । श्रेष्ठी उनके नहीं निकलने से खेदित हुआ । इसी बीच नाव में चढ़ा हुआ कोई नाविक आया और उसने कहा कि- तुम निकलने के उपाय को सुनो-

यहाँ समीप में पंचशृंग द्वीप है । वहाँ पर सत्यसागर राजा है । एक बार शिकार के लिए आये हुए उसने सगर्भिणी हिरणी को मारा । हिरण भी उस दुःख से मृत हुआ । यह देखकर सत्यसागर ने अमारि पटह बजवाया । आज पूर्व में भेजे हुए तोते के मुख से तुम्हारी आपदा को जानकर मुझ नाव के स्वामी नाविक को भेजा है । इस पर्वत के ऊपर भाग में द्वार है । उसमें से प्रवेश कर पर्वत के अन्य पास में जाया जाता है । वहाँ उज्जड़ नगर है । उस नगर के जिन-चैत्य में जाकर पटह बजाया जाएँ तो उसके शब्द से भय-भीत हुए सभी भारंड पक्षी उड़ जायेंगे, तब उनके पंख के वायु से नाव मार्ग में गिरेंगे । तत्पश्चात् वहाँ जाने में अनिच्छुक अन्य लोगों को देखकर दयावान् कुबेर ही गया । वहाँ जाकर उसने नाविक का कहा किया । हजार जहाज निकल गये और क्षेम से भृगुपुर में प्राप्त हुए । उससे आगे मैं कुबेर के स्वरूप

को नहीं जानता हूँ। इसलिए हे राजन् ! आप बीस करोड़ स्वर्ण, आठ करोड़ चाँदी और हजार तुला मित रत्नों को ग्रहण करो। उस द्रव्य की तृण के समान ही अवगणना कर राजा ने कहा कि- हे माता ! तुम्हारा पुत्र शीघ्र ही आयगा। तुम यथेच्छा से इस सर्व द्रव्य को धर्म में वितरण करो। इस प्रकार से आश्वासित कर जब वह निकलने लगा, उतने में ही वह कुबेर पत्नी सहित विमान में बैठा हुआ वहाँ पर आया। बड़ा आश्चर्य हुआ। माता और राजा को प्रणाम कर स्थित हुए उससे राजा ने पूछा कि- हे साहस रूपी धनवाले ! उस शून्य नगर में क्या हुआ था ? कुबेर ने कहा कि-

हे स्वामी ! उस नगर में मैंने एक महल में एक कन्या देखी। उस कन्या ने कहा कि- मैं पातालकेतु विद्याधर की पुत्री हूँ। मुझे कन्या जानों। वह मेरा पिता मांस की लोलुपता से कितने ही काल से बिल्ली का भक्षण कर रहा था। उससे वह मांस भक्षण का व्यसन-वाला राक्षस हुआ है। उसने सभी नागरिकों का भक्षण किया है। अब वह आहार के लिए कहीं पर गया हुआ है। इसी अवसर पर उसके माता और पिता ने आकर मुझे कन्या दी। मैंने भी हाथ-मोचन में उससे मांसादि का नियम माँगा और उसे प्रतिबोधित किया। व्रत का स्वीकार कर उस विद्याधर ने मुझे विमान में चढ़ाकर पत्नी सहित यहाँ लाकर छोड़ा है। वह स्व-स्थान पर चला गया है। यह सुनकर विस्मित हुए श्रीचौलुक्य ने कहा कि- तुम धन्य हो, जिसने संकट में भी स्व-नियम को नहीं छोड़ा है। इस प्रकार से प्रशंसा कर राजा गुरु वंदन करने के लिए गया। तब गुरु ने कहा कि-

अपुत्रों का धन ग्रहण करता हुआ राजा पुत्र होता है और संतोष से छोड़ते हुए तुम सत्य ही राज-पितामह हो।

राजर्षि, धर्माहृत, नीति-राघव, चौलुक्य सिंहादि नाम को

धारण करनेवाला नित्य ही पर-धन के ग्रहण में पराङ्मुख और जिनेन्द्र आगम को जाननेवाला कुमारपाल जयवंत हो ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में इक्यासीवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



बयासीवाँ व्याख्यान

अब इस व्रत के पाँच अतिचारों को कहते हैं-

स्तेनानुज्ञा, उनके द्वारा लाये हुए का आदान, वैरुद्धयगामुक, प्रतिरूप-क्रिया, मान का अन्यत्व- ये चोरी से संश्रित हैं ।

स्तेन अर्थात् चोर, उनको अनुज्ञा या चोरी की क्रिया में प्रेरणा । जैसे कि- आज-कल तुम क्यों व्यापार रहित रह रहे हो ? यदि भोज्य सामग्री नहीं है तो मैं तुमको देता हूँ । यदि तुम्हारे द्वारा लायी हुई वस्तु का विक्रेता नहीं है, तो मैं विक्रय करूँगा । इत्यादि वचनों से अथवा चोरी के उपकरण हल की फाली आदि के अर्पण से चोरों को चोरी की क्रिया में नियोजित करना । इस प्रकार से करने पर वह भी चोर ही है । नीतिग्रन्थ में कहा है कि-

चोर, चोर को अर्पण करनेवाला, मंत्री, भेदज्ञ, चोरी की गयी वस्तु को खरीदनेवाला, अन्न देनेवाला और स्थान देनेवाला- इस प्रकार से सात प्रकार के चोर कहे गये हैं ।

यहाँ पर भी भंग के सापेक्ष और निरपेक्ष से प्रथम अतिचार है । तथा तत् शब्द से चोर के साथ परामर्श है ।

चोरों के द्वारा लायी गयी कुंकुमादि को मूल्य आदि से आदान-ग्रहण करना । लोभ के दोष से चुरायी हुई वस्तु को खरीदने

से इसे ग्रहण करता हुआ चोर कहा जाता है । इस प्रकार से चोरी के करने से व्रत-भंग है, मैं व्यापार ही कर रहा हूँ न कि चोरी, इस प्रकार के अध्यवसाय से व्रत के निरपेक्षत्व के अभाव से अभंग है, ऐसे उभय रूप से यह द्वितीय अतिचार है ।

वैरुध्य राज्य में, यह शेष है । वैरि-शत्रु के राज्य में, राजा के द्वारा अनुमति नहीं दीये हुए राज्य में वाणिज्य के लिए, गामुक-गमनशील । उपलक्षणत्व से राजा द्वारा निषेध कीये हुए दाँत, लोह, पत्थर आदि का ग्रहण है । यद्यपि स्व स्वामी के द्वारा अनुमति नहीं दीये हुए को "स्वामी-जीवादत्त तीर्थंकर तथा ही गुरुओं के द्वारा, इस प्रकार इससे उसके करनेवाले को चोरी दंड के योग से अदत्तादान रूप में होने से व्रत का भंग ही है, तो भी विरुद्ध गमन करनेवाले मेरे द्वारा व्यापार ही किया गया है, न कि चोरी, इस प्रकार की बुद्धि से लोक में यह चोर है, इस प्रकार की प्रसिद्धि के अभाव से अतिचारता ही है, इस प्रकार से यह तृतीय अतिचार है ।

तथा प्रतिरूप-सदृश, चावलों में पलंजि धान्य विशेष का मिश्रण, और घी में वसा, तैल आदि का मिश्रण इत्यादि से क्रिया व्यापार करना वह चतुर्थ अतिचार है ।

तथा इससे मापा जाता है, वह मान है और वह सेतिका, हाथ आदि है, उस मान का अन्यत्व जैसे कि- हीन मान से देना और अधिक से ग्रहण करना, यह पाँचवाँ अतिचार है । प्रतिरूप क्रिया और मान का अन्यत्व दूसरों को ठगने के द्वारा पर द्रव्य को ग्रहण करने से भंग ही है, केवल कुदाली से खोदना आदि चोरी ही प्रसिद्ध है, मैंने तो वणिग् कुल प्रयोग जीवन-वृत्ति ही की है, इस प्रकार की बुद्धि से सापेक्षत्व के होने से अतिचार है । चोरी में संश्रित हुए ये त्याज्य हैं, यह तात्पर्य है ।

अथवा कूट तुला और मान के करण में चोरत्व प्रकट ही है ।
जो कि कहते हैं कि-

थोड़ी-सी लालसा से, थोड़ी-सी कला से, थोड़ा-सा माप से और थोड़ा-सा तराजू से । थोड़ा-थोड़ा-सा लेते हुए व्यापारी प्रत्यक्ष चोर हैं ।

श्रावक को ऐसा योग्य नहीं है और इस व्रत का पालन व्यवहार की शुद्धि से ही होता है, जैसे कि-

जिन शुद्ध चित्तवालों को पर धन के ग्रहण में नियम है, स्वयं ही स्वयंवरा हुई लक्ष्मी उनके समीप में आती हैं ।

गृहस्थों को अन्याय से उपार्जित धन वर्ष आदि के प्रान्त में राजा, चोर, अग्नि, जल आदि से भी हरण कीये जाने के कारण से चिर स्थायी नहीं है और न ही उपभोग, पुण्य-चयादि का हेतु होता है । कहा भी है कि-

अन्याय से उपार्जित धन दस वर्ष तक रहता है । ग्यारहवें वर्ष के प्राप्त हो जाने पर मूल सहित लगभग विनाश होता है ।

वंचकश्रेष्ठी के समान और वह इस प्रकार से है-

किसी सन्निवेश में हेलाक श्रेष्ठी था, उसकी पत्नी हली थी । उन दोनों का पुत्र भालक था । श्रेष्ठी मधुर आलाप, कूट तुला, मान, नये-पुराने के मिश्रण, रस-भेद, चोर के द्वारा लायी वस्तु को ग्रहण करना इत्यादि पाप व्यवहार के प्रकारों से मुग्ध ग्रामीण लोगों को ठगने की वृत्ति से धनार्जन करता था । परमार्थ से वह दूसरों को ठगने से स्व-आत्मा को ही ठग रहा था, क्योंकि-

माया से बक की वृत्ति के समान कौटिल्य में पटु पापी भुवन को ठगते हुए खुद को ही ठग रहे हैं ।

अन्याय से आने से वर्ष के प्रान्त में मिला हुआ भी द्रव्य चोर,

अग्नि, राजा आदि के द्वारा अपहरण किया गया । क्रम से पुत्र को यौवन में ग्रामान्तर वासी सुश्रावक श्रेष्ठी की पुत्री से विवाहित किया । वधू घर में आयी । वह श्राविका धर्म को जानती थी । श्रेष्ठी की दूकान घर के समीप में ही थी । श्रेष्ठी ग्रहण, देने आदि के अवसर पर पूर्व में संकेतित पंच पोष्कर, तीन पोष्कर के मान के संबंध से पुत्र को भी पंच पोष्कर, तीन पोष्कर रूप दूसरे नाम से बुलाता था । क्रम से इस वृत्तांत को जानकर लोगों ने श्रेष्ठी का वञ्चकश्रेष्ठी इस प्रकार से नामान्तर दिया ।

एक बार वधू ने भर्ता से पूछा कि- किस कारण से पिताजी आपको दूसरे नाम से बुलाते हैं ? उसने सर्व भी व्यवसाय का व्यतिकर कहा । धर्मार्थी वधू ने श्रेष्ठी से विज्ञप्ति की कि- इस प्रकार पाप व्यवहार आदि से अर्जन किया हुआ धन न धर्म कार्य में और न ही भोग के लिए और न ही गृह में रहता है । उससे न्याय से धनार्जन श्रेयकारी है । श्रेष्ठी ने कहा कि- न्याय से व्यवहार करनेवाले का निर्वाह कैसे होगा ? कोई-भी जन विश्वास नहीं करेगा । वधू ने कहा कि- जैसे कि- सुक्षेत्र में बोये हुए स्वल्प बीज से बहु फल के समान, स्वल्प भी व्यवहार शुद्ध धन से बहुत मिलता है और वह अधिक रहता है तथा निःशंकता से भोगादि की प्राप्ति होती है, जैसे कि-

तपाये हुए पात्र के ऊपर जैसे पानी का बिन्दु नहीं दिखायी देता, वैसे ही कूट मान, तुला आदि से जो कुछ-भी धन अर्जन किया जाता है, वह दिखायी नहीं देता, नष्ट ही होता है ।

अन्याय से उपार्जित किया गया धन अशुद्ध होता है । अशुद्ध द्रव्य से आहार भी अशुद्ध होता है, अशुद्ध आहार से शरीर भी अशुद्ध होता है । अशुद्ध देह से जो-जो शुभ कृत्य कभी किया जाता है, ऊषर भूमि में स्थापित कीये हुए बीज के समान ही वह-वह सफल नहीं

होता ।

यदि विश्वास न हो तो छह मास पर्यंत कूट वृत्ति के परिहार के द्वारा न्याय वृत्ति से व्यवसाय करे । वधू के वचन से श्रेष्ठी ने वैसा किया । छह मास में पाँच सेर मित स्वर्ण का अर्जन किया । सत्य व्यवहार से सभी लोग उसी की दूकान में ग्रहण करते थे और देते थे । लोक में कीर्ति और सभी को विश्वास उत्पन्न हुआ । स्वर्ण लाकर उसने वधू को समर्पित किया । वधू ने कहा कि- परीक्षा की जाय । उससे पंचसेरी बनवायी और उसे चर्म से वेष्टित तथा स्व नाम से अंकित करवाकर तीन दिनों तक राज-मार्ग पर छोड़ा । किसी ने भी उसे नहीं देखा । उसे लेकर किसी महाजलाशय में डाला । मत्स्य ने उसे निगला । वह मत्स्य भी किसी मच्छीमार के जाल में गिरा । उसके विदारण के पश्चात् पंचसेरी बाहर निकली । नाम से पहचान कर मच्छीमार उसे श्रेष्ठी के दूकान में ले आया । उसे थोड़ा धन देकर उस पंचसेरी को लिया । वधू के वचन पर विश्वास हुआ । शुद्ध व्यवहार परत्व से बहुत धन का उपार्जन करते हुए और सात क्षेत्रों में अनेक प्रकार से व्यय करते हुए उसने प्रौढ़ श्रेष्ठता प्राप्त की । तत्पश्चात् सभी लोग इसका द्रव्य सफेद है इस प्रकार से कर व्यवसाय आदि के लिए ग्रहण करते थे । जहाज को भरने में भी उसी का द्रव्य निर्विघ्न वृत्ति के लिए डाला जाता है । काल से उसके नाम से भी सर्वत्र ऋद्धि है, इस प्रकार से कर आज भी जहाज चलाने के अवसर में लोग 'हेलासा' इस प्रकार से कहते हैं । इस प्रकार से शुद्ध व्यवहार में वञ्चकश्रेष्ठी का दृष्टान्त है ।

इस प्रकार यहाँ भी शुद्ध व्यवहार प्रतिष्ठा का हेतु है । उससे परमार्थ से न्याय ही धन के उपार्जन के उपायों का उपनिषद् है ।

नाव के समूह क्षेम से जाये इसलिए नाविक ऊँच भाषाओं से

हेलेसा इस प्रकार से रटन करते हैं । वह तेज अदत्तादान के सत्त्व से ही उत्पन्न हुआ है ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छट्टे स्तंभ में बयासीवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



तिरान्सीवाँ व्याख्यान

अब इस व्रत को ग्रहण नहीं करने से जो फल प्राप्त होता है उस को कहते हैं कि-

जैसे दूध को पीनेवाली बिल्ली ऊपर स्थित लकड़ी को नहीं देखती, वैसे ही पर धन को ग्रहण करता हुआ चोर वध, बन्धादि को नहीं देखता ।

शिकारी, मच्छीमार, बिल्ली आदि से चोर अधिक होता है, क्योंकि यह राजाओं के द्वारा निग्रहित किया जाता है न कि इतर ।

भावार्थ तो इस प्रबंध से जानें-

श्रेणिक के पिता प्रसेनजित् के राज-पुर राजगृह में लोहखुर चोर था । एक बार द्यूत क्रीड़ा कर और याचकों को जीता हुआ द्रव्य देकर, क्षुधा से आक्रान्त हुआ दो प्रहर के पश्चात् भोजन के लिए स्व गृह में जाता हुआ राजा के महल से आती सरस रसोई की सुगंध को सूँघकर उसने सोचा कि- मुझे अब्जन-विद्या से कुछ-भी गहन नहीं है । जाकर मैं राज-भोजन को करता हूँ । अदृश्य विद्या से राजा के साथ एक पात्र में भोजन कर स्व-गृह गया । इस प्रकार से वह प्रति-दिन रस की गृद्धि से वहाँ आने लगा । जो कि कहा गया है कि-

इंद्रियों में जीभ, कर्मों में मोहनीय, तथा व्रतों में ब्रह्मचर्य और

गुप्तियों में मनो-गुप्ति -यें चारों ही दुःख से जीते जातें हैं ।

बहुत दिनों के बाद राजा कृश अंगवाला हुआ । मंत्री ने राजा से कहा कि- हे स्वामी ! क्या आपको अन्न के ऊपर अरुचि हुई है ? क्योंकि-

चन्द्र से हीन रात्रि के समान ही अन्न से हीन शरीर, नयन से हीन मुख, न्याय से हीन राज्य, लवण से हीन भोजन और धर्म से हीन बहुत जीवन नहीं शोभता है ।

अथवा कोई चिन्ता है ? क्योंकि-

सदा भी शरीर में रही हुई चिन्ता शरीर का दहन करती है और दुष्ट पिशाच के समान नित्य ही रुधिर और मांस का भक्षण करती है ।

राजा ने कहा कि- हे मंत्री ! यह बड़ा आश्चर्य है । मैं प्रति-दिन द्विगुण भोजन करता हूँ । कोई अञ्जन सिद्ध पुरुष मेरे साथ भोजन कर रहा है, उससे नारक के समान उदर-अग्नि शांत नहीं हो रही है । यह सुनकर मंत्री ने रसोई-गृह के स्थान में सर्वत्र सूखे हुए आक के फूल डालें । उसके पाँव के आघात से फूल चूर्ण हुए देखकर और राजा का कहा निश्चय कर द्वितीय दिन चोर के दोनों पैरों से आक के पुष्पों को चूर्ण कीये जाते हुए मार्ग से चोर को जानकर और द्वार पर अत्यंत दृढ़ अर्गल देकर पूर्व में गुप्त कीये हुए तीव्र धूम को प्रसारित किया । धूम से व्याकुल हुए चोर के अश्रु पात से नयनों में स्थित अञ्जन गला । सभी ने उसे प्रत्यक्ष देखा और बाँधकर उसे राजा के आगे ले गए । चोर ने विचार किया कि- विधि-वशात् मुझे भोजन और गृह दोनों भी नष्ट हुए हैं, क्योंकि-

ग्रीष्म काल में दाह से पीड़ित, अत्यंत चंचल हुआ और प्यास से आकुलित अंगवाला हुआ श्रेष्ठ हाथी सरोवर को पूर्ण देखकर

शीघ्र से उसके समीप में गया । वह तट के निकटवर्ती कीचड़ में वैसे मग्न हुआ, जिससे कि न तीर और न ही नीर था, विधि के वश से उसे दोनों भी विनष्ट हुए ।

अन्य यह भी है कि-

मणि, मंत्र और औषधों से सर्प के द्वारा डँसे हुए लोग स्वस्थ देखे गये हैं । पुनः राजाओं के द्वारा और दृष्टि-विष सर्पों के द्वारा डँसा हुआ जन उठ खड़ा होता नहीं देखा गया ।

राजा की आज्ञा से उस चोर को नगर के चौराहें में घूमाकर सुभटों ने उसे शूलिका के ऊपर चढ़ाया । तत्पश्चात् राजा के सुभट गुप्तरीति से देखने लगे कि- कौन पुरुष इसके साथ वार्त्ता करता है ? इसके समीप में सर्व नगरवासीयों के हरण कीये हुए धन को ढूँढना चाहिए, इस प्रकार की बुद्धि से वे स्थित हुए थे । इस प्रस्ताव में जिनदत्तश्रेष्ठी उस मार्ग में आया । उसने आक्रन्दन करते हुए चोर से कहा कि-

यहाँ चोरी रूपी पाप वृक्ष का फल, वध, बन्ध आदि है और परलोक में नरक-वेदना रूपी फल हैं ।

जो कर्म उपार्जन किया गया है, वह अन्यथा नहीं होता । तुम प्रान्त में भी मन में अदत्तादान आदि व्रतों का अंगीकार करो । चोर ने कहा कि-

शृगालों ने दोनों पैरों का भक्षण किया है और कौवों ने सिर को जर्जरित किया है, इस प्रकार से पूर्व कर्म आया है, अब मैं क्या करूँ ?

यहाँ तुम मुझे शीघ्र से पानी पीलाओ । राज-विरुद्ध जानकर श्रेष्ठी मौन रहा । पुनः भी दीन आलापों से वैसा आलापित किया गया जिससे कि साहस को धारण कर श्रेष्ठी ने कहा कि- हे भद्र ! तुम भव में कीये हुए पापों की आलोचना करो । उसके द्वारा भी स्व-पाप

के कहने पर श्रेष्ठी ने उसे चोरी आदि का प्रत्याख्यान कराया । हे भद्र ! एकत्व और अन्यत्व भावना से क्षणार्ध में ही पाप नष्ट हो जाते हैं । तुम सर्व जीवों को मैत्री के भाव से देखो । तुम आपदा से उद्धार कारक इस नमस्कार मंत्र का संस्मरण करो । मैं जल के लिए जाता हूँ । चोर ने कहा कि- हे कृपानिधि ! इस प्रत्याख्यान और मंत्र से मेरा पाप जायगा ? श्रेष्ठी ने कहा कि-

हजारों पापों को कर तथा सैंकड़ों जन्तुओं को मारकर और इस मंत्र का जाप कर तिर्यंच भी स्वर्ग में गये हैं ।

इत्यादि से उसे उपदेश देकर स्वयं ही जल के लिए गया । उस समय आयु के बंधन से समाधि से मरकर चोर सौधर्म में देव हुआ । यह सत्संगति का फल है, क्योंकि-

महानुभावों का संसर्ग किसको उन्नति कारक नहीं है ? गंगा में प्रविष्ट हुआ सड़क का पानी देवों के द्वारा भी वंदन किया जाता है ।

श्रेष्ठी भी जल ग्रहण कर आया । उसे मृत देखकर स्वयं के द्वारा आचरण कीये राज-विरुद्ध को जानकर शक्रावतार चैत्य में कायोत्सर्ग से स्थित हुआ । सुभटों ने सर्व वृत्तांत राजा से निवेदन किया । राजा ने आदेश दिया कि- हे सुभटों ! इस गाय के समान मुखवाले सिंह को चोर के समान ही विडंबित कर मारो । सुभटों ने चैत्य में स्थित श्रेष्ठी को राजा का आदेश कहा । वह ध्यान से चलित नहीं हुआ । तब वे विडंबना करने लगे । उतने में वह लोहखुर देव भव प्रत्यय अवधिज्ञान से धर्म-गुरु की ऐसी अवस्था को देखकर सोचने लगा कि-

एक अक्षर के भी, अर्ध पद के अथवा एक पद के दाता को विस्मरण करता हुआ पापी है । पुनः धर्म का उपदेश देनेवाले को विस्मरण करनेवाले की क्या बात करें ?

इस प्रकार से विचार कर और प्रतिहार का वेष कर तथा दंडों से मारकर देव ने योद्धाओं को मूर्च्छा को प्राप्त कराये । नगर-वासी और चतुरंग सेना से घेरा हुआ राजा वहाँ पर आया । तब देव ने कहा कि- तुम बहुतों से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि-

कृश भी सिंह गजेन्द्रों से समान नहीं है, सत्त्व ही प्रधान है न कि मांस-राशि ! वन में हाथियों के अनेक वृन्द सिंह के नाद से मद का त्याग करते हैं ।

इस प्रकार से कहकर राजा के बिना उन्हें भी भूमि पर गिराया । नगर के ऊपर आकाश में शिला की विकुर्वना कर उपद्रव करने लगा । राजा-मंत्री आदि अञ्जलि कर कहने लगे कि- हमारे अपराध को क्षमा करो । देव ने कहा- निरपराध हमारे धर्म-गुरु जिनदत्त को क्यों बाधा की है ? इसकी महिमा से मैंने इस देव-ऋद्धि को प्राप्त की है । इस प्रकार से कहकर उसने सर्व वृत्तांत कहा । राजा ने कहा-

प्रथम वय में पीये हुए अल्प पानी का स्मरण करते हुए सिर पर भार को स्थापित कीये नारियल आजीवितान्त मनुष्यों को अमृत तुल्य पानी देते हैं । साधु कीये हुए उपकार का विस्मरण नहीं करते है ।

उससे प्रसन्न हुए देव ने कहा कि- तुम सब मेरे गुरु के पैरों में नमस्कार कर प्रणाम करो । उसके मुख से नमस्कार मंत्र और चोरी आदि व्रत को ग्रहण करो । सभी ने वैसा किया । जिनदत्त बड़े महोत्सव पूर्वक स्व गृह में आया । लोग भी परस्पर प्रत्यक्ष से जैन-धर्म की प्रशंसा करने लगे ।

लोह की शूलि के ऊपर चढ़ाये जाने पर भी जिनदत्त के संग से अहो ! जिस लोहखुर ने अल्पकाल के नियम को धारण करते हुए आद्य विमान में देव-ऋद्धि को अलंकृत की थी ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश- प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में तीरासीवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



चौरासीवाँ व्याख्यान

पुनः इस व्रत की स्तुति करते हैं कि-

अदत्तादान नियम के ग्रहण में एक रत हुआ मनुष्य लक्ष्मीपुञ्ज के समान दोनों भवों में बड़े पद को प्राप्त करता है ।

सामान्य से अदत्तादान दो प्रकार से हैं- सचित्त से और अचित्त से । सचित्त-द्विपद आदि है, अचित्त-आभरण आदि है । उन दोनों का नियम-विरति, यह अर्थ है ।

श्लोक में कहा हुआ यह वृत्तांत है -

हस्तिनागपुर में सुधर्म वणिक् था और उसकी गृहिणी धन्या थी । वे दोनों दारिद्र्य के दुःख से काल को व्यतीत कर रहें थे । एक दिन रात्रि में स्त्री ने स्वप्न में पद्म-द्रुह में कमल में स्थित लक्ष्मीदेवी देखी । प्रातःकाल में उसने स्व पति से निवेदन किया । आनंदित हुए उसने कहा कि- हमारा यह दारिद्र्य चला जायेगा । तब कोई स्वर्ग से च्युत हुआ देव उस स्त्री की कुक्षि में अवतीर्ण हुआ । तब पूर्व के मित्र देवों ने उसके गृह में स्वर्णादि की वृष्टि की । नौ मास के पूर्ण हो जाने पर उसने पुत्र को जन्म दिया । तब स्व-जनों ने लक्ष्मीपुञ्ज इस प्रकार से उसका यथार्थ नाम किया । वह बालक शुक्ल पक्ष के चन्द्र की कान्ति के समान वृद्धि को प्राप्त करने लगा । स्वयंवर में उसने श्रेष्ठियों की आठ कन्याओं से विवाह किया । एक दिन वह स्व महल में उनके साथ सौख्य का अनुभव करते हुए स्थित था, तभी किसी

देव ने प्रकट होकर उसे इस प्रकार से कहा कि- हे मित्र ! तुम्हारे पूर्व भव को सुनो-

पहले तुम मणिपुर में गुणधर नामक सार्थवाह थें । एक बार तुमने धर्मदेव की यह वाणी सुनी कि-

द्रव्य का हरण प्राणी को मरण से भी दुःखदायी होता है, इसलिए सुकृतियों को चौर्य-विमोचन व्रत करना चाहिए ।

तथा लौकिक में भी-

कूट साक्षी, मित्र-द्रोही, कृतघ्न और चोरी-कारक-यें चारों कर्म-चांडाल हैं और पाँचवाँ जाति में जन्म लेनेवाला हैं । जैसे कि-

मनु चांडाली से पूछता है कि- हे मदिरा और मांस का भक्षण करनेवाली । तेरे हाथ में मनुष्य का कपाल है । तेरे दक्षिण हाथ में पानी क्यों हैं ?

चांडाली कहती है कि-

कदाचित् मार्ग पर मित्र-द्रोही, कृतघ्न, चोर अथवा विश्वास-घातक चला हो, उससे यह छटा डाली जाती है । कदाचित् मार्ग पर कूट साक्षी देनेवाला, मृषावादी, पक्षपाती अथवा कलहकारी चला हो, उससे यह छटा डाली जाती है । अग्नि-शिखा का स्पर्श श्रेष्ठ है, सर्प के मुख को चूमना श्रेष्ठ है, हलाहल विष को चाटना श्रेष्ठ है लेकिन पर-धन का हरण श्रेष्ठ नहीं है ।

इस प्रकार से देशना को सुनकर उसने अदत्तादान की विरति की ।

एक दिन वह सार्थवाह बहुत सार्थ से युक्त अधिक धन लाभ के लिए देशांतर में गया । अश्व पर चढ़ा एक बार सार्थ से भ्रष्ट हुए और महारण्य में जाते हुए उसने सामने भूमि पर स्थित लक्ष मूल्यवाली स्वर्ण माला को देखकर तृतीय व्रत भंग के भय से ग्रहण नहीं की ।

मार्ग में घोड़े के खुर से उखाड़ी हुई भूमि में द्रव्य से पूर्ण ताम्र कुंड को देखकर उसे कंकर के समान मानकर आगे ही चलते हुए सहसा मूर्च्छा को प्राप्त घोड़े को देखकर उसने सोचा कि- यदि कोई इस घोड़े को सज्ज करे, तो मैं उसे निज सर्व धन दूँगा। इस प्रकार से सोचकर प्यास से पीड़ित हुआ जब वह जल के लिए आगे जाने लगा, तब उसने वृक्ष से बाँधे हुए और पानी से भरे जल कलश को देखा। पिंजरे में रहे तोते ने उसे कहा कि- हे सौभाग्यशाली। तुम इसमें रहे जल को पीओ। मैं जल-पात्र के स्वामी को नहीं कहूँगा। इस प्रकार से सुनकर उसने कहा कि- प्यास से पीड़ित मैं प्राणों को छोड़ दूँगा। वैं तो अनेक भव में प्राप्त हुए हैं और गये हैं। परंतु मैं अदत्त को ग्रहण नहीं करूँगा। क्योंकि हास्य से अथवा रोष से छल कर जो अदत्त को ग्रहण करता है, वह उसके फल को भोगता है। जैसे कि-

वासुदेव की पत्नी रुक्मिणी ने वन में मयूरी के अंडे को हाथ में लेकर उसे गुप्त रीति से छुपाया। सर्वत्र भ्रमण करती हुई उस मयूरी को देखकर सोलह घटिका के अंत में देवी ने उसे वापिस रखा। देवी के हाथ के कुंकुम से लाल हुए अंडे को देखकर मयूरी ने कितने काल तक उसका सेवन नहीं किया। उतने में मेघ के आगमन में लालपने के दूर हो जाने से उसने सेवना की। उस कर्म से सोलह वर्ष पर्यंत पुत्र का वियोग हुआ। इस प्रकार से हास्य से अदत्त ग्रहण में फल हैं। रोष से देवानन्दा और त्रिशला का दृष्टांत हैं। इसलिए हे तोते! मैं स्वामी-अदत्त को ग्रहण नहीं करता हूँ। उसकी व्रत की दृढता से संतुष्ट हुए तोते ने स्व का संवरण कर और दिव्य देहवाला होकर इस प्रकार से कहा कि-

मैं सूर्य नामक विद्याधर हूँ। तूने गुरु के समीप में व्रत को ग्रहण किया था, उससे आश्चर्य से युक्त हुए मैंने निधि के दर्शन आदि

से तुम्हारी परीक्षा की। इस प्रकार से कहकर उसके आगे बहुत धन रखा। सार्थपति ने कहा कि- शुद्ध व्यवहार से अर्जन किया हुआ धन मेरे सुख के लिए है, इससे मुझे क्या प्रयोजन? परंतु तुम ही मेरे धन को ग्रहण करो, क्योंकि मैंने यह स्वीकार किया था जो मेरे अश्व को जीवित करेगा, उसे मैं अपना धन दूँगा। इसलिए यह तेरा ही है। विद्याधर ने कहा कि- मैंने तो तुझे माया ही दिखायी थी। मैं दान के लिए कल्पित कीये हुए धन को कैसे ग्रहण करूँ? हे सार्थपति! हम दोनों की लक्ष्मी का स्थान कौन होगा? उसने कहा कि- धर्म ही बड़ा स्थान है। इसलिए जीर्णोद्धार आदि से हम दोनों लक्ष्मी को कृतार्थ करें। पश्चात् दोनों ने भी वैसा किया। सार्थवाह साथ के साथ गृह में आया। क्रम से मुनिधर्म का स्वीकार कर आयुष्य के पूर्ण हो जाने पर मरकर तुम लक्ष्मीपुञ्ज हुए हो। मैं भी व्यंतरदेव हुआ हूँ। तुम्हारी महिमा से और तुम्हारे भाग्य से प्रेरित हुआ मैं गर्भ दिन से आज तक रत्नादि की वृष्टि कर रहा हूँ।

इस प्रकार से वचन को सुनकर और जाति-स्मृति को प्राप्त कर लक्ष्मीपुञ्ज ने दीक्षा ग्रहण की। क्रम से अच्युत में जाकर और मनुष्यत्व को प्राप्त कर मोक्ष रूपी लक्ष्मी को प्राप्त की।

जिस स्थैर्य भाव से एक नियम भी धारण किया हो, उसे श्रेष्ठ धन, स्वर्ण, सुख की ऋद्धि होती है। पर धन के परिहार से सार्थवाह देवों को अर्चनीय हुआ था। उसके समान ही भव्य-प्राणी इस व्रत में सुंदर प्रयत्न करें।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में चौरासीवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।



पचासीवाँ व्याख्यान

अब स्व-दार संतोष लक्षणवाले व्रत को कहते हैं कि-

स्व पत्नीयों में संतोष और दूसरी स्त्रियों का त्याग, यह गृहस्थों का चतुर्थ अणुव्रत प्रख्यात हैं ।

गृहस्थ स्व परिणीत स्त्रियों में संतोष और स्थिरता को धारण करे और दूसरी स्त्रियों का- स्व से व्यतिरिक्त मनुष्य, देव और तिर्यचों की परिणीत, असंगृहीत, अविधवादि जो स्त्रियाँ हैं, उनके त्याग की- विरति को धारण करें । यद्यपि कोई अपरिगृहीत देवीयाँ और तिर्यची किसी संग्रह करनेवाले और विवाह करनेवाले के अभाव से वेश्या के समान ही होती है, तथापि पर जातीय को भोग्यत्व के कारण से पर- दारा ही है, इसलिए उनका वर्जन करना चाहिए । स्व-दार संतोषी को अन्य सभी पर-दारा ही हैं । दार शब्द के उपलक्षण से स्त्री प्रति स्व-पति से व्यतिरिक्त सर्व पुरुषों के वर्जन को भी जानें, यह भावार्थ हैं । इस प्रकार से जिनेश्वर गृहस्थों के उस चतुर्थ अणुव्रत-मैथुन विरमण को कहते हैं, यह अर्थ है ।

वह मैथुन दो प्रकार से है- सूक्ष्म और स्थूल । काम के उदय से इन्द्रियों का जो अल्प विकार है, वह सूक्ष्म है । मन-वचन और काया से औदारिक स्त्रियों का जो संभोग है, वह स्थूल हैं । तथा मैथुन का त्याग रूप ब्रह्मचर्य दो प्रकार से है- सर्व से और देश से । वहाँ सर्व से अशक्त उपासक देश से स्वीकार करे, यह भाव है । इस व्रत के विषय में यह प्रबंध है-

अहो ! नागिल के समान विपदाओं को नष्ट करनेवाला और मुक्ति को संमुख करनेवाला कारण ऐसा ब्रह्म व्रत गाया जाता है ।

भोजपुर नगर में श्रीसर्वज्ञ धर्म में रक्त लक्ष्मण नामक व्यापारी था । नवतत्त्व को जाननेवाली उसकी नन्दा नामक पुत्री थी ।

एक दिन उसने वर के लिए इच्छुक हुए पिता से कहा कि-

निरंजन, बत्ती से मुक्त, तेल के व्यय और कंपन से रहित दीपक को जो निरंतर धारण करता है, वह मेरा पति हो ।

इस प्रकार से उसके वचन को सुनकर और दुष्कर अभिग्रह को जानकर चिन्तार्त हुए श्रेष्ठी ने उस वार्ता को नगर में उद्घोषणा की । उस वार्ता को सुनकर नागिल द्युतकार ने यक्ष के सान्निध्य से ऐसा दीप कराया । उसके गृह में दीप को देखकर आनंदित हुए श्रेष्ठी ने नागिल को स्व पुत्री दी । उसे व्यसन में आसक्त हुआ जानकर पुत्री अत्यंत दुःखी हुई । विवाह करने पर भी वह द्यूत को नहीं छोड़ रहा था और उससे नित्य द्रव्य व्यय हो रहा था । पुत्री के स्नेह से श्रेष्ठी नित्य उसे पूर्ण करता था । नन्दा तो पति के साथ मन के बिना ही परिचरण करती । उसने एक बार सोचा कि- अहो ! इसका गांभीर्य, जो बड़ा अपराध करने पर भी यह मुझ पर क्रोध नहीं कर रही है ।

एक दिन उसने भक्ति पूर्वक ज्ञानी से पूछा कि- हे मुनि ! शुद्ध आशयवाली भी मेरी प्रिया मुझे चित्त में धारण नहीं करती है । उसे योग्य जानकर मुनि ने अंतरंग दीपक के स्वरूप को कहा कि-

अब्जन-माया कही जाती है और बत्ती-नव तत्त्व की अस्थिति है । तेल का व्यय- प्रेम-भंग है और कंपन-सम्यक्त्व का खंडन है । उनसे रहित विवेक को जो धारण करता है, वह मेरा पति हो । इस प्रकार उसने दीपक के बहाने से कहा था, परंतु किसी ने उससे अर्थ नहीं पूछा ।

तुमने तो धूर्तपने से यक्ष की आराधना कर पूर्व में कहे दीपक को किया । श्रेष्ठी ने तुझे स्व पुत्री दी । तुम व्यसनी हो और यह शीलादि गुणों से युक्त है, उससे तुझे लेश-मात्र भी चित्त में धारण नहीं करती है । यदि तुम व्रतों को अंगीकार करोगे, तो तुम्हारा इच्छित

होगा । नागिल ने पूछा कि- हे भगवन् ! सर्व धर्मों में कौन-सा धर्म श्रेष्ठ है ? मुनि ने कहा कि- हे भद्र ! जिनेन्द्रों के द्वारा कहा हुआ सम्यक्त्व पूर्वक शीलादि धर्म प्रशंसनीय है । पूज्यों के द्वारा कहा गया है कि-

जिनके निज शील वहन करने रूप घनसार के परिमल से यह संपूर्ण भू-वलय सुरभित किया जाता है, उन पुरुषों को बार-बार नमस्कार हो । और यह भी है कि-

एक क्षण के लिए भावना और दान है तथा तप भी नियति स्थितिवाला है, किन्तु यावज्जीव शील का परिपालन तो दुष्कर है ।

कलहकारी, जन-मारक और सावद्य योग में निरत नारद भी जो, सिद्ध-गति को प्राप्त करता है, वह शील का ही माहात्म्य है ।

इत्यादि गुरु के वाक्य से प्रतिबोधित हुआ सम्यक्त्व, शील और विवेक रूपी दीपक का स्वीकार कर उस दिन से लेकर वह श्रावक कृत्य को करने लगा । एक दिन नन्दा ने उसे कहा कि- हे स्वामी ! आपने अच्छा किया है । आत्मा को विवेक में स्थापित किया है, क्योंकि-

जिनेश्वरों की पूजा, मुनियों को दान, साधार्मिकों का वात्सल्य, शील और परोपकार- ये विवेक रूपी वृक्ष के पल्लव हैं ।

उसने कहा- आत्मा के लिए विवेक से धर्म करना चाहिए, क्योंकि-

सदा ही प्राज्ञ पुरुष विवेक रूपी अंकुश की शंका से दुःखित है और अजाओं के यूथ-पति के समान ही मूर्ख सदा हँसा जाता है ।

यह सुनकर आनंदित हुई नन्दा उसकी भाव से सेवा करने लगी ।

एक बार नन्दा पिता के घर गयी । नागिल रात्रि के समय चन्द्र

की ज्योत्स्ना में सोया हुआ था । प्रिय से वियोगिनी और उसके रूप से मोहित हुई विद्याधर पुत्री ने उसे देखकर कहा कि- हे स्वामी ! तुम मुझे स्त्रीपने से स्वीकार करो । मैं तुमको अपूर्व दो विद्याएँ दूँगी । मेरे लावण्य आदि को देखो और मेरे वचन को अन्यथा मत करो । इस प्रकार से कहकर कंपायमान शरीरवाली जब वह उसके चरणों में गिरी, तब नागिल ने अग्नि से दहन कीये जाते हुए के समान ही अपने दोनों पैरों को खींच लीये । क्रोधित हुई उसने लोह-गोल की विकुर्वणा कर उसे इस प्रकार से कहा कि- तुम मुझे भजो, नहीं तो मैं तुझे भस्मसात् करूँगी । निर्भय उसने सोचा कि-

दशावस्थावाला दशग्रीव(रावण) जो देव-दानवों को दुर्जय और कंदर्प तथा राक्षसों का स्वामी था, वह भी शील रूपी अस्त्र से ही साधा गया था ।

पूत्कार करती हुई उसने जलते हुए लोह-गोल को उसके सिर पर गिराया, उतने में नागिल ने नमस्कार का स्मरण करते हुए गोलक को टुकड़ों में किया । लज्जा से अदृश्य होकर और क्षण में नन्दा का स्वरूप कर तथा दासी के द्वारा उद्घाटित कीये हुए गृह के द्वार से आकर वह इस प्रकार से कहने लगी कि- हे स्वामी ! मैं आपके बिना पिता के घर में रति को प्राप्त नहीं कर रही हूँ । उसने सोचा कि- वह नन्दा स्व पति में संतोष नियमवाली है । निश्चय से उसकी यह चेष्टा नहीं है । रूप तो वैसा है, परंतु परिणाम वैसे नहीं है । इसलिए परीक्षा के बिना विश्वास उचित नहीं है । इस प्रकार से विचार कर उसने कहा कि- हे प्रिये ! यदि तुम सत्य नन्दा हो तो मेरे समीप में अस्खलित गति से आओ ! जब वह विद्याधरी आने लगी, तब वह स्खलित हुई । धर्म की महिमा से सत्य उसके उस कपट को देखकर कपटान्तर से उसने शील भंग के भय से लोच किया । यक्ष के दीपक ने कहा कि- तुम स्व

घर जाओ । यक्ष ने कहा कि- मैं यावज्जीव तुम्हारी सेवा करूँगा । मेरे तेज से उद्योतिका (उज्झैई) नहीं होगी । सूर्योदय होने पर नन्दा सहित गुरु के पास मैं व्रत को प्राप्त कर और आगे स्थित यक्ष दीपक से आश्चर्य सहित पृथ्वी के ऊपर विहार करते हुए उसने सर्व संयम का परि-पालन कर तथा हरिवर्ष में युगलियों में जन्म लेकर और वहाँ से अनुक्रम से मनुष्यत्व को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त की ।

जिसने द्रव्य दीपक से शुभ भाव दीप को स्व चित्त में धारण किया था और स्व-दार संतोष की दृढ़ प्रतिज्ञावाला वह यह नागिल है, जिसने विद्याधरी से भी कंपन को प्राप्त नहीं किया था ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में पचासीवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



छियासीवाँ व्याख्यान

पुनः इस व्रत की स्तुति की जाती है-

जो गृही स्व पत्नीयों में संतुष्ट है और पर-दाराओं से पराङ्मुख है, वह ब्रह्मचारीत्व से अतिकल्प कहा जाता है ।

ब्रह्मचर्य में रत गृही मुनि के समान कहा जाता है । इस विषय में यह प्रबन्ध है-

श्रीपुर में दो भाई कुमारदेव और चन्द्र नामक राज-पुत्र गुरु की देशना को सुनने के लिए उद्यान में गये । मुनि ने कहा-

जो करोड़ स्वर्ण देता है अथवा स्वर्ण से जिन-भवन को कराता है, उसे उतना पुण्य नहीं है, जितना कि ब्रह्मचर्य को धारण करने से होता है ।

तथा कोई जीव शीलवती के समान संकट में भी स्व-शील को नहीं छोड़ते है, जैसे कि-

लक्ष्मीपुर में समुद्रदत्त श्रेष्ठी स्व प्रिया को गृह में छोड़कर सोमभूति ब्राह्मण के साथ पर-देश गया । कितने ही दिनों के पश्चात् ब्राह्मण श्रेष्ठी के दीये हुए पत्र को लेकर स्व गृह में आया । अपने पति के द्वारा भेजे गये पत्र को लेने के लिए शीलवती ब्राह्मण के घर पर गयी । उसे देखकर कामातुर हुए ब्राह्मण ने इस प्रकार से कहा कि- हे कृशोदरी ! तुम मेरे साथ तब तक क्रीड़ा करो, पश्चात् मैं तुझे पति का लेखादि अर्पण करूँगा । उस चतुर स्त्री ने कहा कि- रात्रि के प्रथम प्रहर में तुम मेरे गृह में आना । इस प्रकार से कहकर और जाकर के सेनापति से कहा कि- हे देव ! मेरे पति के लेख को अर्पण नहीं कर रहा है । यह सुनकर और उसे देखकर विकल हुए उसने भी कहा कि- हे सुभ्रू ! तब तक तुम मेरा कहा करो, पश्चात् मैं उसे दिलाऊँगा । इस प्रकार से कहने पर स्व-व्रत के भंग से भय-भीत वह उसे द्वितीय प्रहर का कहकर मंत्री के समीप में गयी । उसके वैसा ही कहने पर तृतीय प्रहर का कहकर राजा के समीप गयी । राजा के द्वारा वैसे ही प्रार्थना करने पर चौथे प्रहर का निवेदन कर, आप मुझे चौथे प्रहर में बुलाना इस प्रकार से पति की माता से संकेत कर वह सायंकाल में रिक्त ऐसे स्व आवास में स्थित हुई । उसी प्रहर में आये हुए ब्राह्मण को स्नान, पान आदि से प्रथम प्रहर को व्यतीत किया ।

इस ओर सेनापति आया । उसके शब्द से शरीर से काँपते हुए ब्राह्मण को मञ्जूषा के कोणे में डाला । इस प्रकार से चारों को भी डाला । प्रभात होने पर रोती हुई शीलवती को कुटुंब ने कहा- तुम क्यों रो रही हो ? उसने भी कहा- कल मेरे पति की अक्षेम वार्त्ता आयी थी । यह सुनकर उसके स्वजनों ने स्व-स्व गृहों में राजा,

अमात्य और सेनापति को नहीं देखते हुए राज-पुत्र से विज्ञप्ति की कि- हे देव ! समुद्रदत्त श्रेष्ठी का पुत्र पर-देश में मृत हुआ है, उससे आप उसके धन को ग्रहण करो । वह भी वहाँ गया और अन्य कुछ-भी नहीं देखते हुए दृढ़ तरह से ताला दीये हुए उस मञ्जूषा को लेकर जब वह खोलने लगा, तब वें चारों भी उस मञ्जूषा से बाहर निकलें । उस ब्राह्मण को देश से निष्कासित कर राजा ने शीलवती का सत्कार कर प्रशंसा की ।

इत्यादि गुरु के पास में उन दोनों ने धर्म को सुना । कुमारदेव ने स्व-दार संतोष व्रत को ग्रहण किया । चन्द्र दीक्षा को प्राप्त कर शुद्ध आहार को ग्रहण करता हुआ तपस्वी हुआ । एक बार विहार करते हुए श्रीपुर के समीप देवकुल में आकर स्थित हुए । तब राजा वंदन करने गया । रानी ने- दिवस में चन्द्र यति को वंदन कर मैं भोजन करूँगी, यह अभिग्रह लिया । प्रभात में जब वह मुनि के वंदन के लिए निकली, तब बीच में नदी, ऊपर से बादलों की वृष्टि से जल से पूर्ण हुई । यह देखकर खिन्न हुई रानी के बारे में सुनकर राजा ने कहा कि- नदी के तट के ऊपर जाकर तुम इस प्रकार से कहना-

हे देवी नदी ! यदि देवर के व्रत दिन से आरंभ कर मेरा भर्ता व्रतचारी है तो शीघ्र से तुम मुझे मार्ग दो ।

रानी ने सोचा कि- मैं पति के शील संबंध को जानती हूँ, परंतु वहाँ सर्व जाना जायगा । मैं अब पति के वाक्य को करती हूँ । पति की आज्ञा में संशय से पतिव्रतत्व का खंडन होगा, क्योंकि-

पति के आदेश में संशय करती हुई सती, राजा के आदेश में संशय करता हुआ सैनिक, गुरु के आदेश में संशय करता हुआ शिष्य और पिता के आदेश में संशय करता हुआ पुत्र अपने व्रत को खंडित करता है ।

इस प्रकार से सोचकर रानी नदी के समीप में गयी । जब उसने विनय से पति के द्वारा कहे हुए को कहा, तब नदी ने उसे मार्ग दिया । देवकुल में जाकर और देवर को नमस्कार कर उसने धर्म को सुना । तब मुनि ने पूछा- नदी ने तुम्हें कैसे मार्ग दिया ? उसके द्वारा यथा-स्वरूप कहने पर मुनि ने कहा कि- सुनो, मेरे साथ व्रत की आकांक्षावाला मेरा भाई लोगों की अनुग्रह की इच्छा से राज्य और भोगों का अनुभव करता हुआ भी व्यवहार से, निश्चय से ब्रह्मचारी ही है, क्योंकि-

कीचड़ में कमल के समान ही इस प्रकार से निर्लेप मनवाले राजा को गृहवास में भी रहते हुए ब्रह्मचारिता घटित होती है ।

रानी ने वन के एक देश में स्व भोजन के लिए साथ में लाएँ शुद्ध आहार से देवर को प्रतिलाभित कर स्वयं ने भोजन किया । वापिस जाने की इच्छावाली उसने मुनि से पूछा कि- मैं नदी को कैसे पार उतरूँ ? मुनि ने कहा कि-

तुम नदी देवी से कहना कि यदि यह मुनि व्रत से लेकर नित्य ही उपवास का आचरण करते हो तो तुम मुझे मार्ग दो । पुनः विस्मय को प्राप्त हुई रानी नदी के तट पर गयी । मुनि के वाक्य को सुनाकर और नदी को पारकर रानी गृह गयी ।

राजा के समीप में जाकर और पूर्व में हुए वृत्तांत का निवेदन कर रानी ने पूछा कि- हे स्वामी ! आज मैंने पारणा कराया है, कैसे वें मुनि उपवासी हो ? राजा ने कहा कि- हे देवी ! तुम आगम के वाक्य को सुनो, जैसे कि-

दोष रहित आहार से साधुओं को नित्य ही उपवास है, फिर भी वें उत्तर-गुणों की वृद्धि के लिए उपवास की इच्छा करते हैं । धर्म के लिए नहीं कीये और नहीं कराये शुद्ध आहार का भोजन करनेवाले,

मुनि को नित्य ही उपवास का फल कहा गया है ।

इत्यादि वचन से स्व-पति और देवर के माहात्म्य को देखकर उसने तीनों प्रकार से शीलादि धर्म को स्वीकार किया ।

शील व्रतादि से युक्त मनुष्यों की स्तुति से नदी ने राज-प्रिया को मार्ग दिया था । यदि उसे स्व हृदय में धारण करें तो कर्म रूपी समुद्र उस अक्षर मोक्ष-मार्ग को भी दे ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में छियासीवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



सत्तासीवाँ व्याख्यान

इस व्रत में भी पाँच अतिचारों का वर्जन करना चाहिए, वें इस प्रकार से हैं -

इत्तरात्तागम, अनात्तागति, परविवाहन, मदनात्याग्रह और अनंगक्रीड़ाये, ब्रह्मचर्य व्रत में अतिचार कहें गये हैं ।

इत्तरा-प्रति पुरुष के प्रति गमन करने की स्वभाववाली, इसका अर्थ वेश्या है । वह आत्ता-ग्रहण की गयी हो, भाड़ा के प्रदान आदि से किसी काल तक संगृहीत की गयी हो । अथवा इत्तर काल तक आत्ता-ग्रहण की गयी । उसका गम-आसेवन है । यहाँ पर यह भावना है कि- भाड़े के प्रदान से इत्तर काल तक स्वीकार के द्वारा स्व पत्नी की गयी वेश्या का सेवन करनेवाले को स्वबुद्धि की कल्पना से स्व-दारत्व से व्रत के सापेक्षत्व के कारण से भंग नहीं है और अल्पकाल के परिग्रह से वस्तुतः अन्य स्त्री होने से भंग है, इस प्रकार से यह प्रथम अतिचार है ।

अनात्ता-अपरिगृहीता, वेश्या, स्वैरिणी, प्रोषित-भर्तृका-जिसका स्वामी पर-देश गया हो अथवा-जिसका नाथ नहीं हो, उसमें गति-आसेवन, यह पर-स्त्री नहीं है, इस प्रकार की बुद्धि से अथवा अनाभोग आदि से, इस प्रकार से यह द्वितीय अतिचार है ।

तथा कन्या दान के फल की इच्छा से अथवा संबंध आदि से दूसरों के संतानों का विवाहन-परिणयन का विधान वह पर-विवाह करण हैं । स्व संतानों में भी संख्या का अभिग्रह न्यायकारी है । कृष्ण और चेटक राजा का स्व संतानों में भी जो विवाह का नियम सुना जाता है, वह चिन्तक के अंतर के असद्भाव में ही देखा जाता है, इस प्रकार से यह तृतीय अतिचार है ।

तथा मदन में-काम में, अत्याग्रह-तीव्रानुराग, इस प्रकार से यह चौथा अतिचार है ।

अनंग-काम, उसकी प्रधानतावाली क्रीड़ा । पर-दाराओं में होंठ आदि के चुम्बन को करनेवाले को अनंग-क्रीड़ा होती है अथवा वात्स्यायनादि के द्वारा कहे हुए चौरासी करणों से आसेवन, इस प्रकार से यह पञ्चम अतिचार है ।

ब्रह्मचर्य व्रत में इन अतिचारों का त्याग करना चाहिए । इस विषय में रोहिणी का उदाहरण है-

पाटलीपुर में श्रीनन्द राजा शासन कर रहा था । वहाँ धनावह श्रेष्ठी था । उसकी प्रिया रोहिणी सुशीला थी । एक दिन श्रेष्ठी समुद्र की यात्रा पर गया । राजा ने एक बार गवाक्ष में बैठी हुई रोहिणी को देखी । उसे देखकर कामातुर हुए राजा ने वहाँ पर अपनी दासी भेजी । दासी ने कहा कि- हे रोहिणी ! तेरा पुण्य बड़ा है, जिससे कि राजा तेरे अंग के आलिंगन की अभिलाषावाला हुआ है । यह सुनकर उसने सोचा कि- अहो ! मूढ़ जन निज कुल और धर्म को भी छोड़ते हुए

लज्जित नहीं होते हैं। अब यह राजा मत्त हाथी के समान ही मेरे शील को उखाड़ देगा, इसलिए उपाय से ही इसे बोधित करना चाहिए। इस प्रकार से सोचकर उसने दासी से कहा कि- आज रात्रि के समय तुम राजा को यहाँ भेजो। दासी के वचन से आनंदित हुआ राजा उसके सदन में आया। भूमि के ऊपर दृष्टि को रखकर उसने भी अभ्युत्थान आदि से राजा की सेवा की। भोजन के समय में स्वर्ण, चाँदी, कांस्य आदि की नयी-नयी थालियों को रखकर और नूतन-नूतन वेष को धारण की हुई स्त्रियाँ सैंकड़ों की संख्या में कमरे से निकलकर थालियों में विध वर्ण और आस्वादनवाली एक रसोई को भोजन के लिए पीरोसने लगी। नयी नयी थालियों में से भी भोजन रस का आस्वादन करते हुए एक ही रस को जानकर आश्चर्य-चकित हुए राजा ने उसे कहा कि- हे मुग्धे ! इन रसों में विशेषता क्यों दिखायी नहीं दे रही है ? उसने भी कहा कि- हे राजन् ! स्वाद की एकता के कारण से विवेकी तो एक पात्र में हाथ को रखता है, जैसे कि-

स्थान और स्थगन के भेद से यदि रस में विशेषता नहीं है तो रूप, वेष आदियों के भेद से स्त्रियों में कौन-सा भेद है ?

जिस प्रकार से कोई भ्रान्ति से आकाश को अनेक चन्द्रवाला देखता है, वैसे ही काम के भ्रम से भ्रान्त हुआ कामुक स्त्रियों में मोहित होता है।

हे राजन् ! लौकिक शास्त्र में भी अब्रह्म निन्दा-पात्र है, जैसे कि लिंगपुराण में-

मास तक आहार से रहित और पारणे में कन्दमूल का भोजन करनेवाला, मन में तापसी की इच्छा करता हुआ वह भी दरवाजे में मुख आने से मृत हुआ। जैसे कि-

सेलकपुर के उद्यान में मठ में मासोपवासी तापस रहता था।

वहाँ पर एक दिन एक तापसी आयी । रात्रि में स्व शील के भंग से भय-भीत हुए तापस ने इस प्रकार से उसे शिक्षा दी- हे तापसी ! तुम रात्रि के समय मठ के दोनों कपाटों को अत्यंत दृढ़ कर सोना । रात्रि में यहाँ राक्षस आता है और वह स्त्री का भक्षण करता है । वह मेरे वचन से तुमसे आलाप करेगा, चिह्न कहेगा, परंतु तुम कपाट को उद्घाटित मत करना, उद्घाटित करोगी तो वह तुम्हारे देह को ग्रसित करेगा । इस प्रकार से कहकर तापस मठ के बाहर सोया । अर्ध रात्रि के समय उसके शरीर में काम उद्दीप्त हुआ । अनेक विलापों को कर मध्य में प्रवेश करने के लिए द्वार की मूषा के मध्य में बार-बार मुख को डालते हुए मृत हुआ । शील के अखंडन से वह देव हुआ । प्रातःकाल जागर और सभी को स्व स्वरूप कहकर उसने मैथुन का निषेध । तथा विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि-

वाणिक्य में गंगा के तट पर नन्द तापस ने बहुत वर्ष तक तप किया । एक दिन गंगा में स्नान करती हुई स्त्री को देखकर वह मोहित हुआ । उसने पीछे उसके गृह गया और उससे प्रार्थना की । स्त्री ने कहा कि- हे स्वामी ! मैं चांडाली हूँ और तुम तपस्वी हो । आपको व्रत का खंडन योग्य नहीं है । इस प्रकार से उसके वचन की अवगणना कर काम से पीड़ित हुए तापस ने उसके साथ क्रीड़ा की, पश्चात् दोनों नेत्रों को उद्घाटित कीये । पश्चात्ताप-पर हुआ शिला के ऊपर स्व सिर को टकराकर मृत हुआ, क्योंकि-

श्रीराम, राम ! मेरे जन्म और जीवन को धिक्कार हो, जिससे मैंने चिर समय तक दुश्चर तप से तप कर चांडाली के संगम को किया है । तथा मौनीन्द्र शासन में भी-

जैसे किंपाक फलों का परिणाम सुंदर नहीं है, वैसे ही भोगों हुए भोगों का परिणाम सुंदर नहीं है ।

इत्यादि वाक्य से प्रतिबोधित हुए राजा ने दुन्याय रूपी घाव का नाश करनेवाली रोहिणी से क्षमा माँगी । वह जैसे है कि-

विश्व में पद-पद पर दुराचार का उपदेश देनेवाले है लेकिन हितकारी विषय को भेंट करने के लिए विरल ही कोई होते है ।

इस प्रकार से कहकर स्व दार संतोष व्रत के साथ राजा गृह में आया । तत्पश्चात् धनावह ने भी पर-देश से धन ग्रहण कर गृह में प्रवेश किया । एक दिन दासी के मुख से राजा के आगमन की वार्ता को सुनकर उसने सोचा कि- निश्चय से इसने शील का खण्डन किया है । गुप्त रूप में आये राजा कैसे स्त्री को छोड़ सकता है ? इस प्रकार से हृदय के अंदर विकल्पों को करता हुआ रात्रि के समय निःस्नेह-पर रहा । रोहिणी के पुण्योदय से वृष्टियों के द्वारा और नदी के पूर से सर्व नगर का रोधन किया गया । दया से युक्त उसने गोपुर के ऊपर स्थित होकर और हाथ में पानी लेकर इस प्रकार से कहा कि- हे नदी! गंगा के समान यदि मेरा शील त्रिशुद्धि से है तो तुम दूर हटो । इस प्रकार के वचन को सुनकर वह पूर दृष्टि से अगोचर हुआ । सभी ने उसके शील की प्रशंसा की । स्नेह सहित धनावह ने भी उसके शील धर्म को नमस्कार किया ।

श्रीरोहिणी ने इस श्रीजिनराज धर्म की अद्भुत प्रभावना कर और मनुष्य जन्म को कृतार्थ कर अत्यंत सुकृत की प्रतिष्ठा को प्राप्त की थी ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छट्टे स्तंभ में सत्यासीवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



अदृष्टाक्षीवाँ व्याख्यान

अब ब्रह्मचर्य के ऐहिक गुण को कहते हैं कि-

जो प्राणी ज्ञानादि सर्व धर्मों का जीवन ऐसे शील का ही रक्षण करते हैं, उनकी कीर्ति लोक में नहीं समाती है ।

ज्ञान-मति आदि गुण है, वह आदि है जिनका ऐसे वे दर्शन, चारित्र आदि सर्व धर्म हैं, उनका जीवन-प्राणभूत, शील ही-ब्रह्मचर्य ही है । उसके बिना सभी धर्म व्यर्थ हैं । क्योंकि पर आगम में भी कहा हुआ है कि-

हे युधिष्ठिर ! एक रात्रि भी स्थित ब्रह्मचारी की जो गति होती है, वह हजार यज्ञों से नहीं की जा सकती है ।

जिन-अंग में तो ब्रह्मव्रती को स्त्रियों के अंग को विकार सहित देखना आदि भी नहीं कल्पता है, क्योंकि आद्य पञ्चाशक में कहा गया है-

छन्नांग के दर्शन में और स्पर्शन में तथा गो मूत्र के ग्रहण में, कुस्वप्न में और इंद्रियों के अवलोकन में सर्वत्र यतना करें ।

स्त्रियों के छन्नांग-गुप्त या ढँके हुए अंग राग के जनक है, उन्हें पास से नहीं देखना चाहिए, अथवा किसी भी प्रकार से उन्हें देखने से अथवा स्पर्श होने पर राग की बुद्धि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि-

चक्षु को गोचर में आये रूप को नहीं देखना शक्य नहीं है, किन्तु वहाँ जो राग-द्वेष है, पंडित उनका वर्जन करे ।

गाय की योनि के मर्दन से गो-मूत्र का ग्रहण भी नहीं करना चाहिए, किंतु जब वह स्वयं ही मूत्र करती है तब लेना चाहिए । पुनः आगाढ़ कार्य में योनि के मर्दन में भी आसक्ति नहीं करनी चाहिए । कुस्वप्न में- स्त्री के भोग में तत्काल ही उठकर ईरियावहि प्रतिक्रमण पूर्वक ही एक सो और आठ श्वास के प्रमाणवाले कायोत्सर्ग को

करना चाहिए । तथा इन्द्रिय-अवलोकन में और च शब्द से भाषण आदि में सर्वत्र दृष्टि को हटाने आदि रूप यतना करनी चाहिए । बहुत कहने से क्या ? जो प्राणी उस ब्रह्म व्रत की रक्षा करते हैं- पालन करते है, उनकी कीर्ति विश्व में भी नहीं समाती है, यह तात्पर्य है । इस विषय में जिनपाल का उदाहरण है और वह यह है-

चंपा नगरी में माकन्दी श्रेष्ठी था । उसकी पत्नी भद्रा थी । जिनपाल और जिनरक्षक उन दोनों के दो पुत्र थे । उन दोनों ने समुद्र में ग्यारह यात्राएँ की थी और विघ्न रहित द्रव्य का उपार्जन किया । पुनः आग्रह से निज माता-पिता को अनुज्ञापन कर और जहाज को भरकर चलें । समुद्री वायु से पर्वत से टकराकर जहाज भग्न हुआ । काष्ठ के तख्ते से वे दोनों रत्नद्वीप में गये । उन दोनों ने वहाँ वन की वापी में क्रीड़ा की । इस ओर उस द्वीप की वासिनी देवी ने आकर उन दोनों से कहा कि- मेरे साथ भोग भोगो अन्यथा इस तलवार से सिर का छेदन करूँगी । दोनों ने उसे स्वीकार किया । शुभ पुद्गलों का प्रक्षेप कर और अशुभों को छोड़कर देवी उन दोनों के साथ भोगों को भोगने लगी ।

एक दिन इक्कीस बार तक समुद्र से काष्ठादि को निकालकर निर्मल करना चाहिए, इस प्रकार से इन्द्र का आदेश आने पर देवी ने उन दोनों को इस प्रकार से शिक्षा दी कि- तुम दोनों दक्षिण वन में मत जाना क्योंकि वहाँ पर दृष्टि विष सर्प है । तुम दोनों इस महल में रहो अन्यथा अन्य वन में चले जाओ, इस प्रकार से कहकर देवी चली गयी । उन दोनों ने सोचा कि- यहाँ निषेध करने में क्या कारण है ? इस प्रकार से सोचकर वे दोनों उस वन में गये । उन्होंने बहुत हड्डियों का समूह देखा । पुनः आगे शूल पर स्थित एक पुरुष को देखकर उन दोनों ने पूछा- तुम कौन हो ? पुरुष ने कहा कि- मैं

व्यापारी हूँ । जहाज के भग्न हो जाने पर यहाँ आया था । देवता के साथ भोगों को भोग कर स्थित था । जब तुम दोनों आये तब अत्यंत छोटे अपराध में भी उसने ऐसी अवस्था की है । भय-भीत हुए उन दोनों ने सोचा कि- इसकी जो गति हुई है, वह गति हम दोनों को भी दुर्लभ नहीं है । पुनः उन दोनों ने भी उस पुरुष से पूछा कि- हम दोनों का छुटकारा कैसे होगा ? पुरुष ने कहा कि- पश्चिम दिशा में शैलक यक्ष है । पर्व तिथि में वह बड़े शब्द से कहता है कि- मैं किसे तारूँ ? मैं किसका पालन करूँ ? तुम दोनों उसके चैत्य में जाकर पूजा करना । समय प्राप्त होने पर कहना कि- हे यक्षराजा ! तुम हम दोनों का पालन करो । उसे सुनकर उन दोनों ने वैसा किया । तब यक्ष ने कहा कि- हे भद्रों ! वह व्यंतरी दुष्ट है । तुम दोनों मत डरो । तुम दोनों मेरे द्वारा विकुर्वणा कीएँ हुए अश्व के पीठ पर बैठो । इस प्रकार से करने पर वह देवता आकर के सराग और मनोहर वाणी से तुम दोनों को क्षोभित करेगी । जिसको क्षोभ होगा, उसे मैं समुद्र के जल में गिरा दूँगा । इस प्रकार से उन दोनों के स्वीकार करने पर वह यक्ष उन दोनों को स्व पीठ के ऊपर बैठाकर चला । उतने में वह देवी स्व आवास में आयी । उन दोनों को नहीं देखकर वह पीछे दौड़ी । दोनों को भी आश्रय कर राग और शोक से युक्त वचनों को कहने लगी कि-हे मुग्ध ! मुझ अबला को छोड़कर तुम दोनों का गमन योग्य नहीं हैं । तुम दोनों मेरे अपराध को क्षमा करो । इत्यादि अनेक आलापों से क्षोभित हुआ एक जिनरक्षित सराग की दृष्टि से देखने लगा । अवधि से उसके चित्त को विषयासक्त जानकर यक्ष ने उसे गिराया । देवी ने तलवार से टुकड़ों में किया । दृढ़ प्रतिज्ञाधारी जिनपाल ने तो उसके संमुख भी नहीं देखा । यक्ष ने उसे क्षेम से चंपा में छोड़ा । यक्ष स्व स्थान पर गया । जिनपाल ने इस स्वरूप को माता-पिता से कहा । वैराग्य से श्रीवीर

के पास में दीक्षा लेकर सौधर्म में गया । दो सागरोपम की आयुवाला वह च्यवकर महाविदेह में सिद्ध होगा ।

जैसे कि छठे अंग में कहा गया है इस कथा में यह तत्त्व है- भोगों की अपेक्षा करते हुए घोर संसार रूपी सागर में गिरते हैं । भोगों से निरवकांक्षावाले संसार रूपी अटवी को तैरते हैं । शैलक यक्ष के पीठ पर अध्यारोहण के समान ही दुःखित जीवों का पार गमन है, समुद्र के समान भव की परंपरा और स्व गृह में गमन के समान मोक्ष में गमन है । जैसे देवी के मोह से शैलक की पीठ से च्युत हुआ जिनरक्षित मरण को प्राप्त हुआ वैसे ही विषयों के मोह से भव रूपी समुद्र में, चारित्र से च्युत हुए के समान ही गिरता है । जैसे ही देवी से अक्षुब्ध हुए जिनपाल ने निज स्थान और श्रेष्ठ सुख को प्राप्त किया था, वैसे ही विषयों से अक्षुब्ध शुद्ध जीव मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

इस प्रकार से उपनय जानें ।

जिनरक्षित रत्ना नामक देवी में दृढ़ काम को वहन करता हुआ दोनों प्रकारों से समुद्र में गिरा । भोगों में अस्पृहता से युक्त जिनपाल परमात्मा की सभा में लक्ष्मीयों का पात्र हुआ ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में अष्टासीवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



नव्यास्त्रीवाँ व्याख्यान

अब इस व्रत के भंग में सभी व्रतों का भी भंग होता है, इसे इस प्रकार से कहते हैं-

चतुर्थ व्रत के भंग में शेष व्रतों की भी लीला से भंगता को कहते हैं, उससे दुःशीलता का त्याग करें ।

चतुर्थ व्रत के भंग में शेष चारों-प्राणातिपात आदि का भी, निश्चय ही लीला से- अक्लेश से, भंगता को जिनेश्वर कहते हैं । वह जिस प्रकार से है-

स्त्री की योनि में एक अथवा दो अथवा तीन अथवा उत्कृष्ट से लाख पृथक्त्व पर्यंत बेइंद्रियादि जो जीव उत्पन्न होते हैं, पुरुष के साथ संयोग में बाँस के दृष्टांत से और तपाये हुए लोह की सली के न्याय से उन जीवों का विनाश होता है । एक पुरुष के द्वारा भोगी हुई नारी के गर्भ में एक ही लीला में उत्कृष्ट से नव लाख पंचेंद्रिय मनुष्य उत्पन्न होते हैं । नव लाख मनुष्यों के मध्य में एक अथवा दो की समाप्ति होती है, पुनः शेष जीव तो ऐसे ही वही पर विलय को प्राप्त होते हैं ।

समाप्ति अर्थात् पूर्णता है, इस प्रकार से शास्त्र के वाक्य से यहाँ शील के भंग में प्रथम व्रत भग्न ही हुआ है तथा द्वितीय व्रत भी । स्त्रियों को सत्यवादीत्व नहीं है, जैसे कि-

वणिक, वेश्या, चोर, द्यूतकारक, पर-स्त्री गमनकारी, द्वारपाल और कौल- ये सातों ही असत्य के मंदिर हैं ।

तथा तृतीय व्रत के भंग को भी जाने । पिता आदि की अनुज्ञा से विवाहित की हुई स्त्रियों में भंग कैसे हो ? उत्तर कहते हैं कि-अब्रह्म के सेवन में तीर्थंकर, स्वामी प्रमुख अदत्त भी होता है । वहाँ जिनेन्द्रों

ने मोक्ष के इच्छुकों को सर्वथा ही अब्रह्म का निषेध किया है। स्वामी-मंडलाधिपति है। उसने भी अदत्त की अनुमति नहीं दी है। अन्य दोनों अदत्तों की स्वयं ही कल्पना करें। चौथे व्रत का भंग तो प्रकट ही है। पाँचवें परिग्रह व्रत के भंग के बिना स्त्री की भी संभावना नहीं है, यह तात्पर्य है। जैसे कि दंडकाचार में-

जो युवति का संग करता है, उसने नव वाड़ों का भंग, दर्शन का घात और सर्व व्रतों का नाश किया है।

इस प्रकार से बहुत दोषों से दूषित अब्रह्म को जानकर हे जीव ! तुम दुःशीलता का त्याग करो।

अब कोई गृहस्थ भी प्रथम वय से ही आजीवन ब्रह्मव्रत का पालन करता हो, उसे दर्शाते हैं -

किन्हीं उत्तम पुरुषों के द्वारा बाल्य काल में भी आदर किये हुए नियम का पालन किया जाता है, जैसे कि एक दंपती ने शुक्ल और कृष्ण स्व-स्व पक्षों में ब्रह्मचर्य का पालन किया था।

श्लोक में कहा हुआ यह प्रबंध है-

कच्छदेश में अर्हद्दास श्रेष्ठी था और उसकी पत्नी अर्हद्दासी थी। उन दोनों को विजय नामक पुत्र था और वह गुरु के समीप में पढ़ता था। उसने एक बार मुनि के मुख से शील के माहात्म्य को सुना। जैसे कि-

शील रूपी अलंकार को धारण करनेवालों के साथ देव नौकर के समान आचरण करते हैं, सिद्धियाँ साथ में रहती हैं और संपत्ति समीप में स्थित होती है।

इस प्रकार से सुनकर विजय ने स्व दार संतोष व्रत ग्रहण किया। स्व पत्नियों का भी शुक्ल पक्ष में सेवन न करूँ इस प्रकार से नियम ग्रहण किया। इस ओर उसी नगर में धनावह और धनश्री की

विजया नामकी पुत्री थी । एक बार उसने शील का वर्णन सुनकर स्व पति संतोष के व्रत में कृष्ण पक्ष में स्व पति का भी सेवन न करूँ इस प्रकार से अभिग्रह ग्रहण किया । घुणाक्षर के न्याय से दैव द्वारा सूत्रित और तुल्य रूपवाले उन दोनों का ही विवाह हुआ । रात्रि के समय स्व आवास के मंदिर में सोलह शृंगारों से सजी और नूतन, भव्य वस्त्र को पहनी हुई वह स्वामी के समीप में आयी । विजय ने सुंदर नेत्रोंवाली उसे कहा—

तुम मेरा हृदय, जीव, उच्छ्वास अथवा प्राण ही हो । प्रिया जन ही प्राणियों को संसार सुखों का सर्वस्व है । हे चकोर समान नेत्रोंवाली ! यदि तुम मेरी प्रिया हो तो स्वर्ग लोक के सुख से क्या ? यदि तुम मेरी प्रिया नहीं हो तो स्वर्ग लोक के सुख से क्या ?

परंतु हे शुभे ! पूर्व में मैंने तीनों प्रकार से शुक्ल पक्ष में संपूर्णतया शील को ग्रहण किया था । अब उस पक्ष के तीन दिन अवशिष्ट है, पश्चात् हम दोनों लीला का अनुभव करेंगे । इस प्रकार से सुनकर उसने अत्यंत म्लानि प्राप्त की । उसके म्लानि का कारण पूछने पर विजया ने कहा कि— हे स्वामी ! मुझे कृष्ण पक्ष का नियम है । उसे सुनकर अत्यंत ही खेदित हुए मनवाले पति को देखकर विजया ने कहा कि— हे नाथ ! आप दूसरी प्रिया से विवाह कर भोगों को भोगों । पुरुषों को बहुत प्रियाएँ होती हैं, जैसे कि वसुदेव को बहोत्तर हजार स्त्रियाँ और चक्रवर्तीयों को एक लाख और बानवें हजार स्त्रियों का अंतःपुर होता है । यह सुनकर विजय ने उसे कहा कि— हे सुशीले ! दीक्षा से निवारण कर माता-पिता ने मुझे बलात्कार से विवाहित किया है । न ही विषयों के सेवन से आयु की वृद्धि, जगत् में महत्त्व अथवा सर्व जीवों से अधिकता ही होती है । केवल ही मन में उत्सुकता मात्र होती है । क्योंकि विशेषावश्यक की वृत्ति में—

नग्न और प्रेत के समान आविष्ट हुआ शब्द करती हुई उसे आलिंगन कर सर्वांग से गाढ़ आयासित हुआ वह सुखी क्रीड़ा करता है ।

पक्षी और पशु आदि भी विषय का सेवन करते हैं । इसमें कौन-सा तत्त्व है ? तथा हे सुभ्रू ! देव के भवों में बहुत वर्षों तक अनगिनत विषयों को भोगें हैं । जैसे कि लोक प्रकाश में कहा गया है-

ऊर्ध्व देवों के विषयों की स्थिति दो हजार वर्ष होती है और ज्योतिष, वाण और भवण वासीयों को पाँच सो-पाँच सो से हीन होती है ।

हे कमल समान नेत्रोंवाली ! अन्य यह भी है कि संसार में जो माला, चंदन, स्त्री आदि पुद्गलों से उत्पन्न, विनाशी और पर संयोग से उत्पन्न सौख्य है वह मन के संकल्प से उत्पन्न होने के कारण से और औपचारिकत्व के कारण से तत्त्व से दुःख स्वरूप ही है, क्योंकि श्रीमद् जिनभद्र ने कहा है कि-

दुःख के प्रतिकार से चिकित्सा के समान विषय सुख दुःख ही है और वह उपचार से है । तथ्य के बिना उपचार नहीं होता है ।

विषय सुख दुःख ही है, दुःख का प्रतिकार-क्वाथ का पान, डंभ दान आदि चिकित्सा के समान है और वह औपचारिक सौख्य लेश-मात्र में सत्य है, पारमार्थिक सौख्य तो वस्तु के बिना नहीं होता है । आत्मीय आनन्द का रोधन करनेवाले और शाता-अशाता कर्म से उत्पन्न हुए को कौन उसे सौख्य के रूप में सूचन करता है ? कहा भी है कि-

जिस कारण से शाता-अशाता दुःख है और उसके विरह में सुख है, उससे देह और इंद्रियों का सुख दुःख है और देह तथा इंद्रियों के अभाव में सुख है ।

परंतु हे मृगाक्षी ! मेरे मन को दुःख देनेवाले विषय में रुचि नहीं है, क्योंकि जैसे कहा है कि-

विष का और विषयों का बड़ा ही अंतर देखा जाय । उपभोग किया हुआ विष मारता है, विषय तो स्मरण से भी मारते हैं ।

इसलिए हे सुंदरी ! मुझे नित्य ही आजन्म पर्यंत भीष्म के समान तीनों प्रकार से गंगा के समान पवित्र शील हो । परंतु हम दोनों यह स्वरूप माता-पिता आदि को भी ज्ञापन न करें । यदि कोई इस वृत्तांत को जानेगा, तो अवश्य ही हम दोनों दीक्षा ग्रहण करेंगे, इस प्रकार से निश्चय कर दें दोनों दंपती स्व जीवन के समान शील को धारण करने लगे । रात्रि में एक ही शयन में सोये हुए उन दोनों को कोई काम का उन्माद नहीं हुआ । सदा रात्रि में शील गुण का ही वर्णन करते थे । इस प्रकार से भाव चारित्र के पात्र उन दोनों का समय व्यतीत हो रहा था ।

इस अवसर पर चंपा में विमल नामक केवली साधु ने समवसरण किया । उनकी देशना को सुनकर जिनदास श्रेष्ठी ने निज अभिग्रह कहा कि- हे भगवन् ! मैं चौरासी हजार साधुओं को पारणा कराऊँ । मेरा यह मनोरथ कब सफल होगा ? इस प्रकार से सुनकर केवली ने कहा कि- एक ही साथ में इतने मुमुक्षुओं का संगम कैसे होगा ? दैव से कहीं पर इतने साधुओं के मिल जाने पर भी आकाश के पुष्प के समान शुद्ध अन्न-पान की सामग्री दुर्लभ ही होगी । इसलिए तुम कच्छ देश में स्थित विजया-विजय श्रेष्ठी दंपती की भोजन आदि से भक्ति करो । उससे बहुत पुण्य होगा, क्योंकि-

चौरासी हजार साधुओं के पारणे से जो पुण्य होता है, वह कृष्ण और शुक्ल पक्षों में शील का पालन करनेवाले प्रिया और पति को भोजन से भक्ति करने से होता है ।

यह सुनकर जिनदास ने उस स्वरूप को पूछा । केवली ने उन दोनों का वृत्तांत कहा । भक्ति से भरे हुए जिनदास ने वहाँ जाकर वचनों से अगोचर उन दोनों की भक्ति की । वहाँ उसने नागरिकों को उन दोनों के दुश्चर चरित्र के बारे में कहा । तब माता-पिता आदि ने उसे जाना । मनोरथ के पूर्ण हो जाने पर वह श्रावक स्व गृह चला गया । प्रतिज्ञा के पूर्ण हो जाने पर दीक्षा को ग्रहण कर वे दोनों दंपती मुक्ति के पात्र हुए ।

निश्चय से कोई शील का प्रभाव है जिससे वे दोनों दंपती मुनि से प्रशंसनीय हुए थे । उससे सुख की इच्छावाले सदा ही सौभाग्य के हेतु और भव दुःख का वारण करनेवाले उस ब्रह्मचर्य को धारण करें ।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में नव्यासीवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ ।



नव्वेवाँ व्याख्यान

अब स्त्रियों में अनेक दोषों को जानकर व्रत को स्वीकार करना चाहिए, इसे इस प्रकार से कहते हैं कि-

कापट्य मूलवाली स्त्रियों में बुद्धिमान् पुरुष विश्वास न करे । वह अन्य से कहती है, अन्य को ग्रहण करती है (अन्य को करती है) और उसे कदापि विषय में तृप्ति नहीं है ।

केवल ही स्त्रियों को रति में कदापि तृप्ति नहीं होती है, उसे कहते हैं कि-

स्त्रियों का आहार द्विगुणा, उनमें लज्जा चार गुणी, छह गुणा व्यवसाय और आठ गुणा काम कहा गया है ।

इस श्लोक का भावार्थ भर्तृहरि राजा के वृत्तांत से जाने और वह यह है-

अवन्ती में भर्तृहरि राजा था । वहाँ पर निर्धनी मुकुन्द ब्राह्मण ने लक्ष्मी के लिए हरसिद्धि की आराधना की । उसके अल्प पुण्य को जानकर संतुष्ट हुई देवता ने उसे अमरफल दिया । उसे कहा कि- तुम इसे ग्रहण करो । इस फल के भक्षण से बहुत जीया जाता है और नीरोगता होती है । तुम्हारा भाग्य नहीं है, इसलिए इस फल को दिया है । वह ब्राह्मण उसे घर ले जाकर खाने की इच्छावाला हुआ सोचने लगा कि- यह फल जो जगत् का आधार है, उसे दिया जाय । इस प्रकार से विचारकर राजा को दिया । उसके प्रभाव को कहकर राजा ने उसे स्व पट्टदेवी को दिया । उसने स्व उपपति महावत को उसके प्रभाव के कथन पूर्वक ही दिया । महावत ने सोचा- मुझे बहुत जीवन से क्या ? इसलिए मैं इसे अभीष्ट वेश्या को देता हूँ । पश्चात् उसने वेश्या को वह फल दिया । वेश्या ने सोचा- मुझे इसके भक्षण से क्या ? मैं प्रजानाथ को देती हूँ । इस प्रकार से विचारकर भर्तृहरि को दिया । उस फल को पहचान कर भर्तृहरि ने पूछा- यह कहाँ से प्राप्त हुआ है ? वेश्या ने राज-दंड के भय से सत्य कहा । पश्चात् महावत से पूछा । उसने भी ताड़न के भय से रानी का नाम कहा । राजा ने उसे पूछा । भय से विह्वल हुई वह कुछ-भी उत्तर देने में समर्थ नहीं हुई । उसे अवध्य मानकर और संसार की असारता को धारण करते हुए कहा-

जिसका मैं सतत चिन्तन करता हूँ, वह मुझ पर विरक्त है और वह भी अन्य जन को चाहती है तथा वह जन भी अन्य में आसक्त है । हमारे लिए कोई अन्य ही स्त्री परिताप कर रही है । उस स्त्री को, उस पुरुष को, काम को, इस स्त्री को और मुझको धिक्कार है ।

संमोहित करती है, मद से युक्त करती है, विडंबित करती है,

निर्भर्त्सना करती है, क्रीड़ा करती है और विषाद से युक्त करती है । मनुष्यों के दया से युक्त हृदय में प्रवेश कर ये वाम-नयनाएँ(स्त्रियाँ) क्या-क्या आचरण नहीं करती ?

इस प्रकार से सोचकर और तृण के समान मालव के राज्य का त्याग कर राजा ने व्रत ग्रहण किया । योगी सन्यास का व्रत लेकर पृथ्वी के ऊपर पर्यटन करते हुए किसी नगर के उद्यान में एक तापस के स्थल पर गये । तापस को नमस्कार कर आगे बैठे । उसके अनादर करने पर राजा ने सोचा कि- निश्चय ही यह मायावी है, मैं गुप्त रीति से इसकी माया को देखता हूँ । राजा रहस्य में स्थित हुआ । रात्रि में उस वनवासी योगी ने स्व शिखा से एक डिब्बी निकालकर उसे खोली और मध्य में जलांजलि डाली । उसके प्रभाव से डिब्बी में से एक सुरुपवाली स्त्री बाहर निकली । उसके साथ भोगों को भोग कर वह सो गया । स्त्री ने स्व चोटी में रखी हुई डिब्बी में से मंत्रित कीये हुए जलांजलि के छोटने से देवकुमार को प्रकटित किया । उसके साथ विलास कर पुनः उसे डिब्बी में छिपाकर उस डिब्बी को अपनी चोटी में स्थापित की । निद्रा रहित हुए योगी ने भी वैसा किया । उस सर्व चरित्र को देखकर राजा ने सोचा कि-

पृथ्वी पर कोई मत्त हाथी कुंभ के दलन में शूर है, कोई प्रचंड सिंह के वध में भी दक्ष होते हैं, किंतु मैं बलवंतों के आगे बल से कहता हूँ कि काम के गर्व को दलन करने में विरल ही मनुष्य होते हैं ।

इस प्रकार से विचार कर वह श्रीपुर के उद्यान में निद्रा से वृक्ष के नीचे सोया । इस ओर उस नगर का अपुत्रक राजा मृत हुआ । मंत्रियों ने पाँच दिव्य कीये । वे राजा के समीप में आये । राजा ने उठकर उन मंत्री आदियों के आगे कहा- मुझे राज्य से प्रयोजन नहीं हैं । तब सभी नगरवासियों ने कहा कि- कृपा से आप हमको जीवित

दान दो । उस प्रार्थना का अंगीकार कर राजा न्याय से उस राज्य का पालन करने लगा । सभी ने बल पूर्वक पूर्व राजा की पुत्री के साथ उसका विवाह कराया ।

एक बार गवाक्ष में बैठी हुई उस नवयौवना ने भी एक श्रेष्ठी के पुत्र को देखकर नेत्र रूपी बाण उसके हृदय पर मारा । वह भी रानी से मिलने के लिए उत्सुक हुआ एक पुरुष प्रमाणवाली, हजार दीपकों की समूहवाली और मध्य में रिक्त ऐसी दीपिका कराकर स्वयं ही उसके मध्य में स्थित हुआ । संकेतित पुरुषों ने राजा को उस दीपिका को भेंट दिया । राजा ने उसे स्व अंतःपुर में रखाया । समय को प्राप्त कर और उसके मध्य से निकलकर श्रेष्ठी के पुत्र ने रानी के साथ विषयों को भोग कर पुनः उसी के मध्य में प्रवेश किया ।

एक दिन उस पुरुष के वस्त्र से धागा दीपिका की काष्ठ की सन्धि से बाहर निकला । राजा उसे देखने लगा । जैसे-जैसे वह उस धागे को खींचता है, वैसे-वैसे वृद्धि को प्राप्त होते उस धागे को देखकर और उसके मध्य में जार पुरुष का निश्चय कर वह मौन को धारण कर स्थित हुआ । उसके बाद स्व गृह में पट्ट देवी के हाथ से रसोई कराकर उसने योगी को भोजन के लिए निमंत्रित किया । छह पत्रों के समूह को स्थापित कर राजा ने भोजन के लिए बैठते हुए योगी से कहा कि- हे स्वामी ! अपनी शिखा में स्थित डिब्बी के मध्य में से उस स्त्री को बाहर निकालो । उसने भय से वैसा ही किया । राजा ने उस स्त्री से कहा कि-पूर्व के समान तुम भी उस पुरुष को प्रकट करो । उसने भी वैसा किया । उसने स्व स्त्री से कहा कि- हे स्त्री ! इस दीपिका से तुम्हारे पति को बाहर निकालो, किसलिए उसे कारागार में डाला है ? उसके साथ भोजन करो । उसने भी राजा का कहा किया । भोजन से उनको संतोषित कर अंदर वैराग्य से युक्त राजा ने- विषयों को

धिक्कार हो, धिक्कार हो इस प्रकार से नगरवासियों के आगे उद्घोषणा कर निश्चल व्रत को ग्रहण किया। एक ही व्रत से उसने देवत्व प्राप्त किया। आज भी भर्तृहरि द्वारा कृत वैराग्य, नीति, शृंगारात्मक तीन शतकोंवाली पुस्तक लोक में प्रसिद्ध है। उनके मध्य में बहुत परमार्थ हैं।

स्त्रियों की विचेष्टाओं को देखकर कौन विरक्त चित्तवाले नहीं होते हैं? अपने अमर फल को देखकर भर्तृहरि राजा ने योग को धारण किया था।

इस प्रकार से संवत्सर के दिन परिमित उपदेश-संग्रह नामक उपदेश-प्रासाद ग्रन्थ की वृत्ति में छठे स्तंभ में नब्बेवाँ व्याख्यान संपूर्ण हुआ।

यह छठा स्तंभ समाप्त हुआ।



- (१) सद्गुरु द्वारा प्रदत्त बाह्य से दुःखदायक आज्ञा भी अंत में सुखदायक है, ऐसा जो माने, पाले वही शिष्य ।
- (२) सद्गुरु प्रकाश तो कुगुरु अंधकार ।
- (३) सद्गुरु के नाम का जाप.. खपावे भवोभव के पाप...
- (४) भौतिक सुखार्थ सद्गुरु की सेवा उपासना-आत्मा विडंबना ।
- (५) अध्यात्म में प्रवेश करने के लिए सद्गुरु रुपी द्वार का स्वीकार ।
- (६) सद्गुरु रुपी नाव में बैठकर सद्गुरु की निन्दा रुपी छिद्र करनेवाला समुद्र के तल में जावे इसमें कोई संदेह नहीं
- (७) सद्गुरु रुपी अंधकार के नाशक सद्गुरु है ।
- (८) सद्गुरु की निश्रा बिना की धर्म क्रिया पाप क्रिया है ।
- (९) कर्म के साथ युद्ध में पीठ बल सद्गुरु का ही उपयोगी ।

- (१) कषाय की आग में से बाहर निकलना है जिसे उसे अपना हाथ सद्गुरु को पकड़ाना होगा ।
- (२) जो जो क्रिया आत्मोपकारक करनी है.. वह वह क्रिया सद्गुरु की ईच्छानुसार ही ।
- (३) जिनवाणी का श्रवण सद्गुरु के मुख से ही..
- (४) सद्गुरु के वचन सुनकर अनादर करने वाला शिष्य अपनी आत्मा का अनादर करता है ।
- (५) सद्गुरु के वेश, वाणी और वर्तन में समानता होगी ।
- (६) सद्गुरु का विनय, विवेक, आत्मोत्थान का मूल है ।
- (७) विकारकी आग बुझानी है तो सद्गुरु की कृपा रुप जल को ग्रहण करो
- (८) सद्गुरु की सेवा में प्रमाद, मोहराजा के घर में आनंद।